हिन्दी साहित्य के इतिहास पर कुछ नोट्स

राजीव रंजन बंधु
रसाल सिंह

के.एल. पचौरी प्रकाशन

9871649742
9968024740

भूमिका

जब किसी भाषा का साहित्य इतना विपुल और व्यापक हो जाये कि प्रत्येक युग विशेषकर बीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध में प्रत्येक प्रवृत्ति एवं प्रत्येक विधा का अपना स्वतन्त्र इतिहास लिखा जाने लगे, ऐसे में लगभग एक हजार वर्षों में फैले समग्र हिन्दी साहित्य का किसी एक केन्द्रीय दृष्टि, विचार या कोण के इतिहास-लेखन असम्भव-सा प्रतीत होने लगता है। यही कारण है कि हिन्दी साहित्य के इतिहास-लेखन के संकलनात्मक एवं दृष्टि-आधारित-संवेदनात्मक, दोनों तरह के इतिहास-लेखन अपूर्ण प्रतीत होते हैं एवं ऐसे इतिहासों के बावजूद हमें बराबर एक मुकम्मल साहित्येतिहास की आवश्यकता महसूस होती रहती है। क्या सचमुच हिन्दी साहित्य का एक समग्र इतिहास लिखा जा सकता है? विशेषकर अस्मिता-विमर्शों के स्वतन्त्र इतिहासों के रणभेरी युग में। मसलन, 1970 ई. के बाद में स्त्री-लेखन को एवं 1980 के बाद दलित-लेखन को हिन्दी साहित्य की तथाकथित मुख्यधारा के साथ किसी एक दृष्टि या विचार के केन्द्र से समायोजित और समंजित किया जा सकता है? सिर्फ़ प्रवृत्तियों के आधार पर ही नहीं साहित्य-विधाओं के आधार पर भी, विशेषकर 1990 ई. के बाद जिस तरह से परम्परागत विधाओं में संक्रमण घटित हुआ है एवं कुछ बिल्कुल नई विधाएं अस्तित्व में आयी हैं, उनको किसी एक साहित्येतिहास में इतिहासबद्ध करना कहाँ तक सम्भव है?

हम जानते हैं कि प्रबुद्ध हिन्दी समाज की ओर से विगत कई वर्षों से शुक्ल जी की तर्ज़ पर एक समग्र, व्यवस्थित और अधतन इतिहास की माँग होती रही है। हिन्दी साहित्य में इतिहास-दृष्टि को लेकर लम्बे समय तक व्यापक विचार-विमर्श होते रहे तथापि इन दृष्टियों को आधार बनाकर कोई मुकम्मल एवं समग्र इतिहास सामने नहीं आ सका। क्या यह वह तथ्य है जो स्थापित करता है कि हिन्दी साहित्य-लेखन को किसी एक केन्द्रीयतावादी दृष्टि से समेकित, समाकलित और समालोचित कर के इतिहासबद्ध करना मुश्किल हो चुका है? इतिहास-दृष्टियों की बहस के समानान्तर

यह एक नया ऐतिहासिक तथ्य है। अब सवाल उठता है कि इस ऐतिहासिक तथ्य की स्वीकृति के बाद साहित्येतिहास लेखन का स्वरूप एवं दिशा क्या हो?

हमारा ऐसा मानना है कि प्रवृत्तियों की प्रचुरता विधाओं की संक्रमणशीलता अस्मितामूलक अभिव्यक्तियों की बहुलता के इस समय में केन्द्रीयवादी दृष्टि का आग्रह अप्रासंगिक हो चुका है। तो क्या हिन्दी साहित्य का नया इतिहास 'उत्तर आधुनिक' होने के लिए नियतिबद्ध है? हम यह भी नहीं मानते। अस्मिताओं की अभिव्यक्तियों का मूल्यांकन हम किसी भी युग में साहित्यिक एवं मानवीय मानदंडों के आधार पर करने के प्रति संकल्पबद्ध हैं। अर्थात् हम अस्मिताओं की अभिव्यक्तियों के बहुकेन्द्रीयता को स्वीकार करते हुए प्रत्येक उपकेन्द्र की केन्द्रीयता के बने रहने एवं बनाये जाने के पक्षधर हैं। यहाँ यह स्पष्ट कर देना जरूरी है कि हम किसी भी स्थिति में 'के ऑस' के हामी नहीं। अस्तु, हमारा प्रयास बहुलताओं को स्वीकार करते हुए रचनात्मकता की सुव्यवस्था एवं सामंजस्य की दिशा में है।

शुक्ल जी के बाद उनकी मान्यताओं में प्रासंगिक संशोधन करने वाला इतिहास आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने लिखा। उनके बाद कम-से-कम मध्यकाल को लेकर इतिहास-दृष्टि का प्रश्न हल हो गया। उसके बाद हिन्दी साहित्य में व्यक्तिगत एवं संगठनात्मक दोनों स्तरों पर कई इतिहास-ग्रन्थ एवं इतिहास-संकलन प्रकाशित हुए। किन्तु व्यापक स्वीकृति की दृष्टि से आचार्य रामस्वरूप चतुर्वेदी एवं डॉ. बच्चन सिंह के इतिहास विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। फिर भी हिन्दी साहित्य के वैविध्यपूर्ण सृजनात्मक के सतत विकास को देखते हुए इन इतिहासों के बाद भी एक पूर्णतर एवं व्यवस्थित इतिहास-ग्रन्थ की आवश्यकता बनी हुई थी। इसी आवश्यकता का रचनात्मक प्रतिफलन हमारा यह लघु प्रयास है।

वस्तुत: 'हिन्दी साहित्य के इतिहास पर कुछ नोट्स' नामक यह पुस्तक विद्यार्थियों की समस्याओं एवं ज़रूरतों को ध्यान में रखकर लिखी गयी है। एक विद्यार्थी के रूप में अध्ययन के दौरान हमने जो और ज़रूरतें महसूस कीं, उन्हीं के व्यावहारिक एवं सुव्यवस्थित समाधान के लिए हमने यह पुस्तक लिखी है। हमें विश्वास है कि यह पुस्तक तमाम विद्यार्थियों के लिए हिन्दी साहित्य के इतिहास को सुगम, सुबोध और सहजग्राह्य बनायेगी।

यह हमारा प्रारंभिक प्रयास है। इस प्रयास में कुछ भूल-गलतियों का होना स्वाभाविक ही है। इन भूल-गलतियों के सुधार और संशोधन के लिए गुरुजनों, मित्रजनों और प्रबुद्ध पाठकों के सुझाव विशेष सहयोगी होंगे। ऐसे सुझावों का सदैव स्वागत है...।

राजीव रंजन बंधु

रसाल सिं

अनुक्रम

1

हिन्दी साहित्येतिहास लेखन की परम्परा

समय के प्रति जो यूरोप और भारत का दृष्टिकोण है उसमें फर्क है। समय के प्रति भारत की दृष्टि वर्तुलाकार है। इस दृष्टि को प्राप्त करने में सम्भवत: प्राकृतिक सत्यों का अन्वेषण और अनुशीलन किया गया है और शायद द्रष्टा और ऋषि यह देखता है कि जीवन एक वृत्ताकार यात्रा है—बीज से बीज तक। बीज शुरू होता है और अन्तत: बीज तक पहुंच जाता है, यही समय की चक्रीयता है। जबकि पश्चिमी की इतिहास दृष्टि रेखीय है, नदी की तरह। एक बिन्दु से चलती है और दूसरी जगह चली जाती है और फिर कहीं वापस लौटना नहीं है। इसलिए यूरोप में घटनाओं का बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान है। वहाँ समय के कालखंडों को बहुत महत्त्व दिया गया है।

इंग्लैंड में 13वीं, 14वीं, 15वीं शताब्दी के गांवों को ज्यों-का-त्यों मॉडल के रूप में सुरक्षित कर दिया गया है। यह बहुत महत्त्वपूण है कि चीजें समय में बची रहे। लेकिन भारतीय दृष्टि कहती है कि कुछ भी बचना नहीं है। इसलिए जिसे आप सुरक्षित रखना चाहते हैं और जो लोग सुरक्षित रखना चाहते हैं वे दोनों ही नहीं रहने वाले हैं। जिसे सुरक्षित रखा जाना है और जिसके द्वारा सुरक्षित रखना जाना है इन दोनों को समय नष्ट कर देगा। इसका प्रतिफलन हम देख रहे हैं कि पश्चिम कब्र बनाता है और उस पर नाम लिखता है। फिर हम कहते हैं कि यह फलां का कब्र है, स्मृति है। हमारे यहाँ जला दिया जाता है। एक जीवन का चक्र खत्म हो गया अब नयी शुरुआत होगी। इसलिए नये और पुराने का चक्र है, जो सनातन है शाश्वत है और इसमें कुछ भी सुरक्षित रखना और खोना नहीं है। इसलिए हमारे यहाँ शरीर का नहीं आत्मा का कांसेप्ट है। कृष्ण यही कह रहे थे कि यह तो बचना नहीं है, मिट्टी है साफ हो जायेगी और जो भीतर है वह वैसे ही है जैसे हम नया कपड़ा पहनते हैं तो पुराना छोड़ देते हैं, आत्मा शरीर बदल देती है। हमारे यहाँ जीवन के प्रति

तथ्यात्मक दृष्टिकोण भी है और आध्यात्मिक दृष्टिकोण भी है। इसलिए महाभारत दो परिवारों की संघर्ष गाथा मात्र नहीं है। बल्कि मनुष्य की चेतना में जो उसके देवत्व के गुण और दुर्बलताएं मौजूद हैं, महाभारत उसकी भी सनातन कथा है। प्रत्येक समाज, मनुष्य, मन में महाभारत की स्थितियां और महाभारत के पात्र मौजूद हैं।

इतिहास की भरपूर सामग्री पुराणों में मौजूद है लेकिन वे पुराण इतिहास नहीं हैं क्योंकि बहुत सारी अतिमानवीय स्थितियां उसमें दिखाई देती हैं। लेकिन 19वीं शताब्दी में इतिहास लेखन की परम्परा हिन्दुस्तान में शुरू होती है और उसका कारण यह है कि 1857 में हिन्दुस्तान ब्रिटिश साम्राज्यवाद का उपनिवेश बन गया। अफ्रीका का एक बहुत महत्त्वपूर्ण चिन्तक थुंगु का कहना है कि साम्राज्यवाद अपनी आरम्भिक लड़ाई बारूद से लड़ता है, ताकत का इस्तेमाल करता है और बाद में उसकी वास्तविक लड़ाई ब्लैक बोर्ड पर शुरू होती है। यानी शिक्षा पर शुरू होती है और साम्राज्यवाद की स्थापित मान्यता है कि उपनिवेश की संस्कृति को नष्ट किये बिना उसे स्थायी रूप से गुलाम नहीं रखा जा सकता है। इसलिए साम्राज्यवाद अपने दूसरे चरण में किसी भी उपनिवेश की सांस्कृतिक अस्मिता को नष्ट करता है और सांस्कृतिक अस्मिता को तभी नष्ट किया जा सकता है जब उसके इतिहास को नष्ट किया जाये। इसलिए इतिहास का विद्रूपीकरण या इतिहास की मनचाही व्याख्या 19–20वीं शताब्दी के आरम्भिक चरणों में दिखाई देती है। हम देखते हैं कि दो तरह का इतिहास लिखा जा रहा है, एक इम्पीरियल दृष्टिकोण है और एक नेशनल दृष्टिकोण। ब्रिटिश साम्राज्यवाद ने अपने हितों के लिए इतिहास लेखन की परम्परा शुरू की और उसका इनकाउंटर हुआ और हमने अपने हितों की रक्षा के लिए इतिहास लेखन की परम्परा शुरू की। हिन्दी साहित्य के इतिहास लेखन की शुरुआत 19वीं शताब्दी से होती है।

हिन्दी साहित्य का इतिहास एक फ्रेंच विद्वान गार्सा द तांसी ने लिखा। 1839 में इसका पहला भाग तथा 1847 में दूसरा भाग प्रकाशित हुआ।

लेकिन इस परम्परा पर विचार करने से पहले साहित्य के प्रति दृष्टिकोण को लेकर जो समस्याएं हैं उन पर विचार करना उचित होगा। मूलतः दो प्रकार की विचारधाराएं हैं। एक विचारधारा का सम्बन्ध लगभग मार्क्सवादी प्रवृत्ति से है, जिसमें कहा गया है कि साहित्य भी इतिहास की उपज होती है और इतिहास ही उसे नष्ट कर देता है। यानी कोई भी साहित्यिक आन्दोलन ऐतिहासिक परिस्थितियों के दबाव से उत्पन्न होता है और ऐतिहासिक परिस्थितियां ही उस आन्दोलन को समय

के हाशिए में डालकर नयी चेतना और सृजनात्मकता को सम्भव बनाती है। इसलिए साहित्य को इतिहास बोध के बगैर नहीं पढ़ा जा सकता। अगर कोई भी व्यक्ति बिना इतिहास बोध के मध्यकाल को पढ़ना चाहे तो नहीं पढ़ सकता। मध्यकाल की कविता में जो समाज है, स्त्री-पुरुष के जो सम्बन्ध हैं, **अध्यात्म** है, धर्म है , जीवन के प्रति दृष्टिकोण और जीवन की सार्थकता की पहचान है–ये सब एक ऐतिहासिक ढांचे के भीतर समझी जा सकती हैं। इसलिए साहित्य में जो भी नयी प्रवृत्ति विकसित होती है वह ऐतिहासिक दबाव से होती है। वह रचनाकार का निजी मसला नहीं होता और परम्परा की व्याख्या इसमें मार्कसिस्ट ट्रेंड करता है। जो मार्क्सवादी सिद्धान्त है–बेस स्ट्रक्चर और सुपर स्ट्रक्चर का, उसमें बेस स्ट्रक्चर आर्थिक संरचना है। अर्थ की संरचना जिस तरह की होगी उसी पर सुपर स्ट्रक्चर खड़ा होगा। धर्म, संस्कृति, भाषा, नियम, कानून, रीति-रिवाज ये सभी आर्थिक संरचना के ऊपर खड़ी होने वाली बाह्य संरचनाएं हैं। इसलिए जब बेस स्ट्रक्चर बदलेगा तो सुपर स्ट्रक्चर में भी बदलाव होगा, आर्थिक संरचना का अर्थ मार्क्स करता है उत्पादन की विधि।

किसी भी समाज की आर्थिक संरचना उसकी उत्पादक विधि पर निर्भर करती है इसलिए जितने भी प्रकार के मानवीय व्यवहार हो सकते हैं, उन मानवीय व्यवहारों को संचालित और नियन्त्रित करने वाली जो सूक्ष्म ऊर्जा है वह उस समाज के अर्थ तन्त्र से निर्मित होती है। जाहिर है कि मार्क्सवादी किसी भी साहित्य के चाहे वह आध्यात्मिक साहित्य ही क्यों न हो, मूलभूत सामाजिक, आर्थिक कारणों को देखता है, समझता है और उसी के सन्दर्भ में उसको व्याख्यायित करता है। यानी वह मानता है कि इतिहास-बोध और ऐतिहासिक परिस्थिति के भीतर से ही साहित्य की समूची प्रक्रिया घटित होती है, विकसित होती है।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का बहुत प्रसिद्ध कथन है किसी भी देश का साहित्य वहाँ की जनता की चित्तवृत्ति का संचित प्रतिबिम्ब होता है। इसका अर्थ है जनता का मन, जनता के सोचने-समझने के तरीके, जनता की चेतना। इसलिए साहित्य वैयक्तिक नहीं होता। यह जनता की चित्तवृत्ति का संचित प्रतिबिम्ब होता है। तब यह निश्चित होता है कि जनता की चित्तवृत्ति में परिवर्तन के साथ-साथ साहित्य के स्वरूप में भी परिवर्तन होता चला जाता है। फिर उन्होंने कहा कि जनता की चित्तवृत्ति बहुत हद तक समाज की आर्थिक, सामाजिक, धार्मिक और राजनीतिक परिस्थितियों पर निर्भर करती है। यानी चित्तवृत्ति कोई दैवी वस्तु नहीं है। चित्तवृत्ति बहुत हद तक समाज की आर्थिक, राजनीतिक, धार्मिक परिस्थितियों पर निर्भर करती है। इसलिए उसमें बदलाव अनिवार्य है।

इस तरह आदि से अन्त तक इन्हीं चित्तवृत्तियों की परम्परा को परखते हुए साहित्यिक परम्परा के साथ उनका सामंजस्य दिखाना ही साहित्य का इतिहास कहलाता है। यानी जनता की चित्तवृत्ति में जो परिवर्तन हो रहा है और साहित्य में जो परिवर्तन हो रहा है –इस परिवर्तन को दिखाना, इस परिवर्तन के सम्बन्ध को दिखाना ही साहित्य का इतिहास है। इसलिए प्रकारान्तर से साहित्य का इतिहास समाज की परिस्थितियों और रचनात्मकता के बीच के सम्बन्ध का इतिहास है।

यूरोप के आधुनिकतावादी चिन्तकों की धारणा इससे भिन्न है। उनकी मूल स्थापना यह है कि साहित्य का इतिहास नहीं हो सकता। यह सामाजिक और मार्क्सवादी चिन्तन से बिल्कुल विपरीत स्थापना है और उनके कुछ तर्क भी हैं। पहला तर्क तो यह है कि साहित्य अपनी मूल प्रकृति में काल का अतिक्रमण करता है, जबकि इतिहास काल का ही आख्यान है। वाल्मीकि रहे होंगे किसी समय, लेकिन रामायण जनता की मानसिकता में या पाठक की मानसिकता में अभी भी जीवित रह सकता है। भवभूति में जो करुणा है वह काल से बंधी हुई नहीं है। दूसरा तर्क यह है कि साहित्य की रचना के कुछ अपने निजी नियम-विधान होते हैं। दरअसल साहित्य की रचना-प्रक्रिया बहुत संश्लिष्ट होती है। ऐसा नहीं होता कि कोई घटना घटित हो रही है, उस घटित होती घटना के आधार पर साहित्य लिखा जाता है।

नयी समीक्षा के अनुसार साहित्य रचना के अपने कुछ नियम विधान होते हैं जो ऐतिहासिक परिस्थितियों में स्वतन्त्र होते हैं। उदाहरण के लिए 1920 से 1936 के बीच का जो कालखंड है, जिसे हम छायावाद के नाम से जानते हैं, उसके चार बड़े स्तम्भ प्रसाद, निराला, पन्त और महादेवी ये चार तरह से लिख रहे हैं। उसी कालखंड में प्रेमचन्द भी लिख रहे हैं। कामायनी, गोदान और राम की शक्ति पूजा का प्रकाशन वर्ष लगभग एक ही है 1936। लेकिन तीनों एकदम ही अलग-अलग हैं। प्रेमचन्द जब लिख रहे हैं उसी समय जैनेन्द्र भी लिख रहे हैं। प्रेमचंद की दुनिया बाहर की दुनिया है और जैनेन्द्र की दुनिया बिल्कुल मन की दुनिया है। इसलिए हम यह देखना चाहें कि रचना पर एक ऐतिहासिक दबाव होता है तो कई जगह दिखाई पड़ता है कि रचना ऐतिहासिक दबावों या तथ्यों का जो औसतपन है उसका अतिक्रमण कर जाती है।

निर्मल वर्मा का यह मत है कि रचना केवल वही नहीं दिखाती जो जीवन की सतह पर है बल्कि वह जीवन के उन हिस्सों का भी उद्घाटन करती है जो हमारे भीतर अंधेरे में छिपे होते हैं।

हिन्दी साहित्येतिहास लेखन की परम्परा

गार्सा द तांसी के इतिहास में हिन्दी और उर्दू के बहुत सारे कवियों का विवरण वर्ण क्रमानुसार दिया गया है। दरअसल उसका महत्त्व इस बात में है कि इसमें हिन्दी के कवियों का क्रम प्रस्तुत किया गया है। अपनी प्रकृति और प्रभाव में यह सिर्फ इसलिए चर्चा का विषय रहा है कि यह हिन्दी साहित्य का पहला इतिहास है। बाकी, इसमें कोई महत्त्व की चीजें दिखाई नहीं देतीं।

हिन्दी साहित्य का दूसरा इतिहास '**शिवसिंह सरोज**' नाम से 1833 में प्रकाशित हुआ। इसमें एक हजार कवियों के जीवनवृत्त को संकलित किया गया और साथ-साथ उनकी कविताओं के कुछ उदाहरण भी प्रस्तुत किये गये। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने अपने इतिहास लेखन में शिवसिंह सरोज की सामग्री का कहीं-कहीं इस्तेमाल किया है। इस लेखन में जीवनवृत्त पर बहुत बल दिया गया है **यानी कवियों के जीवन का जो इतिहास है उसे विस्तारपूर्वक प्रस्तुत करने की कोशिश शिवसिंह सरोज में की गयी है।** लेकिन इस ग्रन्थ में विश्वसनीयता का बहुत अभाव है क्योंकि कवियों के जीवनवृत्त में बहुत हद तक सामाजिक किंवदन्तियों का सहारा लिया गया है। कोई ऐतिहासिक विश्लेषण या ऐतिहासिक खोज इसमें नहीं की गयी है। लेकिन महत्त्व इस बात में भी है कि पहली बार हिन्दी के एक हजार कवियों का नाम और उनसे कुछ जुड़ी हुई कथाएं एक साथ जुड़ी हुई दिखाई पड़ीं।

तीसरा इतिहास आया **जार्ज ग्रियर्सन** का '**द माडर्न वर्नाकुलर लिटरेचर आफ हिन्दुस्तान**'। यह ऐशियाटिक सोसायटी आफ बंगाल का विशेषांक था जिसके अन्तर्गत 1888 में इस पुस्तक का प्रकाशन हुआ था। इस ग्रन्थ के बारे में कहा जाता है कि यह हिन्दी साहित्य का विधिवत पहला इतिहास है। कुछ विद्वानों की यह धारणा है कि आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने ग्रियर्सन के इस इतिहास ग्रन्थ से ही अपने ढांचे को ग्रहण किया और उसमें नये तरीके की सामग्री और दृष्टिकोण का समावेश किया। इस ग्रन्थ की कुछ विशेषताएं हैं जिनकी तरफ ध्यान जाता है। पहला तो यह है कि कवियों और लेखकों का कालक्रमानुसार वर्गीकरण किया गया है। इसके साथ-साथ उन्होंने साहित्यिक प्रवृत्तियों का भी वर्गीकरण किया और हिन्दी साहित्य के इतिहास को कई कालखंडों में विभक्त किया, जैसे चारणकाव्य। यानी ग्रियर्सन ने यह अनुभव किया कि जो आरम्भिक काव्य है वह राजाश्रय का काव्य है। राजाओं के दरबारों में रहने वाले रचनाकारों ने अपने **राजाओं और प्रशस्तियां लिखी हैं। ग्रियर्सन वह पहला इतिहासकार है जो मध्यकालीन काव्य को स्वर्ण युग की संज्ञा देता है।** इससे अनुमान लगता है कि बहुत गहरी और समग्र दृष्टि की शुरुआत

ग्रियर्सन के द्वारा हुई और हिन्दी साहित्य के इतिहास में 'द मार्डन वर्नाकुलर लिट्रेचर आफ हिन्दुस्तान' का स्थायी महत्त्व है। इसके साथ-साथ ग्रियर्सन ने अपने ग्रन्थ में अपनी आधार सामग्री का स्पष्ट उल्लेख किया जो इतिहास लेखन का एक बहुत महत्त्वपूर्ण हिस्सा है। लेकिन इसके साथ ही ग्रियर्सन की इतिहास-दृष्टि में अनेक कमियां भी मौजूद हैं।

पहली बात तो यह है कि ग्रियर्सन के काल विभाजन में बहुत सारी विसंगतियां हैं। मसलन कि उसने आदिकाल को चारण काल कहा और चारण काल का समय निर्धारण किया छठी शताब्दी। यह वह समय है जब चारणता की कोई प्रवृत्ति दिखाई नहीं पड़ती। अतः काल और साहित्य प्रवृत्ति के बीज जो सीधा और प्रामाणिक सम्बन्ध दिखाया जाना चाहिए, ग्रियर्सन उस सम्बन्ध को नहीं दिखा पाते।

धार्मिक साहित्य में जो विभिन्न काव्यान्दोलन हैं, जैसे—राम काव्य, कृष्ण काव्य, संत काव्य और उसका सम्यक बँटवारा और पहचान ग्रियर्सन नहीं कर पाये। इसके साथ पूरी-की-पूरी जो समकालीन स्थितियां चल रही थीं उन पर भी ग्रियर्सन का ध्यान नहीं है और इससे जुड़ी हुई यह बात है कि साहित्यिक परिस्थितियों में जो परिवर्तन आ रहा है या साहित्य में जो परिवर्तन घटित हो रहा है उन परिवर्तनों की वजह कहाँ है, उसका विश्लेषण और पहचान ग्रियर्सन नहीं कर पाये हैं।

भक्ति आन्दोलन की व्याख्या करते हुए ग्रियर्सन ने लिखा कि आन्दोलन भारतीय इतिहास के आकाश में बिजली की कौंध की तरह दिखाई दिया अर्थात् अचानक इतना बड़ा आन्दोलन खड़ा हो गया। बाद में चलकर हजारी प्रसादी द्विवेदी ने ग्रियर्सन के इस कथन पर टिप्पणी करते हुए लिखा कि ग्रियर्सन की आँखों ने बिजली की चमक तो देख ली लेकिन बिजली की इस चमक के साथ भारतीय इतिहास के आकाश में हजारों सालों से जो मेघखंड एकत्रित हो रहे थे, ग्रियर्सन की आँखें उन्हें नहीं देख पाई। उनका संकेत यह था कि भक्ति आंदोलन कोई आकस्मिक घटना नहीं थी। अतः एक साहित्य काल खंड के दूसरे साहित्य काल खंड में परिवर्तन के कारण कहाँ है, ग्रियर्सन इसका विवेचन नहीं कर पाते।

गम्भीर इतिहास लेखन की दृष्टि से ग्रियर्सन की कुछ अपनी सीमाएं हैं लेकिन इस बात में सन्देह नहीं है कि ग्रियर्सन ने कम-से-कम अभी तक कथाओं और किंवदन्तियों पर और सिर्फ कवियों के नामों और उनके उदाहणों पर आधारित इतिहास लेखन की जो परम्परा थी, उसको पूरी तरह से बदल दिया। उसे एक ढाँचा दिया।

इस पृष्ठभूमि में हिन्दी साहित्य का चौथा इतिहास आया '**मिश्रबन्धु विनोद**'। यह चार खंडों में प्रकाशित हुआ। पहले तीन भाग 1913 में आये और चौथा भाग

1934 में प्रकाशित हुआ। भूमिका के अनुसार मिश्रबन्धुओं ने इस इतिहास को एक आदर्श इतिहास बनाने की कोशिश की। इसमें 5 हजार कवियों को शामिल किया गया और हिन्दी साहित्य के इतिहास को 8 से अधिक कालखंडों में विभक्त किया गया। इस इतिहास में कवियों के विवरणों के साथ-साथ साहित्य के विविध अंगों पर भी प्रकाश डाला गया और रचनाकारों के साहित्यिक महत्त्व की चर्चा की गई। साहित्यिक महत्त्व की शुरुआत ग्रियर्सन ने कर दी थी। इसी आधार पर उन्होंने **भक्तिकाल को स्वर्णकाल** कहा था। लेकिन यहाँ कवियों के साहित्य पर भी थोड़ा-बहुत विचार किया गया और मिश्रबन्धुओं की दृष्टि पर चूंकि रीतिकाल का बहुत प्रभाव था इसलिए कौन कवि बड़ा है और कौन कवि छोटा है इसका चयन उन्होंने रीतिकाल में से किया। इस तरह से हिन्दी साहित्य के इतिहास में रीतिकाल को केन्द्र में रखने का श्रेय मिश्रबन्धुओं को है और इस तरह से तुलनात्मक आलोचना का सूत्रपात उन्होंने किया। लेकिन इन व्यवस्थित प्रमाणों के बावजूद मिश्रबन्धुओं के इस इतिहास को इतना भी महत्त्व नहीं मिला जितना कि ग्रियर्सन के इतिहास को मिला था और उसकी कुछ वजहें हैं।

पहली वजह तो यह है कि इस ग्रन्थ में **ऐतिहासिक दृष्टि का ही अभाव है**। इतिहास की परिस्थितियों और रचना के बीच के अनिवार्य सम्बन्ध को मिश्रबन्धु नहीं देख पाते। इसके साथ-साथ साहित्य की भाषा और साहित्यिक रूपों में जो बदलाव चल रहा है, उन बदलावों के चिह्न इस इतिहास लेखन में नहीं हैं। तीसरी सीमा यह मानी गई है कि मिश्रबन्धुओं की दृष्टि बहुत हद तक शास्त्रीय है। छन्द, अलंकार, रस, ध्वनि, वक्रोक्ति की शास्त्रीयताएं इस इतिहास लेखन पर बहुत हावी हैं और इसलिए रचना और रचनाकारों के ऊपर इतिहास के दबावों का उद्घाटन नहीं हो पाया है। मिश्रबन्धु यह भी बताने में असफल रहे हैं कि एक रचनाकर दूसरे रचनाकर से किन प्रतिमानों के आधार पर श्रेष्ठ है। इस तरह से एक यादृच्छिकता दिखाई देती है। इन सीमाओं के बावजूद इसका महत्त्व इस बात में है कि यह बहुत महत्त्वपूर्ण सन्दर्भ ग्रन्थ है। शुक्ल जी ने कहा कि मैंने अपनी बहुत सारी सामग्री मिश्रबन्धु विनोद से ली है। इस तरह से आधार सामग्री तैयार करने में मिश्रबन्धु विनोद की भूमिका बहुत जरूरी और रेखांकित करने योग्य कही जा सकती है।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल द्वारा लिखित **'हिन्दी साहित्य का इतिहास'** सन् 1929 में प्रकाशित हुआ। शुक्ल जी के हिन्दी साहित्य के इतिहास की पहली विशेषता यह है कि उन्होंने युगीन परिस्थितियों के संदर्भ में साहित्य के विकास-क्रम की व्याख्या की। परिस्थिति और साहित्य के बीच के बहुत जटिल और अनिवार्य सम्बन्ध को स्वीकार करते हुए उन्होंने अपने इतिहास का निर्माण किया। इसलिए

हिन्दी साहित्य के इतिहास के जितने भी चरण हैं उन चरणों के ऐतिहासिक कारणों का प्रामाणिक विश्लेषण शुक्ल जी के इस ग्रन्थ में दिखलाई देता है। उदाहरण के लिए अपने इतिहास की शुरुआत करते हुए उन्होंने हिन्दी साहित्य को चार कालखंडों में विभाजित किया है। आदिकाल, पूर्व मध्यकाल, उत्तर मध्यकाल और आधुनिक काल। फिर उन्होंने कहा कि ये कालवाची शब्द हैं, इन कालवाची शब्दों की कुछ साहित्यिक संज्ञाएं भी हैं। तब उन्होंने आदिकाल को वीरगाथा काल, पूर्व मध्यकाल को भक्तिकाल, उत्तर मध्यकाल को रीतिकाल और आधुनिक काल को गद्यकाल कहा है। यह बहुत सजग विभाजन है।

उन्होंने स्पष्ट करने की कोशिश की कि आदिकाल को वीरगाथा काल क्यों कहा गया है, किस तरह की सामग्री है और ऐसी सामग्री है तो क्यों है? भक्तिकाल के बारे में उन्होंने कहा कि जब मुसलमानों के द्वारा देश बलाक्रान्त हो गया, उनके मन्दिर तोड़े जाने लगे, उनके पूज्य देवताओं की मूर्ति सैनिकों के पैरों तले रौंदी जाने लगी, स्थानीय सामन्तों और राजाओं का पराभव हो गया तब अपने पौरुष से हताश जाति के लिए भगवान की शरण में जाने के सिवाय और दूसरा रास्ता ही क्या था? हम उनकी धारणा से सहमत या असहमत हो सकते हैं लेकिन उन्होंने बताया कि तलवार की झंकारों वाले समय से निकलकर कविता भक्ति के क्षेत्र में क्यों आई?

दूसरी विशेषता यह है कि काल-विभाजन के अन्तर्गत हिन्दी साहित्य के लगभग एक हजार वर्षों के इतिहास को उन्होंने चार सुस्पष्ट कालखंडों में विभक्त किया। ये कालखंड हैं वीरगाथा काल, भक्तिकाल, रीतिकाल और आधुनिक काल या गद्य काल।

इसके साथ एक और विशेषता आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की है। उन्होंने कवियों और साहित्यकारों के जीवन सम्बन्धी इतिवृत्त के स्थान पर उनकी रचनाओं के साहित्यिक मूल्यांकन का प्रयास किया। इसलिए जीवन सम्बन्धी कथाएं कम हैं। आज रचनाकारों के वही कद हमारे सामने लगभग मौजूद हैं जो शुक्ल जी ने तय किये थे। थोड़ा-बहुत परिवर्तन जरूर हुआ। मसलन कि कबीर को लेकर या छायावाद को लेकर आचार्य रामचन्द्र शुक्ल जी की जो समझ थी उसे चुनौती दी गई और उसमें बहुत कुछ परिवर्तन भी हुआ है। इस तरह से शुक्ल जी ने रचनाकारों के साहित्यिक मूल्यांकन की प्रक्रिया का सूत्रपात किया।

'हिन्दी साहित्य का इतिहास' अपने विषय का पहला ग्रन्थ है जिसमें सूक्ष्म और व्यापक दृष्टि से स्पष्ट विवेचन का समावेश किया गया है। इसके साथ-साथ आचार्य ने रीतिकाल की चर्चा को हाशिए में डालकर अपने इस इतिहास ग्रन्थ में भक्तिकाव्य को स्थापित किया और उन्होंने कहा कि हिन्दी साहित्य के इतिहास का केन्द्र भक्ति काव्य है, रीतिकाव्य नहीं। भक्ति काव्य को उन्होंने जातीय चेतना का काव्य कहा।

एक ऐसी कविता जो संस्कृति की समृद्धि को संभालती है और संस्कृति का विकास करती है। इसलिए जिसे हम आज भारतीय संस्कृति कहते हैं उस भारतीय संस्कृति का 80 प्रतिशत हिस्सा वह है जो भक्ति काव्य से सम्बद्ध है। भारतीय लोकमानस में पूजनीय जो मर्यादा पुरुषोत्तम राम हैं, वे मर्यादा पुरुषोत्तम तुलसीदास के हैं। संगीत के क्षेत्र में, स्थापत्य के क्षेत्र, मूर्ति कला के क्षेत्र में कृष्ण भक्त कवियों के योगदान अप्रतिम हैं। सूरदास ने अपनी कविताओं में जो कृष्ण की गाथा और चित्र बनाये हैं वे चित्र प्रकारान्तर से मध्यकाल के बाद जिस भारतीय संस्कृति का निर्माण किया गया तथा उसके निर्णायक और प्रभावकारी चित्र हैं। इसलिए शुक्ल जी ने भाषा, भाव सम्पदा और कला इन तीनों बिन्दुओं पर कहा कि भक्तिकाव्य कालातीत साहित्य है।

शुक्ल जी के इस इतिहास की अन्तिम विशेषता यह मानी गई है इसमें तथ्यों पर बल होते हुए भी एक मूल्य दृष्टि की निरन्तरता दिखाई देती है और वह मूल्य दृष्टि **लोकमंगल** है। इतिहासकार हो या साहित्यकार हो दोनों के लिए मूल्य दृष्टि अनिवार्य है। इसलिए ई.एच. कार ने अपनी किताब 'वाट इज हिस्ट्री' में यह बहुत महत्त्वपूर्ण बात कही कि इतिहास को देखने का मसला इससे जुड़ा हुआ है कि हम किस तरह का भविष्य बनाना चाहते हैं। शुक्ल जी कम से-कम मुसलमान कवियों को लेकर जितने संवदेनशील और उदार हैं वह अभूतपूर्व है। इसलिए एक मूल्य दृष्टि उन्होंने दी और इस मूल्य दृष्टि के कारण भी इस इतिहास का महत्त्व मील के पत्थर की तरह है। इसलिए कोई भी इतिहास लेखक शुक्ल जी के महत्त्व को अस्वीकार नहीं कर पाता।

लेकिन इसके बावजूद शुक्ल जी की इतिहास-दृष्टि की कुछ सीमाएं भी हैं। पहली सीमा है **प्रामाणिकता का अभाव**। प्रामाणिकता के अभाव के ये चिह्न खासतौर पर, जब हम आदिकाल पर बातचीत करते हैं तब दिखाई देते हैं। आदिकाल को उन्होंने वीरगाथा काल कहा और वीरगाथा काल कहने के लिए जिन 12 ग्रन्थों का उल्लेख उन्होंने किया उसमें से अधिकांश रचनाएं या तो अप्राप्य हैं या अप्रामाणिक हैं।

स्वयं शुक्ल जी का अन्तर्विरोध यह है कि रासो काव्यों में पृथ्वीराज रासो, जिसे हिन्दी का पहला महाकाव्य कहा जाता है, उस रासो काव्य को शुक्ल जी ने कहा कि यह बिल्कुल जाली है और जब नामकरण करने लगे तो उसको शामिल कर लिया। लेकिन इस बात को भी ध्यान में रखने की जरूरत है कि हिन्दी का अधिकांश प्राचीन साहित्य, जब शुक्ल जी इतिहास लिख रहे थे तब लुप्त, अज्ञात और अप्रकाशित था। उसका कोई प्रामाणिक अध्ययन नहीं हो पाया था। इसलिए इतिहास के जिस पक्ष का सम्बन्ध आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के चिन्तन और विश्लेषण से था उसे स्थायी महत्त्व मिला, लेकिन जो हिस्सा इतिहास की आधारभूत सामग्री से सम्बद्ध था उसमें

उन्हें अनुमान और कल्पना से काम लेना पड़ा, जिसका परिणाम बाद में चलकर यह हुआ कि नये प्रमाणों के आलोक में उनके निष्कर्ष अमान्य हो गये। बाद में नागरी प्रचारिणी सभा के प्रयासों में हजारों लुप्त ग्रन्थ उपलब्ध हो गये, उनका प्रकाशन भी हुआ। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की दूसरी सीमा रीतिकाल को लेकर मानी जाती है।

कुछ विद्वानों की ऐसी धारणा है कि रीतिकाल का नामकरण, सीमा निर्धारण, परम्पराओं और काव्यधाराओं का वर्गीकरण उस काल की सम्पूर्णता के साथ न्याय नहीं करता। केशव रीतिकाल के श्रेष्ठतम रचनाकार हैं लेकिन शुक्ल जी केशव से रीतिकाल की शुरुआत नहीं मानते। वे चिन्तामणि से शुरुआत मानते हैं और इस तरह से वे केशव के साथ अन्याय करते हैं। केशव को उन्होंने अलंकारवादी कहा और एक स्थान पर उन्होंने कहा कि केशव कठिन काव्य के प्रेत हैं। इस तरह से केशव को अलंकारवादी तथा बाद के कवियों को रसवादी घोषित करते हुए रीति परम्परा के प्रवर्तक पद से केशव को वंचित करना न्यायसंगत नहीं लगता।

इसके साथ-साथ एक और सीमा मानी जाती है कि शुक्ल जी साहित्यिक प्रवृत्तियों के निर्माण में तात्कालिक परिस्थितियों को निर्णायक महत्त्व देते हैं। जैसे भक्ति आन्दोलन के बारे में उन्होंने कहा कि यह मुसलमानों के आक्रमण का परिणाम है। लेक़िन उन प्रवृत्तियों के पीछे जो समृद्ध परम्परा है, उन्होंने उसकी लगभग उपेक्षा की। जबकि प्रत्येक साहित्यिक आन्दोलन के पीछे कुछ अदृश्य परम्पराएं भी होती हैं। इसलिए शुक्ल जी पर स्थितियों की तात्कालिकता के अतिरिक्त महत्त्व देने का आरोप है।

अन्तिम आरोप यह लगाया गया है कि आधुनिक काल के साहित्य के साथ उन्होंने न्याय नहीं किया है। आरोप मूलतः यह है कि छायावाद और आधुनिक गद्य रचनाओं के विश्लेषण में गहराई का अभाव है। गद्य रचनाओं पर उन्होंने बहुत कम लिखा जबकि इतिहासकार के नाते यह बहुत जरूरी था कि वे ज्यादा ध्यान आधुनिक रचनाओं के विश्लेषण में लगाते। छायावाद को उन्होंने पश्चिम की और बंगाल की कुछ कविताओं का अनुकरण कहा और उसे रहस्यवाद से जोड़ा। शुक्ल जी में जो गहराई और पकड़ मध्यकाल को लेकर है वह पकड़ और गहराई आधुनिक काल के साहित्य पर नहीं है। यह बहुत गम्भीर आरोप है। यह किसी भी इतिहास ग्रन्थ की बड़ी सीमा हो सकती है।

लेकिन इसमें कोई सन्देह नहीं है कि शुक्ल जी ने एक-एक वाक्य भी अगर लिखा है तो उस वाक्य की व्यंजनाएं बहुत हैं- जैसे निराला के बारे में उन्होंने लिखा कि निराला की प्रतिभा बहुवस्तुस्पर्शनी प्रतिभा है, अनेक दिशाओं में जाती है और अनेक तरह के विषयों का स्पर्श करती है। यह बहुत सकारात्मक और बड़ी टिप्पणी

है। कामायनी के बारे में उन्होंने लिखा कि कामायनी में अगर मधुचर्या का अतिरेक न होता तो यह मानवता का बड़ा रूपक होता। यह बहुत महत्त्वपूर्ण वक्तव्य है।

महादेवी के बारे में उन्होंने कुछेक पंक्तियां लिखी हैं और लिखा है कि गीतकार के रूप में जैसे गीत महादेवी ने लिखे हैं वैसा गीत आधुनिक काल में कोई भी नहीं लिख सका है। यह महादेवी को स्थापित करने वाला वक्तव्य है। इसके बावजूद यह सीमा बतायी गई है कि आधुनिक रचना, आधुनिक मनोवृत्तियों और आधुनिक चेतना का प्रतिनिधित्व और उसके साथ न्याय इस इतिहास में नहीं हो पाया है।

आचार्य शुक्ल की इन स्थापनाओं और दृष्टि की प्रतिक्रिया में एक दूसरे इतिहासकार आये **पंडित हजारी प्रसाद द्विवेदी**। यद्यपि द्विवेदी जी ने सुव्यवस्थित इतिहास नहीं लिखा। उन्होंने छात्रों के लिए एक इतिहास लिखा '**हिन्दी साहित्य उद्भव और विकास**'। लेकिन उनका सबसे चर्चित और महत्त्वपूर्ण इतिहास ग्रन्थ है 'हिन्दी साहित्य की भूमिका'।

इनके अतिरिक्त हिन्दी साहित्य का 'आदिकाल', 'मध्यकालीन बोध का स्वरूप' आदि उनकी अन्य पुस्तकें हैं। साहित्य के इतिहास लेखन की एक नयी दृष्टि, नयी सामग्री और नयी व्याख्या इन ग्रन्थों में उपलब्ध है। इसलिए बाद में चलकर पं० हजारी प्रसाद द्विवेदी और आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का तुलनात्मक अध्ययन शुरू हुआ। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल जहाँ अपनी ऐतिहासिक दृष्टि में परिस्थितियों को प्रमुखता देते हैं वहीं पं० हजारी प्रसाद द्विवेदी **परम्परा के महत्त्व** को रेखांकित करते हुए साहित्यिक प्रवृत्तियों की व्याख्या करते हैं। परम्परा और ऐतिहासिक दृष्टि की टकराहट का सबसे चर्चित सन्दर्भ है भक्ति आन्दोलन। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने भक्ति आन्दोलन को इस्लाम के आक्रमण से जोड़ा था लेकिन परम्परा को महत्त्व देते हुए भक्ति आन्दोलन की भिन्न व्याख्या करते हुए पं० हजारी प्रसादी द्विवेदी ने लिखा 'भक्ति आन्दोलन न तो तद्युगीन पराजित हिन्दी जाति की निराशा से उद्वेलित हैं और न ही इस्लाम की प्रतिक्रिया है। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण यह है कि सातवीं-आठवीं शती में जबकि भारत की धरती पर इस्लाम की छाया भी नहीं पड़ी थी, दक्षिण के वैष्णव भक्तों में भक्ति अपने पूर्ण वैभव के साथ उपस्थित थी।'

उन्होंने लिखा ''लेकिन जोर देकर कहना चाहता हूँ कि अगर इस्लाम न भी आया होता तो भी इस साहित्य का बारह आना वैसा ही होता जैसा आज है।''

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने धार्मिक साहित्य को साम्प्रदायिक कहकर साहित्य मानने से इनकार कर दिया था। उनकी मान्यता थी कि उनमें इनमें अपने-अपने पन्थों के प्रचार और प्रसार का प्रयास किया गया है, इनका कोई साहित्यिक महत्त्व नहीं है। शुक्ल जी का तर्क यह है कि साहित्य मानवीय जीवन की अनुभूतियों का

आख्यान है। पं० हजारी प्रसाद द्विवेदी ने आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की इस स्थापना और इस सिद्धान्त का प्रतिवाद करते हुए लिखा कि धार्मिक होने से किसी भी कृति को साहित्य से बाहर नहीं निकाला जा सकता। पं० हजारी प्रसाद द्विवेदी ने कहा कि रसात्मकता साहित्य का अनिवार्य गुण-धर्म नहीं है बल्कि प्रतिकार और असहमति साहित्य का गुण-धर्म हो सकता है। इसलिए जो धर्म के पाखंड के विरोध में लिखा जाये, जो दलितों को न्याय दिलाने के लिए लिखा जाये, जो मनुष्य की एकता के लिए लिखा जाये, अन्धविश्वासों के खंडन के लिए लिखा जाये, हो सकता है कि रसात्मक न हो लेकिन वह साहित्य हो सकता है।

पं० हजारी प्रसाद द्विवेदी ने तर्क दिया कि अगर धार्मिकता के आधार पर आदिकाल की सामग्री को साहित्य से बाहर किया गया तो पूरे भक्ति साहित्य को भी बाहर करना पड़ेगा क्योंकि वह भी धार्मिक साहित्य है और अगर भक्ति काव्य को बाहर कर दिया गया तो हिन्दी में बचेगा क्या? धार्मिक साहित्य की स्थापना उन्होंने साहित्य के अन्तर्गत की और कहा कि आदिकाल के धार्मिक साहित्य को साहित्य की सामग्री मानना चाहिए और यही कारण है कि राहुल सांकृत्यायन, हजारी प्रसाद द्विवेदी और अन्य रचनाकारों ने हिन्दी कविता की परम्परा की शुरुआत सरहपा से मानी। इस तरह से पं० हजारी प्रसाद द्विवेदी को यह श्रेय जाता है कि उन्होंने नाथ और सिद्ध साहित्य को हिन्दी साहित्य की अपनी थाती के रूप में स्वीकार किया।

पं० हजारी प्रसाद द्विवेदी ने अपने इतिहास में सगुण काव्य की तुलना में निर्गुण काव्य के महत्त्व को रेखांकित किया। कबीर के लिए फिर उन्होंने एक किताब अलग से लिखी। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने अपने इतिहास में कबीर को कवि मानने से इनकार कर दिया था। शुक्ल जी ने यह तो जरूर लिखा कि कबीर कवि नहीं थे, उन्हें कविता आती नहीं थी, लेकिन उन्होंने कहा कि निचले तबके की जातियों पर कबीर की कविता का बहुत गहरा प्रभाव है और समाज के निचले तबके की जातियों में आत्म-सम्मान जगाकर उन्होंने मानवता का बहुत बड़ा कल्याण किया। लेकिन कबीर को कवि रूप में स्थापित करने का प्रयास और निर्गुण काव्य की जो बड़ी काव्य-भूमि है, उसको उद्घाटित करने का बड़ा काम हजारी प्रसाद द्विवेदी ने किया। इसलिए शुक्ल जी सदगुण रचनाओं के बड़े व्याख्याता माने जाते हैं और हजारी प्रसाद द्विवेदी निर्गुण रचनाओं के या निर्गुण रचनाकारों के। इस तरह से दोनों को मिलाकर हिन्दी साहित्य का एक मुक्कमल वृत्त तैयार होता है।

अन्तिम बात यह है कि सूफियों के बारे में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने कहा था कि इन पर विदेशी प्रभाव है। अरब और ईरान की मसनवियों का प्रभाव हमारे सूफियों पर दिखायी देता है। पं० हजारी प्रसाद द्विवेदी ने कहा कि जो भारतीय

प्रेमाख्यानक हिन्दी सूफी कवि हैं उन पर विदेशी प्रभाव नहीं है। उन्होंने प्रेमाख्यानों के मूल स्रोतों का अनुसन्धान करते हुए प्रतिपादित किया कि इन प्रेमाख्यानों की कथावस्तु, कथानक, रूढ़ियां, रचना-शैली, छन्द-योजना इत्यादि संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश से प्रभावित हैं। यानी इन प्रेमाख्यान का मूल स्रोत भारतीय परम्परा है, अरब नहीं। उन्होंने इन प्रेमाख्यानों को भारतीय चिन्तनधारा और परम्परा की एक बड़ी उपलब्धि के रूप में रेखांकित किया।

इन लोगों के बाद दो और इतिहास लिखे गये जिनमें '**हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास**' डॉ० रामकुमार वर्मा ने 1935 में और बाद में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के प्रिय शिष्य पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने '**हिन्दी साहित्य का अतीत**' दो खंडों में 1945 में लिखा। इसके बाद हिन्दी साहित्य के इतिहास की लेखन परम्परा लगभग स्थगित हो जाती है।

कालान्तर में नागरी प्रचारिणी सभा ने 'वृहत हिन्दी साहित्य का इतिहास' 17 खंडों में प्रकाशित किया। इसे अलग-अलग लोगों ने लिखा है जिनकी कोई समेकित दृष्टि भी नहीं दिखाई पड़ती। इसलिए सामग्री संचय की दृष्टि से ये किताबें उपयोगी हो सकती हैं लेकिन ये कोई ऐसी ऐतिहासिक दृष्टि विकसित नहीं करतीं जिसे हम शुक्ल जी की इतिहास दृष्टि का विकास मान सकें।

बाद में चलकर डॉ० रामविलास शर्मा ने आधुनिक काल के दो कालखंडों पर स्वतन्त्र रूप से किताबें लिखीं। वे लगभग इतिहास की किताबें हैं उनमें ऐतिहासिक सामग्री भरपूर है। लेकिन उन्हें स्वतन्त्र रूप से इतिहास की किताब मानना, कम- से-कम शुक्ल जी के ढांचे में, सम्भव नहीं है।

भारतेन्दु युग पर डॉ० रामविलास शर्मा ने दो किताबें लिखीं, एक 'भारतेन्दु हरिश्चन्द्र और हिन्दी नवजागरण की समस्याएं' और दूसरी किताब लिखी 'भारतेन्दु हरिश्चन्द्र और हिन्दी विकास की परम्परा।' फिर उन्होंने एक किताब महावीर प्रसाद द्विवेदी पर लिखी 'महावीर प्रसाद द्विवेदी और हिन्दी नवजागरण'। इसमें प्रभूत सामग्री है। 20वीं शताब्दी के आरम्भिक दशकों के बारे में इसमें एक दृष्टि भी है। लेकिन इसे विशुद्ध अर्थ में इतिहास का ग्रन्थ नहीं कहा जा सकता। इस तरह से इतिहास लेखन की परम्परा हजारी प्रसाद द्विवेदी के बाद स्थगित हो जाती है। इसके बाद इतिहास लेखन की दृष्टि पर तो बहुत अकादमिक चर्चा हुई लेकिन इतिहास का कोई ग्रन्थ नहीं लिखा गया। छोटे-मोटे प्रयास जरूर होते रहे हैं। अभी डॉ० विजयेन्द्र स्नातक का 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' साहित्य अकादमी से प्रकाशित हुआ है। बच्चन सिंह ने 'हिन्दी साहित्य का दूसरा इतिहास' लिखा है। बहुत सारे अन्य लोगों ने भी प्रयास किया है लेकिन उनका कोई महत्त्व नहीं है।

आदिकाल

आदिकाल की कालावधि

'आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने हिन्दी साहित्य के इतिहास में 993 से 1318 ई० तक कालखंड को आदिकाल कहा है और कारण है कि यद्यपि भाषा की दृष्टि से आदिकाल की सामग्री 8वीं शताब्दी से मिलने लगती है लेकिन वे साहित्यिक रचनाएं नहीं हैं।' इसलिए जहाँ तक हिन्दी भाषा की शुरुआत का प्रश्न है, शुक्ल जी के अनुसार यह 8वीं शताब्दी से शुरू होता है। शुक्ल जी ने अपभ्रंश की रचनाओं को भी ध्यान में रखा है क्योंकि भाषा की दृष्टि से बहुत महत्त्वपूर्ण है। उन्होंने इन्हें अपने इतिहास में स्थान तो दिया है लेकिन साहित्य में नहीं। 'आगे चलकर आचार्य शुक्ल की उत्तर अपभ्रंश की रचनाओं की इस धारणा को खारिज किया गया। भाषा की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण मानते हुए उनकी चर्चा की गई है। लेकिन इन रचनाओं के आधार पर आचार्य शुक्ल कोई साहित्यिक निर्णय नहीं लेते, इसलिए उन्होंने कहा कि रचनाएं साम्प्रदायिक, उपदेशात्मक, साहित्यिकता से रहित हैं और इनक महत्त्व केवल भाषिक स्तर पर है।

लेकिन बाद में राहुल सांकृत्यायन की खोजों के आधार पर यह मान्यता विकसित और स्वीकृत हुई कि हिन्दी के पहले कवि सरहपा हैं और इनका समय है 760 ईस्वी।

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी या राहुल सांकृत्यायन ने कहा कि जिसे शुक्ल जी धार्मिक साहित्य कह रहे हैं और अपने इतिहास से बाहर निकाल रहे हैं, उस धार्मिक साहित्य को भी साहित्य मानना पड़ेगा। इसलिए सरहपा जब हिन्दी के पहले कवि स्वीकृत हो गये तो हम आदिकाल की आरम्भिक सीमा 8वीं शताब्दी मान सकते हैं। ऐसा शुक्ल जी ने भी माना है लेकिन भाषा की दृष्टि से। इस तरह जो प्रस्थान बिन्दु है वह 8वीं शताब्दी है।

यह इत्तफाक से भी अधिक संयोग है कि यह वही 8वीं शताब्दी है जो शंकराचार्य को पैदा करती है। इसी शंकराचार्य के अद्वैत वेदान्त की प्रतिक्रिया में चार दार्शनिक सम्प्रदाय आये। लेकिन दो का सीधा सम्बन्ध हिन्दी साहित्य से है, वे हैं विशिष्टाद्वैत और शुद्धाद्वैत। विशिष्टाद्वैत का सीधा सम्बन्ध रामकाव्य से है। विशिष्टाद्वैत दर्शन की परम्परा का सम्भवतः पहला दर्शन है जो अवतारवाद को स्थापित करता है। रामानुजाचार्य इसके संस्थापक हैं। शंकर का ब्रह्म निर्गुण है, उदासीन है, लेकिन रामानुजाचार्य का ब्रह्म सगुण है, करुणा और दया से भरा हुआ है। धर्म की रक्षा करने वाला है, वह जीव को सन्तुलित, संगीतात्मक और मर्यादित करने के लिए अवतार ग्रहण करता है। अवतार के दर्शन या अवतार के तर्क की परम्परा का सूत्रपात उन्होंने नहीं किया, क्योंकि महाभारत में स्वयं कृष्ण अवतार की अवधारणा का सूत्रपात कर चुके थे। रामानुजाचार्य ने विशिष्टाद्वैत में उसे एक दार्शनिक आधार दिया। इसी तरह से बल्लभाचार्य ने शुद्धाद्वैत की अवधारणा विकसित की जिसमें कृष्ण काव्य की रचना हुई। शंकर की शताब्दी 8वीं शताब्दी है और यहीं से हिन्दी साहित्य भी शुरू हो रहा है। इस्लाम के आक्रमण की पृष्ठभूमि तैयार करती हुई यह शताब्दी है। इसके साथ-साथ एक ऐसी शताब्दी है जो भाषा की एक नई दिशा का संकेत करती है।

उस समय तीन भाषाएं दिखाई पड़ रही हैं। एक तो संस्कृत है जो अपनी पूरी गरिमा और ताकत के साथ क्रियाशील है। इस भाषा की ताकत का अन्दाज़ा इससे लगाया जा सकता है कि इसी संस्कृत में 8वीं, 9वीं, 10वीं और 11वीं शताब्दी में काव्यशास्त्र के प्रकांड विद्वान पैदा हुए। आनन्द वर्धन 'ध्वनि सम्प्रदाय' के प्रवर्तक, राजशेखर, विश्वनाथ और भर्तृहरि जैसे उद्‌भट विद्वानों का यह कालखंड है। संस्कृत सक्रिय भाषा है, पंडितों की भाषा, विद्वानों की भाषा, शिष्टजनों की भाषा। इसका अर्थ है कि समाज का एक तबका ऐसा है जो बहुत शिष्ट सुसंस्कृत देववाणी के प्रयोग की क्षमता से युक्त है।

लेकिन इसके साथ-साथ एक दूसरी भाषा भी चल रही है, जिसे हम अपभ्रंश के नाम से जानते हैं। यह अपभ्रंश का उत्कर्ष काल है। इसके साथ-साथ एक और भाषा अभी बने की प्रक्रिया में है जिसे कुछ लोगों ने अवहट्ट कहा है, कुछ लोगों ने पुरानी हिन्दी कहा है। आचार्य शुक्ल ने इसे **प्राकृतभास** हिन्दी कहा है। देववाणी के समानान्तर जो अपभ्रंश भाषा है वह भी बहुत व्यवस्थित हो चली है, बहुत शिष्ट हो चली है। वह साहित्य की भाषा है और साहित्य की भाषा के समानान्तर एक बोलचाल की भाषा भी विकसित हो रही है। यही बोलचाल की भाषा उत्तर अपभ्रंश या पुरानी हिन्दी है।

आदिकाल के आरम्भिक साहित्य का जहाँ तक प्रश्न है उसको हम भाषा के आधार पर चिह्नित करते हैं। क्योंकि किसी भी साहित्य की पहचान और विशिष्टता उसकी भाषा के आधार पर ही हो पायेगी। इसलिए अपभ्रंश से भिन्न बोलचाल की भाषा के आधार पर एक नए तरीके का साहित्य भी धीरे-धीरे विकसित होता हुआ दिखाई देता है। जब भाषा बदलती है तो भाषा यों ही नहीं बदलती, भाषा के बदलने का अर्थ सामाजिक सम्बन्धों का बदलाव है। भाषा का बदलाव दरअसल जीवन-मूल्यों, जीवन-पद्धतियों के बदलाव के अभिलक्षण हैं। यह भीतर से बदलते हुए समाज की अनुगूँज है। तो आदिकाल में भाषा की जो ये तीन प्रकार की परतें दिखाई पड़ रही हैं इसका अर्थ है कि तीन प्रकार के समाज मौजूद हैं। जो क्लैसिकल समाज है, पवित्र, निष्कलंक, शिष्ट, उसकी भाषा संस्कृत है।

अपभ्रंश को अमीरों की भाषा कहा जाता है। स्थानीय जमींदार जो राजा हो गये थे और संस्कृत नहीं समझ सकते थे, उन राजाओं की राजभाषा अपभ्रंश थी। इन दोनों प्रकार के राजदरबारों से बाहर जो एक विराट समाज था, उसके लिए जो अब भाषा बन रही थी, उस भाषा की अनेक छवियां और स्थितियां उस भाषा में दिखाई देती हैं जिस भाषा के साहित्य को हम आदिकालीन साहित्य कहते हैं। इन तीन अभिलक्षणों में पहला अभिलक्षण है **तत्सम शब्दों की बहुलता**। अपभ्रंश में तत्सम शब्दों का प्रयोग अपेक्षाकृत कम था, लगभग नहीं के बराबर था। लेकिन जहाँ से यह दिखाई पड़ने लगता है कि भाषा में तत्सम अधिक प्रवेश करने लगे हैं —जैसे सरहपा की कविता में रवि, शशि, प्रकाश, रात्रि, गृह ये संस्कृत के शब्द हैं। इनके प्रयोग की बहुलता दिखाई पड़ने लगती है। इसलिए जहाँ पर तत्सम शब्दों की बहुलता का प्रचलन बढ़ता है वहाँ चिह्नित किया गया कि यह अपभ्रंश से कोई भिन्न भाषा है। अभी इसका कोई रूप नहीं बना है। लेकिन भाषा बदल रही है।

दूसरा चिह्न लगाया गया **परसर्गों की बहुलता**। परसर्ग का अर्थ होता है—दो वस्तुओं में सम्बन्ध बताने वाले चिन्ह। अपभ्रंश में जो परसर्ग थे, वे अलग से नहीं थे। संस्कृत में भी परसर्ग अलग से नहीं होता। जैसे—बालकम, बालके, बालकेन। हिन्दी में अलग से लगाया जाता है और यह हिन्दी की बुनियादी पहचान है। इसलिए शब्द में अलग से परसर्ग लगाने की प्रवृत्ति, जो हिन्दी भाषा की अपनी पहचान है, वह दिखाई पड़ने लगती है।

एक तीसरी प्रवृत्ति दिखाई पड़ी, जिसे विद्वानों ने **क्षतिपूर्ति दीर्घीकरण** कहा है। शब्द में क्षति, फिर उसकी पूर्ति। जब पूर्ति होती है तो शब्द बड़ा हो जाता है। दीर्घीकरण का अर्थ आकार से है, जैसे अपभ्रंश में अधिकतर शब्द द्वित्व प्रधान थे। दो संयुक्त अर्थ अपभ्रंश का विशुद्ध शब्द है। इस क्षतिपूर्ति दीर्घीकरण के नियम के

अनुसार जो आधा 'ध' था वह खत्म हो गया और आधा 'ध' की जगह 'ह' में अकार हो गया तो शब्द हो गया हाथ। हथ्थ अपभ्रंश है, हाथ हिन्दी है। तो इस तरह से हाथ, काम आदि शब्दों का जब प्रचलन बढ़ने लगा तब यह महसूस किया गया कि यह भाषा थोड़ी अलग है। इसका बिल्कुल स्पष्ट रूप 12वीं, 13वीं शताब्दी में जाकर निखरता है, लेकिन 8वीं, 9वीं शताब्दी में भाषा में बदलावों के चिह्न दिखाई पड़ने लगते हैं। इस तरह से आदिकाल की आरम्भिक सीमा को सहरपा से मान लिया गया है।

आदिकाल की अन्तिम सीमा पर खड़े हैं विद्यापति। विद्यापति को आचार्य शुक्ल जी ने फुटकल खाते में रखा है। इसका अर्थ है कि वह भक्तिकाल में नहीं है और आदिकाल में भी नहीं है। लेकिन जो समय शुक्ल जी ने तय किया यानी सम्वत् 1318, विद्यापति उस समय के बाद के कवि हैं। लेकिन अधिकांश विद्वानों ने कहा कि विद्यापति को आदिकाल के अन्तर्गत ही रखा जाना चाहिए। शुक्ल जी ने भक्तिकाल में तो रखा नहीं, आदिकाल के परिशिष्ट में डाल दिया। तो विद्यापति को अन्तिम कवि माना गया है और विद्यापति का समय 1375 के आस-पास है।

हिन्दी साहित्य का आरम्भ सरहपा से और उसी आदिकाल का अन्त विद्यापति जैसे शृंगारिक कवि से होता है। यह हिन्दी जाति और चेतना का वह अन्तर्विरोध है जो इन दोनों कवियों में दिखाई देता है। हिन्दी जाति अन्तर्विरोधी से भरी हुई जाति है। इसलिए हिन्दी जाति का अन्तर्विरोध, भारतीय दर्शन, भारतीय चिन्तन और भारतीय मूल्यों का अन्तर्विरोध है। हजारी प्रसाद द्विवेदी ने लिखा है कि हमारी वर्ण-व्यवस्था अद्भुत है कि नीच-से-नीच समझी जाने वाले जाति भी अपने से नीचे एक जाति का अन्वेषण कर लेती है। सरहपा एक तरह से वज्रयान शाखा के रचनाकार हैं। साधना पर, आध्यात्मिकता पर, संसार की नश्वरता पर बात करते हैं। विद्यापति जो हिन्दी कविता के शृंगारिक परम्परा के जयदेव कहे जाते हैं, एक ऐसी दुनिया की सृष्टि करते हैं जो गुलाबों से भरी हुई है। रामकुमार वर्मा ने कहा कि विद्यापति का समूचा संसार गुलाबों से भरा है और विद्यापति के गुलाबों की दुनिया में कोई कांटे नहीं होते। राधा रात भर जागती है और आकांक्षा करती है कि इस रात की सुबह न हो। ये हो सरहदें हैं जिनके बीच हिन्दी कविता अपनी विकास-यात्रा का सोपान तय करती है। इस तरह से 8वीं से 14वीं शताब्दी आदिकाल का समय है।

आदिकालीन परिस्थितियां

आदिकालीन समाज का आधार वर्ण-व्यवस्था है। मोटे तौर पर कह सकते हैं कि जो आदिकाल का समाज है वह **सामन्तवादी समाज** है। सामन्तवाद के जो अभिलक्षण

हैं उन्हें कई सन्दर्भों में देखा जा सकता है। सामन्तवाद का आर्थिक आधार कृषि है तथा सामन्तवाद के जीवन-मूल्यों को संचालित करने वाली मूल इकाई धर्म है। वहाँ धर्म जीवन की गति, जीवन की दिशा, जीवन के औचित्य का निर्धारण करता है।

वर्ण-व्यवस्था आदिकालीन समाज का नकारात्मक पक्ष है। इस व्यवस्था ने लड़ने का काम एक को दिया, वाणिज्य का काम एक को दिया, चिन्तन और पढ़ाने का या शिक्षा का काम एक को दिया और सेवा का काम एक को दिया और इस तरह से समाज अलग-अलग भागों में खंडित कर दिया गया। इसलिए यह सामाजिक एक्य की चेतना के खिलाफ एक चेतना थी। इसलिए भक्ति आन्दोलन सबसे पहले इसी सामाजिक व्यवस्था से टकराता है। यदि आदमी और आदमी के बीच अस्पृश्यता का सम्बन्ध बना हुआ है और शूद्र और कोई ब्राह्मण बनकर बैठा हुआ है तो धर्म व्यर्थ है। आदमी की एकता को सम्मानित किये बिना किसी भी धर्म का, किसी भी दर्शन का, किसी भी नैतिक मूल्य का कोई भी अर्थ नहीं हो सकता। सामन्तवाद में स्त्री-पुरुष के दम्भ का, उसके वर्चस्व का, उसकी क्षमता और मर्दानगी का माध्यम है।

सामन्तवाद में स्त्री को कोई स्वाधीनता नहीं है। दरअसल स्त्री की निरन्तर पराधीनता ही उसकी पारिवारिक और सामाजिक प्रतिष्ठा का आधार है। वस्तुतः सामन्तवादी व्यवस्था में स्त्री सम्पत्ति का हिस्सा है। वह पुरुष के शौर्य प्रदर्शन का एक बहाना है। इसलिए जिन राजकुमारियों की शादियां बिना युद्ध के या साधारण तरीके से हो जाती थीं, उस राजकुमारी को बिना नमक की सब्जी की तरह देखा जाता था, बिल्कुल फीकी, महत्त्वहीन। स्त्री का महत्त्व राजघरानों में इस तरह निर्भर करता था कि कितने युद्धों और हत्याओं के बाद इसे यहाँ तक पहुंचाया गया है।

सामन्तवाद अपनी इन तमाम विशेषताओं के साथ एक और विशेषता रखता है और वह **मूल्यों की अतार्किकता**। इसलिए अच्छा और बुरा, पाप और पुण्य, करणीय और अकरणीय यह बहुत स्थिर है। नियति का, भाग्यवाद का, उस सामाजिक परिवेश में बहुत जोर है। इन सामाजिक परिस्थितियों से आदिकाल का मन तैयार हुआ है।

आदिकाल में **धार्मिक परिवेश** में धर्म अपनी धुरी से नीचे उतर गया है। धर्म के जितने उत्स थे वे सभी विकृत हो गये हैं। जो सनातन धर्म है इसमें दो-तीन मुख्य धाराएं हैं जैसे वैष्णव, शाक्त और शैव। इनका ताप लगभग खत्म हो गया है। कर्मकांड की प्रधानता वैष्णव धर्म में बहुत ज्यादा है। बाद में इस वैष्णव धर्म को मानवीय आधार देने का काम भक्ति आन्दोलन ने किया। वैष्णव कर्मकांड के जिस स्तर पर जी रहा है, वैसा ही कर्मकांड बौद्ध धर्म में भी है। जीवन के सदाचार और

कर्मकांडहीनता को और करुणा को बुद्ध ने धर्म की शाश्वत परिभाषा कहा था। लेकिन यही धर्म अपनी धुरी से टूटकर कर्मकांड के पर्याय के रूप में विकसित हो गया। हीनयान और महायान के रूप में आरम्भ में विभाजन हुआ और महायान को कई शाखाएं आयीं जिसमें वज्रयान बहुत प्रसिद्ध शाखा है। वज्रयान में तन्त्रवाद एवं जादू-टोटकावाद बहुत फैला।

इस प्रकार बौद्ध धर्म की मूल चेतना विलुप्त हो गई थी। बौद्ध विहारों में व्यभिचार का आतंक था। कर्मकांड के स्तर पर जैन धर्म बहुत सुरक्षित था। पवित्रता को बहुत महत्त्व दिया जा रहा था। लेकिन पवित्रता जीने की चीज नहीं थी बरतने की चीज थी। इस तरह से जैन धर्म प्रकारान्तर से आत्म-पीड़न के पर्याय के रूप में विकसित हो रहा था। इसलिए महावीर ने जो कहा था उसके अन्धानुकरण की प्रवृत्ति शुरू हुई।

राजनीतिक परिस्थितियों की दृष्टि से यह राजनैतिक अस्थिरता का काल है। हर्षवर्धन की मृत्यु के बाद अखिल भारतीयता की चेतना का विलुप्तीकरण शुरू होता है। राष्ट्र की अवधारणा उस समय नहीं थी, लेकिन इसके बावजूद हर्षवर्धन तक एक समग्रता का बोध बना हुआ था। किन्तु हर्षवर्धन की मृत्यु के बाद केन्द्र के कमजोर हो जाने की वजह से भीतरी विघटन की प्रक्रिया शुरू होती है और साथ साथ सीमान्तों पर आक्रमण की प्रक्रिया भी। इसलिए बाहरी आक्रमणों और आन्तरिक महत्त्वाकांक्षाओं के द्वन्द्व के कारण देश की राजनीतिक संरचना चरमराती है। एक व्यापक और समग्र राजनीतिक चेतना का अभाव इस कालखंड में स्पष्टत: दिखाई देता है। देश की आन्तरिकता के स्तर पर पूरा देश छोटे-छोटे युद्धों से ग्रस्त हुआ दिखाई पड़ता है।

इसलिए एक समग्र राजनीतिक दृष्टि से आदिकाल घोर विपन्नता का काल है। इसी कालखंड में इस्लाम आता है और स्थापित होता है। इसके बहुत दूरगामी परिणाम और प्रभाव हमें समाज पर, कलाओं पर, साहित्य पर और मूल्यों पर दिखाई देते हैं।

इस्लाम के आगमन के कारण सामाजिक और सांस्कृतिक स्तर पर इतिहास के उस कालखंड में इस देश ने एक अभूतपूर्व तनाव का सामना किया लेकिन धीरे-धीरे समाहिति की प्रक्रिया चलती है और इस्लाम अनेक स्तरों पर और अनेक क्षेत्रों में, जिसे भारतीय हिन्दू संस्कृति कहते हैं, उस पर अपना बहुत गहरा प्रभाव डालता है।

आदिकाल में इस्लाम और हिन्दुत्व के एकीकरण की जो प्रक्रिया शुरू हुई उसकी परिणति आगे चलकर सूफी काव्य में हुई, जिसे शुक्ल जी ने प्रेमाश्रय काव्य कहा है। स्थापत्य, खान-पान में, रहन-सहन में बहुत सारी चीजें लेकर इस्लाम

कर्मकांडहीनता को और करुणा को बुद्ध ने धर्म की शाश्वत परिभाषा कहा था। लेकिन यही धर्म अपनी धुरी से टूटकर कर्मकांड के पर्याय के रूप में विकसित हो गया। हीनयान और महायान के रूप में आरम्भ में विभाजन हुआ और महायान की कई शाखाएं आयीं जिसमें वज्रयान बहुत प्रसिद्ध शाखा है। वज्रयान में तन्त्रवाद एवं जादू-टोटकावाद बहुत फैला।

इस प्रकार बौद्ध धर्म की मूल चेतना विलुप्त हो गई थी। बौद्ध विहारों में व्यभिचार का आतंक था। कर्मकांड के स्तर पर जैन धर्म बहुत सुरक्षित था। पवित्रता को बहुत महत्त्व दिया जा रहा था। लेकिन पवित्रता जीने की चीज नहीं थी बरतने की चीज थी। इस तरह से जैन धर्म प्रकारान्तर से आत्म-पीड़न के पर्याय के रूप में विकसित हो रहा था। इसलिए महावीर ने जो कहा था उसके अन्धानुकरण की प्रवृत्ति शुरू हुई।

राजनीतिक परिस्थितियों की दृष्टि से यह राजनैतिक अस्थिरता का काल है। हर्षवर्धन की मृत्यु के बाद अखिल भारतीयता की चेतना का विलुप्तीकरण शुरू होता है। राष्ट्र की अवधारणा उस समय नहीं थी, लेकिन इसके बावजूद हर्षवर्धन तक एक समग्रता का बोध बना हुआ था। किन्तु हर्षवर्धन की मृत्यु के बाद केन्द्र के कमजोर हो जाने की वजह से भीतरी विघटन की प्रक्रिया शुरू होती है और साथ साथ सीमान्तों पर आक्रमण की प्रक्रिया भी। इसलिए बाहरी आक्रमणों और आन्तरिक महत्त्वाकांक्षाओं के द्वन्द्व के कारण देश की राजनीतिक संरचना चरमराती है। एक व्यापक और समग्र राजनीतिक चेतना का अभाव इस कालखंड में स्पष्टतः दिखाइ देता है। देश की आन्तरिकता के स्तर पर पूरा देश छोटे-छोटे युद्धों से ग्रस्त हुआ दिखाई पड़ता है।

इसलिए एक समग्र राजनीतिक दृष्टि से आदिकाल घोर विपन्नता का काल है। इसी कालखंड में इस्लाम आता है और स्थापित होता है। इसके बहुत दूरगामी परिणाम और प्रभाव हमें समाज पर, कलाओं पर, साहित्य पर और मूल्यों पर दिखाई देते हैं।

इस्लाम के आगमन के कारण सामाजिक और सांस्कृतिक स्तर पर इतिहास के उस कालखंड में इस देश ने एक अभूतपूर्व तनाव का सामना किया लेकिन धीरे-धीरे समाहिति की प्रक्रिया चलती है और इस्लाम अनेक स्तरों पर और अनेक क्षेत्रों में, जिसे भारतीय हिन्दू संस्कृति कहते हैं, उस पर अपना बहुत गहरा प्रभाव डालता है।

आदिकाल में इस्लाम और हिन्दुत्व के एकीकरण की जो प्रक्रिया शुरू हुई उसकी परिणति आगे चलकर सूफी काव्य में हुई, जिसे शुक्ल जी ने प्रेमाश्रय काव्य कहा है। स्थापत्य, खान-पान में, रहन-सहन में बहुत सारी चीजें लेकर इस्लाम

आया था और वे सारी चीजें धीरे-धीरे हमारे जीवन में समाहित हुई क्योंकि इस्लाम एक स्तर पर शासक का धर्म भी था।

एक तरह से हिंदू जाति के मानसिक आयतन को बढ़ाने में इस्लाम की भूमिका ऐतिहासिक सिद्ध हुई। इस प्रकार जिन राजनीतिक स्थितियों के साथ यह युग शुरू होता है उसमें आरम्भिक स्तर पर बहुत कोलाहल है, तनाव है, सामाजिक-राजनीतिक तनाव है, लेकिन धीरे-धीरे इस्लामी सत्ता की स्थापना के साथ-साथ ये जो आन्तरिक युद्ध की स्थितियां हैं, वह कमतर होने लगती हैं और सामाजिक तनाव भी धीरे-धीरे सीमित होता है। यह प्रक्रिया ही अन्ततः हिन्दी कविता को भक्तिकाल के मुहाने तक पहुंचाती है।

जहाँ तक साहित्य, कला और संस्कृति का प्रश्न है तो जाहिर है इन सबका प्रभाव पड़ता है आदमी के चिन्तन और कविता पर भी। जो संक्रमण का दौर है वह कला और रचनात्मकता के स्तर पर बहुत उर्वर हुआ करता है। सामाजिक और राजनीतिक स्तर पर जितना बड़ा संघर्ष होगा उतनी ही बड़ी कला और उतना ही बड़ा मनुष्य भी पैदा होगा।

यह काव्यशास्त्रीय चिन्तन के क्षेत्र में उपलब्धियों का कालखंड है। संस्कृत के क्षेत्र में आनन्दवर्धन, अभिनव गुप्त, राजशेखर जैसे महान काव्यशास्त्री पैदा हुए। स्थापत्य के क्षेत्र में विस्मयकारी विकास का दौर है। कोर्णाक, खजुराहो और माउंट आबू के जैन मन्दिर इसी दौर के ढांचे में निर्मित हुए। संगीत के क्षेत्र में अनेक राग-रागनियों में इस्लाम के प्रभाव से संगीत की धाराओं व वाद्य यन्त्रों का निर्माण इस कालखंड में हुआ। अपभ्रंश और संस्कृत के अनेक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ इस कालखंड में लिखे गये। अपभ्रंश के वाल्मीकी कहे जाने वाले स्वयंभू की रचना का काल भी यही हैं। इस तरह से आदिकाल का यह परिवेश अपनी गति में, अपनी सृजनात्मकता में अभूतपूर्व कहा जा सकता है। इसी परिवेश के भीतर आदिकाल की समूची सामग्री का निर्माण हुआ है।

आदिकाल की जो रचना सामग्री है उसे मोटे तौर पर तीन क्षेत्रों में बांटा जा सकता है —पहला **धार्मिक साहित्य** जिसके अन्तर्गत सिद्ध, नाथ और जैनियों का साहित्य आता है। दूसरा **राजाश्रित साहित्य** जिसे हम रासो काव्य भी कह सकते हैं। और तीसरा **लोक काव्य** जिसे लोकाश्रित काव्य भी कह सकते हैं, जिसका धर्म और राजदरबार से कुछ लेना-देना नहीं था, जो जनता के बीच और जनता की बोली-बानियों और परिस्थितियों के सन्दर्भ में लिखा गया था। सन्देश रासक, बसन्त विलास, ढोला मारू रा दोहा, विद्यापति की पदावली और अमीर खुसरो की पहेलियां-मुकरियां, इन सभी को लोक साहित्य के अन्तर्गत ले लिया जाता है। ये तीन प्रकार की सामग्री इस युग परिवेश के भीतर निर्मित हुई हैं।

आदिकाल का नामकरण

आदिकाल के नामकरण को लेकर बहुत विवाद है। इस विवाद के अनेक कारण हो सकते हैं। विवाद का एक कारण यह है कि आदिकाल की साहित्यिक सामग्री के प्रति अलग-अलग इतिहासकारों की अलग-अलग समझ है। एक कारण यह हो सकता है कि यह साहित्य का ही नहीं बल्कि इतिहास का भी बहुत संक्रमित काल है। सामाजिक संरचनाओं में एक हलचल दिखाई दे रही है—इसलिए जो मूल्यों और जीवन-पद्धतियों की स्थिरता है उसमें टूट-फूट की प्रक्रिया है।

सामाजिक जीवन की अस्थिरता के कारण रचनाओं के भीतर अन्तर्विरोधी चेतना है। उन अन्तर्विरोधों के कारण भी नामकरण पर सहमति नहीं हो पाती। जैसे एक इतिहासकार देखता है--युद्ध काव्यों की बहुलता है। दूसरा देखता है कि धार्मिक काव्यों की बहुलता है। तीसरा देखता है कि एक नयी प्रकार की लोक चेतना का बहुत गहरा प्रभाव इस समय है तो किसे केन्द्रीय मानें। इसको लेकर विवाद हो सकते हैं। नामकरण के विवाद का प्रश्न इस अनिर्दिष्टता से भी जुड़ा हुआ है।

इस विवाद का एक और भी कारण हो सकता है कि आदिकाल की **रचना सामग्री** को लेकर बहुत मतभेद हैं। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने जिन रचनाओं को लेकर इस काल का नामकरण किया था बाद में पता चला कि उनमें से अधिकांश रचनाएं या तो अनुपलब्ध हैं या बाद की है। अत: इस कालखंड की **रचना सामग्री में प्रामाणिकता का अभाव** है।

अधिकांश रासो साहित्य के सम्बन्ध में काव्यभाषा की दृष्टि से बाद में पता चला कि 14वीं शताब्दी के बाद लिखे गये हैं। जो भी प्रामाणिक प्रतियां उपलब्ध हैं उनमें कोई भी 10वीं शताब्दी की नहीं हैं। इन्हें आचार्य शुक्ल 10वीं--11वीं शताब्दी का मान रहे थे। ये कुछ कारण हैं जो आदिकाल के नामकरण को विवादास्पद बना देते हैं।

आदिकाल के नामकरण का पहला प्रयास हिन्दी साहित्य के इतिहास में जार्ज **ग्रियर्सन** ने किया। ग्रियर्सन विशेष तौर पर राजस्थानी साहित्य के बहुत मर्मज्ञ विद्वान हैं और ग्रियर्सन ने राजस्थान में लिखे गये वीर काव्यों को बहुत प्रमुखता दी। इस आधार पर उन्होंने इसे **'चारण काव्य'** कहा। यानी इस युग का पूरा साहित्य राजाश्रय में लिखा गया साहित्य है। राजाश्रय में लिखे गये इस साहित्य के केन्द्र में आश्रयदाता हैं। इसमें उस आश्रयदाता के वैभव का, उसकी विलासप्रियता का, उसकी [illegible] का अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णन किया गया है। इसलिए ग्रियर्सन ने कहा [illegible]

ग्रियर्सन की यह मान्यता स्वीकृत नहीं हो पायी। इसका कारण ग्रियर्सन की स्थापनाओं के अन्तर्विरोध में है। ग्रियर्सन आदिकाल को चारण काल कहते हैं और इसकी समय सीमा 7वीं शताब्दी से आरम्भ करते हैं। इस शताब्दी में कोई चारण काव्य नहीं है। एक भी ऐसा हिन्दी का ग्रन्थ नहीं है जिसे 7वीं शताब्दी में लिखा गया हो। अगर वह मिलता भी है तो 11वीं शताब्दी के आस-पास मिलता है। इसलिए ग्रियर्सन जिस साहित्यिक कालखंड को चारण काल कह रहे हैं कि उस कालखंड में चारणता से सम्बन्धित कोई रचना नहीं है।

इस तरह से काल, सीमा और साहित्यिक प्रवृत्ति के बीच कोई सन्तुलन और सामंजस्य ग्रियर्सन नहीं बैठाते हैं। एक तो इस नामकरण की सीमा यही है कि स्वयं ग्रियर्सन जो काल सीमा निर्धारित करते हैं उस काल सीमा में किसी भी चारण रचना का उल्लेख वे नहीं कर पाते।

दूसरी, बाद में चलकर जो स्थिति विकसित हुई कि उस कालखंड में जो रचना सामग्री है वह सिर्फ रासो काव्य नहीं है, उसमें धार्मिक साहित्य है, उसमें अमीर खुसरो हैं, उसमें विद्यापति हैं और कई लोक साहित्य हैं और कई ऐसे रासो काव्य हैं जिनका सम्बन्ध चारणता से नहीं है, जैसे वीसलदेव रासो। इसलिए इस युग की लोक चेतना को आच्छादित करने में यह नाम अपर्याप्त है। इस नाम से इस युग की [illegible]भी काव्य प्रवृत्तियों और जनता की चित्तवृत्तियों का उचित प्रतिनिधित्व नहीं हो [illegible]ाता। इसलिए इतिहासकारों के इस नाम को अपर्याप्त मानते हुए छोड़ दिया।

नामकरण का दूसरा प्रयास '**मिश्रबन्धुओं**' ने किया और उन्होंने आदिकाल को '**प्रारम्भिक काल**' कहा।

प्रारम्भ और आदि ये एक ही अर्थ के लिए अलग-अलग शब्द हैं। इसलिए प्रारम्भिक काल आदिकाल से भिन्न कोई अर्थ नहीं देता। अतः इस नामकरण का औचित्य अपने-आप खारिज हो जाता है। दरअसल जो प्रारम्भिक और आदि है उसमें 'आदि' अधिक सटीक नाम हो सकता है। **आदि में जो परम्परा के प्रवाह का बीज तत्त्व है वह मौजूद रह सकता है**, जैसे हम कहे हैं कि हमारे आदि पूर्वज हमारा आदि ग्रन्थ। लेकिन प्रारम्भिक काल में वह अर्थ विस्तार नहीं है। अतः उसे इसलिए खारिज करना पड़ा क्योंकि एक तो वह आदि का पर्यायवाची है और दूसरे प्रारम्भिक काल की तुलना में आदि शब्द में अधिक अर्थ विस्तार की सम्भावनाएं हैं। साथ ही यह नाम किसी प्रवृत्ति की तरफ संकेत नहीं करता। साहित्य में जब भी नामकरण किया जाता है तो उस नामकरण को उस युग की साहित्यिक प्रवृत्तियों की तरफ भी संकेत करना चाहिए, जो यह नाम नहीं करता।

हिन्दी साहित्य के इतिहास के वास्तविक प्रवर्तक **आचार्य रामचन्द्र शुक्ल**

आदिकाल के लिए सर्वथा नया नाम लेकर आये–**वीरगाथाकाल**। बहुत समय तक यह नाम स्वीकृत रहा। लेकिन बाद में चलकर पं० हजारी प्रसाद द्विवेदी ने आदिकाल की सामग्री पर अलग से प्रकाश डाला और आदिकाल पर सम्पूर्णता से बहस शुरू हुई। रचनाओं की प्रामाणिकता और उपलब्धता मुद्दे बने। तब से इस नामकरण की स्वीकृति कम होने लगी और आज की तारीख में वीरगाथा काल नाम आदिकाल के लिए स्वीकृत नहीं है।

लेकिन हम पहले यह देखने की कोशिश करेंगे कि आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने किन आधारों पर इस कालखंड का नाम वीरगाथा काल किया। शुक्ल जी जैसा बेहद चौकन्ना, सजग, जवाबदेहियों से भरा हुआ इतिहासकार क्यों इस तरह का नामकरण करता है? जबकि शुक्ल जी जानते थे कि एक तरफ लोक साहित्य है और दूसरी तरफ धार्मिक साहित्य भी है और जितने ग्रन्थ रासो काव्य हैं वे सभी वीर काव्य नहीं हैं। लेकिन फिर भी उन्होंने वीरगाथा काल कहा। इसलिए जाहिर है कि शुक्ल जी के पास कुछ-न-कुछ तर्क रहा होगा।

आचार्य शुक्ल का पहला तर्क तो यह है कि यद्यपि हिन्दी साहित्य का आरम्भ 8वीं शताब्दी से हो जाता है लेकिन 8वीं से लेकर 10वीं शताब्दी तक साहित्य की कोई निर्दिष्ट प्रवृत्ति या धारा नहीं दिखाई देती। इन आरम्भिक 200 वर्षों के भीतर कई प्रकार की रचनाएं मिलती हैं, कुछ धार्मिक रचनाएं मिलती हैं, कुछ नीतिपरक रचनाएं मिलती हैं, कुछ शृंगारिक रचनाएं मिलती हैं। लेकिन इन रचनाओं से किसी साहित्य की निर्दिष्ट प्रवृत्ति का पता नहीं चलता। इसलिए जब मुसलमानों की चढ़ाइयों का आरम्भ होता है तब हम रचना को एक विशिष्ट दिशा में गठित होते हुए महसूस करते हैं और वह दिशा रासो काव्यों की है।

इस प्रकार एक तर्क तो उनका यह है कि हम आरम्भिक 200 वर्षों को इसलिए शामिल नहीं कर सकते क्योंकि न तो कोई दिशा है, न प्रवृत्ति है, न उसकी पहचान बन पाती है। दूसरा तर्क उनका था कि धार्मिक रचनाओं को शामिल करके कम से- कम साहित्यिक इतिहास में कालखंड का नामकरण नहीं किया जा सकता।

धार्मिक रचना और साहित्य में आचार्य शुक्ल ने फर्क किया और उन धार्मिक रचनाओं के बारे में उन्होंने कहा कि ये रचनाएं साम्प्रदायिक प्रचार के लिए लिखी गई रचनाएं हैं। इन रचनाओं में मनुष्य का हृदय और जीवन की अनुभूतिपरक प्रसंगों का अभाव है। इसलिए जो प्रचार मात्र है वह साहित्य नहीं हो सकता और जो साहित्य नहीं हो सकता, नामकरण के लिए उसका आधार लेने का कोई कारण नहीं रह जाता। इसलिए आचार्य शुक्ल यह जानते थे कि धार्मिक साहित्य की एक धारा है, लेकिन वे उसे नामकरण के आधार के रूप में स्वीकृत नहीं करते। उन्होंने

आदिकाल की 12 रचनाओं–खुमाण रासो, बीसलदेव रासो, पृथ्वीराज रासो, विजयपाल रासो, परमाल रासो, जयचन्द प्रकाश, जयमयंक जस चन्द्रिका, खुसरो की पहेलियां, विद्यापति की पदावली, हमीर रासो, कीर्ति लता और कीर्ति पताका को नामकरण का आधार बनाया। इन 12 ग्रन्थों में रासो ग्रन्थों की बहुलता है।

शुक्ल जी ने यह तर्क दिया कि रासो ग्रन्थों की प्रचुरता उसकी लोकप्रियता का प्रमाण है और लोकप्रियता किसी भी समाज की लोक प्रवृत्ति को प्रतीकित करती है। उन्होंने इस सन्दर्भ में दो तर्क दिये, प्रचुरता और लोकप्रियता। रासो काव्य अधिकतर शृंगार और युद्ध पर आधारित कृतियाँ हैं। इसलिए युद्ध की लोकप्रियता या युद्ध की मानसिकता उस पूरे समाज में मौजूद है। इसलिए रासो काव्य उस युग के मानस का प्रतिनिधित्व करते हैं। फिर उन्होंने यह तर्क दिया कि युद्ध उस समय के समाज और इतिहास का सच भी है इसलिए सामाजिक, ऐतिहासिक सच रचनाओं की प्रचुरता यानी रासो काव्यों की प्रचुरता, उसकी लोकप्रियता और लोक स्वीकृति, ये सब मिलकर यह सिद्ध करते हैं कि आदिकाल इस काल की प्रामाणिक और प्रतिनिधि काव्यधारा है वह रासो काव्य है और रासो काव्य का विषय चूँकि वीरता है, इसलिए इस काल को वीरगाथा काल कहा जाना चाहिए। इसमें कोई सन्देह नहीं है कि आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की तर्क-पद्धति का जहाँ तक प्रश्न है उससे असहमति का कोई कारण नहीं दिखाई देता, लेकिन इसके बावजूद इस नामकरण की सीमाएं हैं।

असहमति का पहला बिन्दु तो यह है कि धार्मिक रचनाओं को छोड़कर इस युग का नामकरण औचित्य पूर्ण नहीं हो सकता। धर्म के आधार पर किसी भी रचना को साहित्य की बिरादरी से बाहर नहीं निकाला जा सकता। धर्म, नीति और उपदेश इन पर आधारित रचनाएं भी साहित्यिक हो सकती हैं। जैसे रहीम ने जो नीतिपरक दोहे लिखे हैं उन्हें हम कहाँ ले जायेंगे, वह हमारी साहित्यिक सम्पदा है।

अतः पहली सीमा यह बताई गई कि वीरगाथा काल नाम अपने समय की बहुत महत्त्वपूर्ण रचना-सामग्री की उपेक्षा करता है। दूसरी सीमा यह बतायी गई कि वीरगाथा काल नामकरण जिन रचनाओं के आधार पर किया गया है प्रायः ये सभी रचनाएं या तो अप्रामाणिक हैं या परवर्ती हैं।

जयचन्द्र प्रकाश और जयमयंक जस चन्द्रिका का कहीं उल्लेख नहीं मिलता है। ये रचनाएँ अनुपलब्ध हैं। खुमान रासो की एक आध पंक्तियाँ कहीं उद्धृत की गई हैं, ग्रन्थ अनुपलब्ध है। हमीर रासो उपलब्ध नहीं है। कीर्ति लता और कीर्ति पताका अवहट्ट की रचनाएं है। विद्यापति पदावली का सम्बन्ध वीरता से नहीं है। अमीर खुसरो की पहेलियों का सम्बन्ध वीरता से नहीं है और जो ग्रन्थ उपलब्ध हैं वे परवर्ती हैं।

अतः आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की तर्क-पद्धति के प्रति पूरा सम्मान होते हुए भी सामग्री की उपलब्धता के आधार पर और प्रवृत्तियों की निरन्तरता के आधार पर इस समय को आदिकाल कहना अधिक तर्कसंगत और युक्तिसंगत है।

आदिकाल की प्रवृत्तियां

1. विविध और परस्पर विरोधी काव्य प्रवृत्तियों का समाहार

आदिकाल की पहली प्रवृत्ति जो हमारा ध्यान आकृष्ट करती है वह है विविध और परस्पर विरोधी काव्य-प्रवृत्तियों का समाहार। हम कह सकते हैं कि अन्तर्विरोधी चेतना से युक्त रचनात्मकता आदिकाल में दिखाई देती है। इसका कारण तत्कालीन परिवेश है।

आदिकाल की कविता एक ऐसे परिवेश की उपज है जिसे इतिहास की शब्दावली में संक्रमण का काल कहा जा सकता है। यह ऐतिहासिक दृष्टि से संक्रमण और अनिश्चय का काल है। केन्द्रीकृत शासन-व्यवस्था क्रमशः छोटे राज्यों और जमींदारियों में विभाजन, सामाजिक और धार्मिक स्तर पर सर्वानुभूति की चेतना का अभाव इस संक्रमण के प्रमाण हैं। यह संक्रमण इस युग की रचना-सामग्री में एक प्रकार का अन्तर्विरोध पैदा करता है। इस युग से बाहर निकलकर भी हम इतिहास में देख सकते हैं कि जब-जब कोई भी समाज संक्रमण की प्रक्रिया से गुजरता है तो उस समाज की चेतना और उस साहित्य की चेतना अन्तर्विरोधों से ग्रस्त दिखाई देती है। उदाहरण के लिए हम आधुनिक युग के भारतेन्दु-युग को देख सकते हैं।

परिवेशगत संक्रमणशीलता के कारण ही आदिकाल की रचना-सामग्री में अनेक प्रकार की प्रवृत्तियां दिखाई देती हैं। जो एक-दूसरे से टकराती हुई विकसित होती हैं। एक तरफ धार्मिक साहित्य है और दूसरी तरफ राजाश्रित साहित्य। धार्मिक साहित्य में जीवन की ऐहिकता के प्रति, भोगवाद के प्रति, सांसारिकता के प्रति विरक्ति का भाव है तो राजाश्रित साहित्य में ऐहिकता के प्रति एक दुर्निवार आकर्षण दिखाई देता है। एक तरफ राजदरबारों का वैभव है और दूसरी तरफ लोक साहित्य है जिसमें औसत और आम आदमी की जीवन परिस्थितियों की गाथाएं मौजूद हैं। इसलिए राज और लोक का भी अन्तर्विरोध है। इस तरह से अलग-अलग वर्ग अलग-अलग जीवन परिस्थितियों, जिंदगी के प्रति अलग-अलग समझ से भरा हुआ आदिकाल का साहित्य है जिसमें एक सम्बन्ध तो दिखाई देता है लेकिन यह अन्तर्विरोधों का सम्बन्ध है, सहमतियों का नहीं।

आदिकाल की जो पूरी सामग्री है उसमें एक तरफ स्त्री सभी प्रकार से कैद है और दूसरी तरफ उसी कालखंड में विद्यापति हैं जिनकी राधा प्रेम की अनुभूति और प्रेम की चेतना के प्रतीक के रूप में विकसित हो जाती है। कई तरह की सोच और प्रवृत्तियां इस कालखंड में दिखाई देती हैं। इन्हीं विविधताओं के आधार पर और विविधताओं में निहित अन्तर्विरोधों के आधार पर इस कालखंड की प्रवृत्तियों को एक सूत्र में नहीं बांधा जा सकता। पं० हजारी प्रसादी द्विवेदी ने कहा कि यह स्वतोव्याघात का युग है यानी स्वयं ही अपनी मान्यताओं पर प्रहार करने वाला। इसलिए इन आधारों पर हम यह कह सकते हैं कि अन्तर्विरोध, विविधता और व्यापकता इस युग की एक विशेषता और प्रवृत्ति भी है। यही अन्तर्विरोध, विविधता और व्यापकता इस युग की एक विशेषता और प्रवृत्ति भी है। यह अन्तर्विरोध और वैविध्य हिन्दी कविता की अपनी पहचान बनती है।

2. सामन्ती जीवन-मूल्यों की प्रबलता

सामन्ती जीवन-मूल्यों की प्रबलता इस युग की दूसरी रचना प्रवृत्ति कही जा सकती है। इस युग का सारा साहित्य चाहे वह धार्मिक साहित्य हो या राजाश्रय में लिखा गया साहित्य या लौकिक साहित्य हो, सामन्ती जीवन-मूल्यों की छांह में विकसित हुआ है। धर्म, ऐहिकता और स्त्री के प्रति एक विशेष दृष्टिकोण रचना की दुनिया में सामन्तवाद के मूल आधार कहे जा सकते हैं।

धर्म के आधार पर या धार्मिक साहित्य के आधार पर, ऐहिक जीवन-मूल्यों के आधार पर और स्त्री के प्रति दृष्टिकोण के आधार पर हम आदिकाल एवं सामन्ती परिवेश के रिश्ते को परख सकते हैं। सामन्तवाद में धर्म चेतना की वस्तु नहीं है बल्कि उसका बहुत गहरा सम्बन्ध सामाजिक जीवन-पद्धति, रीति-रिवाज और नैतिक मूल्य विधान से है। यह जीने का एक ढंग है, रीति-रिवाज है, कुछ विश्वास है और सबसे बड़ी बात यह है कि वह समाज को एक नैतिक संहिता प्रदान करता है। नैतिक संहिता सामन्तवाद में हमेशा धर्म तय करता है।

हम देख सकते हैं कि आदिकाल की जो धार्मिक सामग्री है इसमें कई प्रकार की सामग्री है। एक तरफ सिद्ध हैं, दूसरी तरफ जैनी हैं और तीसरी तरफ नाथ हैं। तीन प्रकार की साहित्यिक सामग्री साफ तौर पर देखी जा सकती है। सिद्धों का जो साहित्य है वह बौद्ध धर्म के वज्रयान तत्त्व के प्रचार के लिए लिखा गया है। इस साहित्य में उपदेशात्मकता के साथ-साथ कई अन्य धार्मिक कृतियों या अनुष्ठानों का जिक्र किया गया है जिनका सीधा सम्बन्ध गुह्य साधना से या तन्त्र साधना से है। इनकी रचनाओं में वर्ण-व्यवस्था का विरोध और धर्म के बाहरी और कर्मकांडी तत्त्वों का भी विरोध दिखाई देता है।

दूसरी तरफ जैन साहित्य है। जैन रचनाएं जैन तीर्थंकरों के जीवन-चरित्र के साथ-साथ वैष्णव अवतार की कथाओं को जैन आदर्शों में पद्यबद्ध करती हैं। कई कथाएं ऐसी हैं जिनमें राम जैन धर्म में दीक्षित होते हैं और जैन धर्म में दीक्षित हो करके अपनी मुक्ति प्राप्त करते हैं या सार्थकता प्राप्त करते हैं।

तीसरी धारा नाथ साहित्य की है। नाथ सम्प्रदाय सिद्धों की प्रतिक्रिया में पैदा हुआ। गोरखनाथ इस सम्प्रदाय के प्रवर्तक माने जाते हैं। सिद्धों के व्यभिचार, जादू टोनावाद और तन्त्रवाद के खिलाफ यह सम्प्रदाय आया और इस सम्प्रदाय ने साधना की पवित्रता पर बल दिया। सिद्धों के पंचमकारों मत्स्य, मदिरा, मांस, मैथुन व मुद्रा की आनुष्ठानिक पद्धति के कारण धर्म के नाम पर जो भोग-विलास और व्यभिचार की प्रवृत्ति विकसित हुई थी, नाथ सम्प्रदाय उसी की प्रतिक्रिया में विकसित हुआ और उसने आचरण और शरीर की पवित्रता पर अतिरिक्त बल दिया। उपदेशात्मकता और खंडन-मंडन की प्रधानता इस सम्प्रदाय के साहित्य की विशेषता कही जा सकती है। पातंजलि के राजयोग के स्थान पर नाथ पन्थ में हठयोग की पद्धति की शुरुआत की गई।

इस प्रकार इस युग का जो पूरा धार्मिक साहित्य है उसमें एक समानता दिखाई देती है। वह समानता यह है कि इसकी धार्मिकता का आधार बहुत हद तक अनुष्ठानात्मक है। यह अनुष्ठान जैनियों के यहाँ, सिद्धों के यहाँ, नाथों के यहाँ दिखाई देता है। धर्म की अनुष्ठानिकता का बहुत गहरा सम्बन्ध सामन्तवाद से है। सामन्तवाद धर्म को अनुष्ठानिक आधार देता है और पूंजीवाद धर्म को व्यावसायिक आधार देता है, दोनों में यही फर्क है।

इस प्रकार अगर हम यह कहें कि सामन्ती परिवेश की प्रबलता आदिकाल में है तो इसका कारण यह है कि आदिकाल की साहित्यिक सामग्री का एक बड़ा भाग धर्म से है और धर्म की प्रकृति अनुष्ठानात्मक है। आदिकाल की जो धार्मिक सामग्री है वैसी ही भक्तिकाल की नहीं है। भक्तिकाल अनुष्ठानों के समूचे तन्त्र को खत्म कर देता है। शुक्ल जी ने लिखा कि भक्तिकाव्य धर्म के रसात्मक तत्त्व को ग्रहण करता है। धर्म का रसात्मक रूप ही भक्ति है। सामन्तवाद में धर्म रस का नहीं अनुष्ठान का विषय है। धर्म में जितनी अनुष्ठानपरक स्थितियां दिखाई पड़ती हैं वे सामन्ती समाज और सामन्ती विश्वासों की कोख से पैदा हुई है।

सामन्ती जीवन-मूल्यों की प्रबलता का दूसरा प्रमाण आदिकालीन साहित्य की ऐहिकता है। देह और भौतिक सुखों के प्रति एक गहरा रागात्मक रिश्ता ऐहिकता का मूल आधार है। आदिकालीन साहित्य में जो राजाश्रित हिस्सा है, उसमें ऐहिकता के प्रति इस अकुंठ दृष्टिकोण को देखा जा सकता है।

आदिकाल की ऐहिकता की अभिव्यक्ति के दो धरातल हैं, दो दिशाएं हैं जो परस्पर सम्बद्ध हैं—वे हैं **वीरता और शृंगार**। अपनी ताकत के आधार पर अपने अस्तित्व की सार्थकता की तलाश और सौन्दर्य को हस्तगत करने की स्पृहा यहाँ दिखाई देती है। सुख, वैभव, विलास वे सामग्री हैं जो रासो साहित्य का निर्माण कराती है। साहित्य में युद्ध है और राजाओं की शृंगार-प्रियता है। शायद यही कारण है कि आगे चलकर कबीर ने नश्वरता की चर्चा बार बार की। उस चर्चा का मूल कारण शायद वह चेतावनी थी, जो भोग और विलास और सौन्दर्य में डूबे हुए लोगों को वास्तविकता का भान कराना चाहती थी। जो ऐहिकता की सघनता दिखाई पड़ती है आदिकाल में उस ऐहिकता की नींद को तोड़ने का काम भक्तिकाल करता है। इसलिए सामन्ती परिवेश का दूसरा आधार है कि ऐहिकता किस रूप में दिखाई देती है, जैसे युद्धों की संयोगिता में। जैसे राजाओं के भोग-विलास की सामग्री में। राजाओं के दुर्ग और किले हैं, उनकी बनावटों और भव्यता के चित्रण में, इसके साथ-साथ जो विवाह के प्रसंग हैं, उनमें स्त्री को हस्तगत करने वाले प्रसंग हैं, ऐहिकता में डूबा हुआ काव्य है। इस कविता की चिन्ता जीवन के बड़े प्रश्नों से जुड़ी हुई चिन्ता नहीं है। इसलिए ऐहिकता हमारे जीवन के सवालों का आकार छोटा कर देती है। ''मनुष्य का इतना महत्त्वपूर्ण जीवन है और तुम इसे ऐसे ही नष्ट किए जा रहे हो।'' इस पछतावे और चेतावनी का स्वर भक्तिकाल में बार-बार सुनाई पड़ता है इस ऐतिहासिकता के कारण आदिकाल जीवन का कोई बड़ा सवाल नहीं उठा पाता। वह बहुत छोटे सवालों में लिपटा हुआ है।

तीसरा बिन्दु जो सामन्तवाद का है वह है स्त्री। देखने की कोशिश करें कि आदिकाल की स्त्री कैसी है या आदिकाल की आंखें स्त्री को कैसे देखती हैं, स्त्री को कैसे परिभाषित करती है, स्त्री को कहाँ से पकड़ती है, यह सवाल महत्त्वपूर्ण कहा जा सकता है। तभी हम आदिकाल की उस सामन्ती चेतना को पकड़ पायेंगे जिसकी चर्चा हम कर रहे हैं।

पहली बात तो यह है कि आदिकाल में स्त्री, पुरुष की सम्पत्ति का एक हिस्सा है। सम्पत्ति का अर्थ होता है जो अधिकृत करने योग्य हो और जिस पर अधिकार किया जा सकता हो और जिसे सामर्थ्य और बलपूर्वक अपने पास रखा जा सकता हो। इसलिए सम्पत्ति का प्रश्न क्षमता का प्रश्न होता है, भावना का नहीं। आदिकाल में स्त्री भावना का विषय नहीं बल्कि वह सामर्थ्य से अर्जित होने वाली वस्तु है। इसलिए स्त्री के सुख और दुख, उसके स्वप्नों और दुस्वप्नों, उसके आंसू और हँसी का कोई जिक्र वहाँ नहीं होता। दरअसल स्त्री के जीवन की समूची कहानी उस बिन्दु पर खत्म होती है जिस बिन्दु पर वह तलवार के बल पर एक घर से या एक स्वयंवर से छीन ली जाती है और इस तरह से वह राजा के बेड़े में शामिल कर ली

जाती है। इसलिए आदिकाल के समूचे साहित्य में, अगर वीसलदेव रासो को छोड़ दिया जाये, तो कहीं भी पूरे साहित्य में हँसती, रोती या उदास बैठी स्त्री नहीं दिखाई देती है। स्त्री का अपना कोई निजी अस्तित्व या कोई अपनी निजी पहचान नहीं है। पुरुष उसे पहचान देता है। इसलिए यह स्त्री की अस्मिता बोध से शून्य साहित्य है।

सामन्तवाद की यह छाया बहुत हद तक भक्तिकाव्य में भी दिखाई देती है। भक्तिकाव्य में स्त्री अपने व्यक्तित्व की धुरी पर सुखी या दुखी नहीं होती। उसके दुख और सुख का बहुत गहरा सम्बन्ध पति की परिस्थितियों से है। क्योंकि आखिर भक्तिकाव्य जिस माहौल में लिखा गया है वह भी तो सामन्ती परिवेश है। लेकिन भक्तिकाव्य सामन्तवाद के साथ समर्थन और सहयोग का रिश्ता नहीं बल्कि विरोध का रिश्ता रखता है। वह उससे प्रभावित भी है और उसको अतिक्रमित भी करता है। एक तो यह है कि स्त्री की स्वतन्त्र अस्मिता का कोई बारीक चिह्न भी आदिकाल की लगभग पूरी सामग्री में दिखाई नहीं देता। दूसरा स्त्री को लेकर यह है कि आदिकाल स्त्री की सार्थकता की सभी दिशाएं पुरुष से बंधी हुई हैं। इसलिए वह अपने जीवन की सभी परिभाषाएं पुरुष से शुरू करती है और उसकी पूर्णाहुति भी पुरुष में ही करती है। पुरुष से स्वतन्त्र जीवन का किसी भी परिभाषा का अधिकार आदिकाल की स्त्री को नहीं है।

स्त्री को जो सार्थक करता है वह पुरुष है और अन्ततः और अनिवार्यतः अपनी सार्थकता के लिए पुरुष की शरणागति स्त्री के जीवन की अनिवार्य नियति है। आदिकाल का साहित्य पढ़ते हुए यह दिखाई देता है। विद्यापति तक आकर थोड़ा-सा अलग सन्दर्भ दिखाई पड़ने लगता है। दरअसल विद्यापति की जो राधा है वह है वय:सन्धि। उसका बचपन खत्म हो गया है और कैशौर्य और यौवन का आरम्भ हुआ है। सामाजिक बन्धनों और देह के भीतर से फूटते हुए उत्सव के बीच में रगड़ खाती हुई स्त्री है—जिसे विद्यापति ने राधा के रूप में देखा।

3. रासो काव्य की बहुलता

रासो काव्य आदिकालीन कविता की महत्त्वपूर्ण धारा है। यह मूलतः रसयुक्त प्रबन्ध काव्यधारा है जिसमें वीरतामूलक है शृंगारमूलक प्रवृत्तियों का चित्रण किया गया है। इस युग में महत्त्वपूर्ण रासो काव्यों में पृथ्वीराज रासो, वीसलदेव रासो, परमाल रासो, खुमान रासो के नाम प्रमुखता से लिये जा सकते हैं। इन रासो काव्यों की रचना प्रधानतः राजालयों में हुई है। इसलिए इनकी काव्यवस्तु पर दरबारी संस्कृति की गहरी छाया दिखाई पड़ती है। रासो काव्य का अध्ययन करते हुए उसकी निम्नांकित विशेषताएं लक्षित होती हैं :

(क) वीरता और श्रृंगार का मिश्रण : राजाश्रित कवियों ने रासो काव्य में प्रधानतः वीरता एवं श्रृंगार के विविध पक्षों का चित्रण किया। युद्ध इस युग की राजनीतिक वास्तविकता थी और श्रृंगार राजाओं एवं सामन्तों की जीवन–पद्धति का अनिवार्य अंग था। पृथ्वी राज रासो में जहाँ वीरता और श्रृंगार का मिश्रण है, वहीं वीसलदेव रासो में विशुद्ध रूप से वियोग श्रृंगार का चित्रण हुआ है।

(ख) युद्धों का सजीव चित्रण : आदिकाल के राजाश्रित कवि सिर्फ कलाकार ही नहीं, बल्कि अपने आश्रयदाताओं के अच्छे मित्र, परामर्शदाता और योद्धा भी होते थे। सैन्य–संगठन, युद्ध के परिवेश, घात–प्रतिघातों के विवधि रूपों एवं युद्ध की भयावहता तथा सैनिकों की वीरता के ये कवि द्रष्टा और भोक्ता भी होते थे। इसलिए इस युग की कविता युद्धों का बेहद जीवन्त चित्रण करती है। यद्यपि इस चित्रण में अतिशयोक्ति के अनेक प्रसंग भी दिखाई पड़ते हैं, लेकिन कुल मिलाकर इस कविता में वर्णित युद्ध उस परिवेश की बिम्बात्मक अभिव्यक्ति है।

(ग) ऐतिहासिकता एवं प्रामाणिकता का अभाव : रासो काव्य की रचना सामान्यतः आश्रयदाता कवियों के द्वारा हुई लेकिन ये रचनाएं इतिहास के तथ्यों एवं प्रगाणों की दृष्टि से प्रायः बहुत अविश्वसनीय मानी गई हैं। हिन्दी कविता का पहला महाकाव्य पृथ्वीराज रासो ऐतिहासिकता एवं प्रामाणिकता की दृष्टि से सर्वाधिक संदिग्ध काव्य माना गया है।

(घ) जन चेतना की अनुपस्थिति : रासो काव्य की प्रेरणा का स्रोत मूलतः राजदरबार था और कवि भी राजाओं के आश्रय में ही होता था। इसलिए इस कविता में आम जिन्दगी की परिस्थितियां अनुपस्थित हैं। विराट सामाजिक जीवन की हलचलों एवं परिस्थितियों का कोई भी चिह्न या प्रमाण इस कविता में नहीं दिखायी पड़ता। इसलिए यह कविता जन–समृद्ध से कटी हुई कविता है।

(ङ) कथानक रूढ़ियां

(च) प्रबन्ध शैली : सभी रासो काव्यों का संगठनात्मक रूप प्रबन्ध शैली का है। यह प्रबन्धत्व रासो काव्य में महाकाव्य के स्तर पर भी है और खंड काव्य के स्तर पर भी।

4. भाषिक संक्रमण

आदिकाल की काव्यभाषा न तो पूरी तरह साहित्यिक अपभ्रंश की भाषा है और न ही हिन्दी की। इस काल के काव्यों में क्रियापदों का रूप सामान्यतः अपभ्रंश से प्रभावित है जबकि परसर्गों के प्रयोग में हिन्दी भाषा की अपनी विशेषताएं उभरती हुई दिखाई देती हैं।

5. छन्दों की विविधता

आदिकाल के काव्य में छन्दों का वैविध्य भी पर्याप्त मात्रा में लक्षित होता है। नाथों और सिद्धों तथा जैन कवियों ने सामान्यतः दोहा और पदों का प्रयोग किया है। जबकि रासो काव्यों में तोटक, तोमर, उल्लाला आदि छन्दों का प्रयोग किया गया है। विद्यापति ने पदों का प्रयोग पूर्ण निपुणता के साथ किया है। अमीर खुसरो ने दोहा, रोला और कुंडलियों का प्रयोग सफलता के साथ किया है।

6. काव्य रूप

काव्य रूप की दृष्टि से आदिकाल में प्रबन्ध और मुक्तक, दोनों प्रकार के काव्यों की रचना हुई है। रासो काव्यों की रचना प्रबन्ध शैली में हुई है तथा धार्मिक काव्य, विद्यापति और खुसरो का काव्य मुक्तक शैली में लिखा गया है। शृंगार और कोमल भावनाओं वाले प्रसंगों में पिंगल शैली तथा वीर रस के वर्णन में डिंगल शैली का प्रयोग हुआ है।

समग्रतः आदिकालीन कविता भारतीय इतिहास और समाज के एक ऐसे युग में लिखी गई कविता है जब परिवर्तन और ठहराव की शक्तियों में एक निर्णायक टकराहट चल रही थी। राजनीतिक अस्थिरता, धार्मिक मूल्यवत्ता का क्षरण और सामन्ती मूल्यों के दृढ़तर होते हुए ढांचे में इस कविता की रचना हुई। इस कविता की अन्तर्वस्तु से लेकर भाषिक संरचना तक पर परिवेश की परछाइयों की छाया दिखायी देती है। वृहत्तर मूल्यों की अनुपस्थिति इस कविता के कद को बढ़ने नहीं देती। पर अपनी तमाम सीमाओं के बावजूद यह कविता काव्य रचना के अनेक नये द्वारों का निर्माण करती है। इन्हीं द्वारों से होकर हिन्दी काव्य-चेतना का कारवां भक्तिकाल की खुली दुनिया में पहुंचता है। यह खुली दुनिया मनुष्य की मुक्ति एवं उसके दायित्वों का आह्वान करती है।

आदिकालीन कविता का सांस्कृतिक, सामाजिक और साहित्यिक महत्त्व

1. परस्पर विरोधी प्रवृत्तियों का समाहार। भारतीय संस्कृति की विशेषता रही है–'विरुद्धों का सामंजस्य' तो आदिकालीन कविता में भी घटित हुआ है। इस कारण सांस्कृतिक दृष्टि से इस कविता का बहुत महत्त्व है। वीर और शृंगार, ईश्वरत्व और मनुष्यत्व के द्वन्द्वों का समाहार करने में संलग्न दिखायी देता है। वैविध्य और समरसता पूरी भारतीय सांस्कृतिक विकास-प्रकिया का मूल सूत्र है जिसका अच्छा उदाहरण आदिकालीन कविता प्रस्तुत करती है।

खुसरो के कृतित्व से एक और महत्त्वपूर्ण तथ्य उजागर होता है कि हिन्दी का चरित्र एकदम आरम्भ से ही असाम्प्रदायिक रहा है, वह सामासिक संस्कृति की सच्ची रचना है। हिन्दू-मुसलमानों का जहाँ सीधा द्वन्द्व हिन्दी कवि ने चित्रित किया है वहाँ भी वह वीरों का युद्ध है, किसी एक पक्ष के प्रति घृणा या द्वेष उत्पन्न करने का प्रसंग नहीं, चन्दबरदाई 'पृथ्वीराज रासो' इसका प्रमाण है।

2. आदिकालीन हिन्दी कविता के सांस्कृतिक महत्व का एक अन्य महत्त्वपूर्ण बिन्दु उसकी व्यापकता है। इस दृष्टि से भक्तिकाल और रीतिकाल का क्षेत्र अपेक्षाकृत सिमट गया है। आदिकाल के अन्तर्गत रासो और जैन साहित्य पछांह का है, सिद्धों की बानी और फिर विद्यापति पूर्वी क्षेत्र के हैं और नाथ-साहित्य तो समूचे उत्तर भारत के एक बहुत बड़े भाग में फैला हुआ है। इस प्रकार कई अप्रभंशों और कई जनपदों का संस्कार हिन्दी काव्यभाषा में अन्तर्मुक्त हुआ है।

निष्कर्ष

आदिकालीन हिन्दी काव्य वीर भावना प्रधान होते हुए भी राष्ट्रीय भावना से रहित है—राष्ट्रीय भावना से सम्पृक्त कविता का वीर भावना से युक्त होना एक स्वाभाविक दशा है। राष्ट्र की भौगोलिक सुरक्षा और राष्ट्रीय एकता के लिए राजशक्ति की वीरता की आवश्यकता पड़ती है जिसकी अभिव्यक्ति साहित्य भी करता है। किन्तु यह विडम्बना है कि आदिकालीन हिन्दी काव्य वीर भावना प्रधान होते हुए भी राष्ट्रीय भावना से रहित है। आदिकालीन हिन्दी कविता की इस स्थिति की जड़ें तत्कालीन राजनीतिक परिवेश में हैं।

(1) राजनीतिक परिवेश
(2) आदिकालीन कविता में वीर भावना की व्यापक अभिव्यक्ति हुई है। (युद्धों का सजीव चित्रण) किन्तु इन युद्धों के पीछे कोई राष्ट्रीय चेतना नहीं है। ये युद्ध नारी के लिए और शौर्य-प्रदर्शन मात्र के लिए लड़े गए हैं।
(3) राष्ट्रीय भावना से इस युग की कविता के वंचित होने का एक महत्त्वपूर्ण कारण यह है कि आदिकाल का सम्पूर्ण साहित्य सामन्ती जीवन-मूल्यों की छांह में विकसित हुआ है। (सामन्ती जीवन-मूल्यों की प्रबलता)
(4) जन-चेतना की अनुपस्थिति।

रासो काव्य

'रासो' शब्द की उत्पत्ति और प्रयोग के सम्बन्ध में विद्वान एकमत नहीं हैं। रामचन्द्र शुक्ल इसे 'रामायण' से बना हुआ मानते हैं—''वीसलदेव रासो में काव्य के अर्थ में

'रामायण' शब्द बार-बार आता है। अतः हमारी समझ में इसी 'रामायण' शब्द के होते-होते 'रासो' हो गया है।'' अन्य लोगों में से कुछ लोग इसे 'राजयश', 'राजयज्ञ' या रहस्य से निकला हुआ मानते हैं। हजारी प्रसाद द्विवेदी इसे नाट्य उपरूपक 'रासक' से प्रादुर्भूत कहते हैं।

'रासो' लोक प्रचलित नाट्य 'रास' से निकला हुआ प्रतीत होता है। भागवत का रास भी लोक से लिया गया है और नाट्य का रासक भी। इसमें गीत और नाट्य दोनों का मिश्रण होता है। भागवत की रासलीला से भी यह सिद्ध है। ब्रजमंडल की रासलीला लोक प्रचलित रास का ही विकसित रूप है। जैन अपभ्रंश में रास की लम्बी परम्परा है। 'रास' से ही रासह, रायण, रासु आदि बने। जैन रास मूलतः साम्प्रदायिक हैं। किन्तु साहित्य में प्रवष्टि होकर इसका रूप शृंगार-वीर मिश्रित हो गया।

काव्य-प्रकृति : रासो काव्य की मूल प्रकृति सामन्तों और राजाओं के शौर्य और विकास का अतिरंजित चित्र प्रस्तुत करना है। सामन्ती चरित्र के ये अनिवार्य अंग हैं, शोभा हैं। शौर्य और विलास में कौन प्रधान है, कहना कठिन है। शौर्य का प्रदर्शन विलास को लेकर है और विलासप्रियता शौर्य को लेकर। दोनों में द्वन्द्वात्मक सम्बन्ध है। किसी की सुन्दर लड़की देखी कि उसे प्राप्त करने के लिए चढ़ दौड़े।

इस समय मुसलमानों के आक्रमण और तेज हो गये। हर्षवर्धन की मृत्यु के बाद कोई केन्द्रीय सत्ता नहीं थी जो विदेशी आक्रमणकारियों को मुंहतोड़ उत्तर देती। पश्चिमोत्तर प्रदेशों में कहरवाड़, चौहान, चन्देल, परिहार आदि राजपूतों के अलग-अलग राज्य थे और वे आपस में लड़ा करते थे। युद्ध उनका व्यवसाय था और विलास खेती। यदि कभी राजाओं में सन्धि होती भी थी तो वे किसी भी तुच्छ कारण से कभी भी किसी क्षण टूट सकती थी।

रासो काव्य कितने भी अप्रामाणिक क्यों न हों, पर उनके आधार पर तत्कालीन सामन्ती समाज की विलासिता और वैयक्तिक शौर्य का पता लग जाता है। जो भी रासो काव्य मिले हैं, उनमें पारस्परिक युद्धों, ईर्ष्या-द्वेष, कलंक, रूप-लाभ आदि का खूब बढ़ा-चढ़ाकर चित्रण किया गया है। इस ऐतिहासिक दुर्घटना का उल्लेख ऊपर हुआ है, उसके मूल कारणों का पता रासो काव्य से लग जाता है। फिर भी लोकजीवन की कुछ-न-कुछ झांकी मिल ही जाती है। पर भाषा तथा ऐतिहासिक तथ्यों के आधार पर रासो काव्य प्रामाणिक नहीं सिद्ध होते। खुमान रासो, बीसलदेव रासो, पृथ्वीराज रासो ऐसी रचनाएं हैं। भट्ट केदार का 'जयचन्द प्रकाश' और मधुकर कवि का 'जयमयंक चन्द्रिका' ग्रन्थ उपलब्ध नहीं हैं। श्रीधर का 'रणमल्ल छन्द' सामान्य पुस्तक है।

पृथ्वीराज रासो : चन्दबरदाई (1126–1196) कृत पृथ्वीराज रासो इस काल का जितना अधिक महत्त्वपूर्ण काव्य है उतना ही अधिक विवादास्पद भी है। कहा जाता है कि चन्दबरदाई दिल्ली नरेश पृथ्वीराज चौहान का बालसखा, परामर्शदाता और राजकवि था। रासो के अनुसार पृथ्वीराज को बन्दी बनाकर गोरी अपने देश ले गया। बाद में चन्द भी वहां पहुंचा। चन्दबरदाई ने ऐसी युक्ति निकाली कि गोरी पृथ्वीराज के शब्द-वेधी बाण से मारा गया। तदनन्तर चन्द और पृथ्वीराज एक-दूसरे को मारकर मर गये। रासो को पूरा किया चन्द के पुत्र जल्हन ने। कहा जाता है–

रघुनाथ चरित हनुमन्त कृत, भूप भोज उद्धरिय जिमि।
प्रथिराज सुजस कवि चन्द कृत, चन्द नन्द उद्धरिय तिमि।

पर रासो की प्रामाणिकता-अप्रामाणिकता को लेकर विद्वानों में गहरा मतभेद है। प्रामाणिकता के पक्ष और विपक्ष में अरसे से लिखा जाता रहा है। रासो के रचयिता चन्द के अस्तित्व के सम्बन्ध में शंकाएं उठायी गयी। भला हो 'पुरातन-प्रबन्ध संग्रह' के सम्पादक का, जिसने चन्दवलि के चार छप्पयों का उल्लेख कर दिया। अतः चन्द का होना प्रामाणिक हो गया। लेकिन रासो की प्रामाणिकता-अप्रामाणिकता का विवाद चलता रहा और उसके साहित्यिक मूल्यांकन की ओर लोगों की दृष्टि नहीं गयी। किन्तु पृथ्वीराज का समकालीन होने के कारण उसकी ऐतिहासिकता की ओर ध्यान जाना स्वाभाविक था।

प्रामाणिकता-अप्रामाणिकता के सम्बन्ध में तीन प्रकार के मत हैं –(1) रासो पूर्णतः प्रामाणिक रचना है, (2) रासो पूर्णतः अप्रामाणिक है, (3) न पूर्णतः प्रामाणिक है और न पूर्णतः अप्रामाणिक। वह अर्द्ध प्रामाणिक है।

प्रथम मत मानने वालों में मोहनलाल विष्णुलाल पंड्या, मिश्रबन्धु और श्यामसुन्दर दास प्रमुख हैं। इन्होंने ना. प्र. स. से प्रकाशित रासो के वृहतम रूप को प्रामाणिक माना है। पंड्या जी ने उसे प्रामाणिक सिद्ध करने के लिए एक 'आनन्द सम्वत्' की कल्पना भी कर ली है। फिर भी उसकी ऐतिहासिकता सिद्ध नहीं हो पाती। वस्तुतः इसके पक्ष में जो तर्क दिये गये हैं, वे बुनियादी तौर पर कमजोर हैं और अन्धश्रद्धा के शिकार हैं।

बूल्हर, गौरी शंकर हीराचन्द ओझा, देवी प्रसाद, कविराज श्यामल दास, रामचन्द्र शुक्ल इसे जाली ग्रन्थ ठहराते हैं। ओझा जी ने वैज्ञानिक पद्धति पर उसकी पड़ताली करते हुए उसे अप्रामाणिक सिद्ध कर दिया है। उनके मतानुसार रासो में उल्लिखित नाम, घटनाएं और सम्वत् भट्टभणंत हैं। कश्मीरी कवि जयानक के 'पृथ्वीराज विजय' काव्य तथा तत्कालीन शिलालेखों के साक्ष्य पर रासो किसी प्रकार भी प्रामाणिक नहीं ठहरता। वे रासो को सं. 1600 के आस-पास की रचना मानते हैं।

तीसरा मत मुनि जिनविजय और हजारी प्रसाद द्विवेदी का है। मुनि जिनविजय ने 'पुरातन प्रबन्ध संग्रह' से चन्द भणित चार छप्पयों को उदाहरित करते हुए बताया है कि मूल रासो की भाषा अपभ्रंश थी। इन चारों छप्पयों में से तीन रासो में मिलते हैं। हजारी प्रसाद द्विवेदी ने मुनिजी के मत की सम्पुष्टि की है। उन्होंने एक रासो का सम्पादन किया है जिसे वे मूल रासो की प्रकृति के आस-पास की रचना मानते हैं।

रासो के सम्बन्ध में इतने विचार-मन्थन से अब अधिकांश लोग इससे सहमत हैं कि चन्द पृथ्वीराज चौहान का राजकवि था। उसने 'पृथ्वीराज रासो' नामक काव्य लिखा था, किन्तु यह भी सच है कि रासो के चार रूपान्तरों—बृहद, मध्य, लघु, लघुतम—में से किसी को भी यथावत प्रामाणिक नहीं माना जा सकता—लघुतम को भी नहीं। क्षेपक लघुतम रूप में भी है। पीढ़ियों से गाये जाने के कारण उसकी भाषा में परिवर्तन तो हुआ ही, बहुत-से क्षेपक भी जुड़ते चले गये। अत: मूल रासो को इन रूपान्तरों में खोजने का प्रयास व्यर्थ है। यदि संयोग से अपभ्रशं में लिखा हुआ कोई रासो मिल जाये तो उसे, परीक्षा करने के बाद, प्रामाणिक घोषित किया जा सकता है। क्षेपकों के बावजूद रासो के काव्य-सौन्दर्य पर विचार किया जाना चाहिए।

काव्य की बुनावट : चन्द का रासो पारम्परिक पैटर्न को ग्रहण करते हुए भी अपनी समग्रता में मौलिक है। मंगलाचरण, सज्जन-दुर्जन, प्रशंसा-निन्दा, नखशिख-वर्णन, अलंकार-विधान, अप्रस्तुत योजना आदि परम्परागत हैं। किन्तु उनका विनियोजन नया है। यह न शृंगारगाथा है, न वीरगाथा और न उनका मिश्रण। यह एक राजनीतिक महाकाव्य है, दूसरे शब्दों में राजनीति की महाकाव्यात्मक त्रासदी है। चन्द ने लिखा है —

राजनीति पाइयै। ग्यान पाइयै सु जानिय।।
उकति जुगाति पाइयै। अरथ घटि बढ़ि उनमानिय।।

'उकति', 'जुगति' का प्रयोग राजनीति पाने के लिए किया गया है। इस राजनीति के दो छोर हैं—आन्तरिक विग्रह का सामना और बाहरी आक्रामक के साथ युद्ध। रासो का केन्द्रीय वर्ण्य युद्ध है। विलास से इसका घना रिश्ता है। 'प्रबन्ध-चिन्तामणि' में सामन्ती जीवन को बहुत ही सटीक ढंग से अभिव्यक्त कर दिया गया है —

एहु जम्मुं नग्गहं गियउ भड-सिरि खग्गु न भग्गु।
तिक्खाँ तुरिए न माणिया गौरी गलि न लग्गु।।

युद्ध और विलास सामन्ती जीवन के अनिवार्य अंग हैं। इनके साथ वैयक्तिक शौर्य को भी शामिल कर लेना चाहिए। युद्ध और शौर्य ताना है और विलास बाना। इन्हीं ताने-बाने से रासो बुना गया है। इसकी बुनावट को समझना रासो को समझना

है। इसलिए कन्ह और कयमास की कथाओं को, जो हाशिए पर रखी जाती थीं, रासो की मुख्यधारा से जोड़ना होगा। कभी-कभी हाशिया ही मुख्यधारा बन जाता है।

कन्ह पृथ्वीराज का सामन्त था। भीमदेव चालुक्य का भाई पृथ्वीराज के दरबार में रहता था। कन्ह के सामने उसने अपनी मूंछों पर हाथ रख दिया था। कन्ह जैसे सामन्त के सामने कोई मूंछों पर ताव कैसे दे सकता है? कन्ह ने म्यान से चमचमाती तलवार निकाली और उसका सिर धड़ से अलग कर दिया। पृथ्वीराज ने उसे हलका-सा दंड दिया। उसकी आंखों पर पट्टी बंधवा दी। भीमदेव चालुक्य पृथ्वीराज का दुश्मन बन गया। पृथ्वीराज का योग्य मन्त्री कयमास एक करनाटी दासी पर अनुरक्त था। एक छोटे-से अपराध पर पृथ्वीराज ने उसका वध कर दिया। इस तरह वह एक योग्य मन्त्री खो बैठा। ये दोनों घटनाएं थोथी सामन्ती आन-बान और नैतिकता की सूचक हैं। ये घटनाएं गोरी के बन्दीगृह में पृथ्वीराज के पश्चाताप से जुड़कर तत्कालीन राजनीतिक परिदृश्य को पूर्णतः उभार देती हैं और रासो की संरचना में रच-बसकर उसे मुकम्मल बनाती हैं।

विलास के अभाव में सामंत, सामंत नहीं हो सकता। यह उसकी शान है। पृथ्वी राज चौहान कम विलासी नहीं है, किन्तु उसका विलास विवाहित स्त्रियों की सीमा में बंधा हुआ है, पत्नी के प्रति अत्यधिक अनुरक्ति अन्य महत्त्वपूर्ण कामों में बाधक हो सकती है पर वह अपने-आपमें असामाजिक नहीं है। इच्छिनी, शशिव्रता और संयोगिता के विवाह-वर्णन में कहीं पुनरुक्ति नहीं है। तीनों विवाह तीन तरह के हैं। इच्छिनी का विवाह उसके पिता द्वारा निश्चित किया गया है। शशिव्रता का विवाह पूर्वानुरागजन्य है और संयोगिता का स्वयंवर-विवाह है। इसलिए इनकी संरचना में अब नहीं होती। यहीं पर सामन्ती जकड़न के प्रति नारियों का विद्रोह भी है। अतः इन विवादों में रोमैंटिकता का स्पर्श भी हो जाता है। खजुराहों के मन्दिरों का निर्माण और भी पहले शुरू हो गया था। कला का यह चरमोत्कर्ष और काम-कला की आत्यन्तिकता अन्यत्र देखने को नहीं मिलेंगी। उद्देश्यहीन कला अपने रूपायन में चाहे जिस ऊंचाई पर स्थिर हो, परिणति में विकृतिमूलक ही होगी। रासो में विलास की यह आत्यन्तिक स्थिति नहीं है।

पृथ्वीराज की विलासिता दो स्थानों में दिखाई पड़ती है—संयोगिता-हरण के पूर्व ऋतु-वर्णन में और मुहम्मद गोरी के आक्रमण के समय महाजनों द्वारा राजा को सूचित करने के असंजस में। राजा ऐसा रसिक है कि जिस रानी के पास छुट्टी मांगने जाता है वहीं दो महीने बिलम जाता है। अन्त में चन्द 'ऋतु' से श्लेषार्थ से उसे मुक्ति का उपाय सुझाता है। संयोगिता जैसे सुन्दरी नयी रानी को पाकर वह विलास में

निगम्नोन्मग्न हो जाता है। मुहम्मद गोरी ने आक्रमण कर दिया है पर पृथ्वीराज को इसका पता भी नहीं लगा। उसे सूचित करना कठिन था। महाजन लोग एकत्र होते हैं और आपस में परामर्श करते हैं–'किम बुज्झे रतिवन्ती राजन।' 'रतिवन्ती' शब्द पूरे सामंत वर्ग की दिनचर्या को उघाड़कर रख देता है। यही नहीं, इसके पीछे चन्द्र का एक राजनीतिक दृष्टिकोण भी है। कहाँ जबरदस्त हमलावर गोरी और कहाँ रतिवन्ती राजा।

अन्त में कामोत्सव की याद के साथ कन्ह, कयमास आदि भी, पृथ्वीराज को याद आते हैं और सारा महाकाव्य एक त्रासदी में बदल जाता है। इस त्रसादी को समझना ही 'राजनीति बोहित' को पाना है। महाकाव्य की त्रासदी राजनीति की फलश्रुति और राजनीति की त्रासदी की फलश्रुति है।

पृथ्वीराज पश्चाताप करता है–

परयो बन्धन गज्जनै मेछ हथ्थं। बिचारै करी अप्प करतूति पिथ्थं।।
हन्यो दासिये हेतु कैमास बानं। गजं सून चामंडबेरी भरानं।।
बँधे कन्ह काका चषे पट्ट गाढ़े। बिना दोस पुंडरी से भ्रत्त काढ़े।।
बरज्जंत चन्द चल्यौ हुँ कन्नौजं। तथा सूर सामन्त कटि छट्टि फौजं।।
लिये राजलोक रमन्त सिकारं। भ्रम केहरी कन्दरा रिप्प जारं।।
निराधार आधार करतार तू ही। बन्यौ संकट मो लीन सों ही।।
कली कद्द मँगाय वृन्दावनी कों। सँभालो नहीं तो कहाऔ धनी क्यों।।

'निधार आधार करतार तू ही' सारी त्रासदी को और भी गहरा देता है। जब असहाय व्यक्ति का कोई सहारा नहीं होता तो वह ईश्वर की शरण लेता है, काशी-वृन्दावन की याद करता है। यह भक्तिकालीन करतार नहीं है, बल्कि खालिस उदासी की अन्तिम शरणगाह है। समग्र महाकाव्य के भीतर से पृथ्वीराज की त्रासदी के साथ एक सामाजिक-राजनीतिक त्रासदी भी उभरती है जो जितनी पृथ्वीराज की है उससे कहीं अधिक राष्ट्र की है। यहीं से देश की दीर्घकालीन त्रासदी की शुरुआत होती है। यद्यपि आखिर में कवि-पुत्र ने इसे सुखान्त बनाने की कोशिश की है पर वह एक भोंड़े जोड़ से अधिक नहीं है।

भाषा के सम्बन्ध में कवि ने आरम्भ में ही लिखा है :

उक्ति धर्म विशालस्य। राजनीति नवरसं।।
खट भाषा पुराणं च। कुरानं कथितं भया।।

जाहिर है, नवरस, उक्ति, भाषा–सभी राजनीति के इर्द-गिर्द घूमती हैं। 'खटभाषा' का उल्लेख परम्परा-पालन के लिए नहीं है। इसमें राजस्थानी, ब्रजी, फारसी आदि के शब्द मिले हुए हैं, अपभ्रंश और अवहट्ठ की चाशनी भी है। एक ही शब्द कई

रूपों में लिखे गये हैं, जैसे—शैल के लिए सैल, सयल, सइल, एक के लिए इक, इकह, इकि आदि। भाटों की विभिन्न पीढ़ियों द्वारा गाये जाने के कारण भाषागत इस अव्यवस्था का मिलना स्वाभाविक है। सब मिलाकर इसकी भाषा ब्रजमिश्रित राजस्थानी या डिंगल है। पर इतना स्मरण रखना चाहिए कि इसकी अनघड़ भाषा का ही अपना स्वाद है।

3

भक्तिकाल

भक्तिकाव्य हिन्दी कविता की सर्वोपरि उपलब्धि है। भक्ति को काव्य-मूल्य एवं जीवन-मूल्य के रूप में स्थापित करने वाली इस कविता का समय मध्यकाल की चार शताब्दियों तक फैला हुआ है। मध्यकाल के सामन्तवादी अंधेरे में भक्तिकाव्य मानवतावादी चेतना की प्रथम प्रखर अभिव्यक्ति है। भारतीय जातीय चेतना को अभिव्यक्ति प्रदान करने वाली इस कविता को अपने वैविध्य, आनुभूतिक गहराई, लोकव्यापी स्वरूप एवं अखिल भारतीय विस्तार के कारण हिन्दी साहित्य का स्वर्णयुग कहलाने का गौरव प्राप्त है। भक्तिकाव्य का आधार भक्ति-आन्दोलन है। अत: भक्तिकाव्य के विश्लेषण से पूर्व भक्ति-आन्दोलन पर दृष्टिपात करना आवश्यक है।

भक्ति-आन्दोलन की पृष्ठभूमि

आर्य संस्कृति का मूलाधार कर्मकांड है और स्वभावत: इसलिए आर्यों के आदिग्रन्थ ऋग्वेद का प्रधान देवता इन्द्र है। वेदों के अध्ययन से पता चलता है कि इन्द्र आर्यों के सभी देवताओं का अधिपति है और उसे विभिन्न यज्ञों के माध्यम से प्रसन्न किया जा सकता है। यद्यपि ऋग्वेद में विष्णु का उल्लेख है लेकिन वह इन्द्र का एक सहायक देवता मात्र है। अनेक ऐतिहासिक कारणों से परिवर्तन की प्रक्रिया में धीरे धीरे इन्द्र की तुलना में विष्णु का वर्चस्व बढ़ने लगता है और कालान्तर में विष्णु भारतीय उपासना पद्धति का केन्द्र बिन्दु बन गया। जिन ऐतिहासिक और सामाजिक परिस्थितियों ने इन्द्र की केन्द्रीयता को अपदस्थ किया और उसके स्थान पर विष्णु को प्रतिष्ठित किया उनमें प्रमुख हैं–

1. आर्य संस्कृति पर आर्येतर जातियों का प्रभाव

आर्यों और अनार्यों के बीच के संघर्षों के बाद उत्पन्न घृणा कालान्तर में कम हुई और दोनों के बीच आदान-प्रदान की प्रक्रिया प्रारम्भ हुई। द्रविड़ों के प्रभाव के कारण आर्यों ने विष्णु को माना। द्रविड़ों के भावनामूलक सम्बन्ध विधान का असर आर्यों पर पड़ा जिसके कारण इन्द्र की जगह विष्णु ने ले ली। इससे वैष्णव धर्म का प्रसार हुआ।

2. औपनिषदिक चिन्तन का उदय

वैदिक कर्मकांड के स्थान पर चिन्तन और ज्ञान की धारा का सूत्रपात उपनिषदों में हुआ। ब्रह्म, जीव और माया जैसे विषयों पर उपनिषदकारों ने विचार किया। इस विचार प्रक्रिया में वैदिक कर्मकांडों की महत्ता का ह्रास हुआ और बहुदेववाद के स्थान पर मूल ब्रह्म की अवधारणा पर विचार किया जाने लगा। इस प्रकार उपनिषदों में जिस ब्रह्म चिन्तन का सूत्रपात हुआ उसने इन्द्र की केन्द्रीयता को अपदस्थ कर दिया और विष्णु को ब्रह्म की मुख्य शक्ति के रूप में स्थापित किया।

3. बौद्ध और जैन धर्म का उदय

छठी शताब्दी ईसा पूर्व में बौद्ध एवं जैन धर्मों के उदय ने यज्ञ और कर्मकांडों पर आधारित कार्यों की उपासना पद्धति को जबर्दस्त चुनौती दी। इतिहासकारों की मान्यता है कि सम्भवतः इसी के आस-पास भागवत धर्म का उदय हुआ। भागवत धर्म का आधार विष्णु थे। भारतीय संस्कृति का मूल आधार भावना बनी और भावना के आधार विष्णु बने। भक्ति आन्दोनल का मूल सम्बन्ध विष्णु से है।

4. दार्शनिक सम्प्रदायों का उदय

शंकर के अद्वैत दर्शन का विरोध करने वाले श्री सम्प्रदाय के संस्थापक रामानुजाचार्य ने विशिष्टाद्वैत मत की स्थापना की। ईश्वर को विशिष्ट स्वीकार करते हुए भी रामानुज ने उसे सगुण माना। उनके अनुसार ईश्वर का सबसे प्रधान गुण हैं —ज्ञान, भक्ति और करुणा। करुणा के कारण ही ईश्वर ने जगत की रचना की, धार्मिक विधान का निर्माण किया और वह ईश्वर उन सभी व्यक्तियों की समान रूप से सहायता करता है जो अपनी पूर्णता के लिए उसकी सहायता की याचना करते हैं। रामानुज ने ही वस्तुतः ईश्वर के सगुण रूप की भक्ति का सूत्रपात किया। भक्ति एक प्रकार का रिश्ता है और यह रिश्ता विष्णु के साथ शुरू होता है और कालान्तर में विष्णु के दो रूपों में जुड़ता है—राम और कृष्ण। यही राम-कृष्ण भक्ति आन्दोलन के

मूल हैं। संक्षेप में हम कह सकते हैं कि इतिहास की अनिवार्य प्रक्रिया में इन्द्र के स्थान पर विष्णु को प्रमुखता मिली और यही विष्णु वैष्णव धर्म के आधार बने। परिवर्तन के अनेक आरोहों-अवरोहों में वैदिक विष्णु का रूपान्तर अन्तत: राम और कृष्ण में हुआ। विष्णु के ये अवतारी रूप ही मूलत: भक्ति आन्दोलन के मूल आधार बने।

भक्तिकाव्य की दार्शनिक पीठिका

मध्यकाल में दर्शन की अवधारणा जीव और ब्रह्म के सम्बन्धों की व्याख्या है। इस व्याख्या की प्रक्रिया में जगत और माया के सम्बन्धों की चर्चा भी मध्यकालीन दर्शन में होती रही है। जीव, जगत, माया, ब्रह्म इन चारों के सम्बन्ध का विवेचन और विश्लेषण मध्यकालीन दर्शन का मुख्य आधार है।

मध्यकालीन भक्तिकाव्य का आधार या उसकी प्रेरणा किसी-न-किसी रूप में शंकर के अद्वैत सिद्धान्त की असहमति में विकसित हुई दार्शनिक पीठिका में है। शंकराचार्य के अद्वैतवादी दर्शन की मुख्य स्थापनाएं ये थीं–

1. जगत का निषेध 'मिथ्या है'।
2. ब्रह्म और जीव अद्वैत हैं।
3. जो दिखता है वह भ्रम है—माया है। उदाहरण—रस्सी में सांप का भ्रम होने पर जैसा अनुभव होता है।
4. ज्ञान से ही सत्य की उपलब्धि हो सकती है।
5. सत्य सिर्फ एक है और वह ब्रह्म है।
6. ब्रह्म जब माया से आवेशित होता है तब वह जगत की सृष्टि करता है। माया से अनाविष्ट 'ब्रह्म' है, माया से आविष्ट ईश्वर है। इस तरह से 'ब्रह्म' और 'ईश्वर' में स्थितिगत अन्तर है।

शंकर के अद्वैत सिद्धान्त के विरोध में जो महत्त्वपूर्ण दार्शनिक धाराएं विकसित हुईं उनका विश्लेषण निम्नांकित शीर्षकों के अन्तर्गत किया जा सकता है–

1. विशिष्टाद्वैत (रामानुजाचार्य) – इसकी मुख्य स्थापनाएं हैं –

1. जगत अवास्तविक नहीं है। यह स्थापना भारतीय दर्शन में पहली बार हुई। ईश्वर सत्य है और ईश्वर की निर्मिति भी सत्य ही होगी, असत्य नहीं हो सकती। अत: जगत की परेशानियां भी वास्तविक हैं।
2. जागतिक परेशानियों को दूर करने के लिए ईश्वर अवतार लेता है।
3. जीव और ब्रह्म के तत्त्वत: अभिन्न होने के कारण भी ब्रह्म विशिष्ट है। प्रलय में जगत और जीव ब्रह्म में स्थान ग्रहण करते हैं। इस प्रकार

रामानुजाचार्य ने पहली बार अवतारवाद तथा धर्म की सामाजिक भूमिका की प्रस्तावना की। इसके साथ ही ईश्वर की ऐहिक भूमिका की शुरुआत हुई।

2. द्वैताद्वैतवाद (निम्बार्क)– द्वैताद्वैतवाद में यह स्थापना दी गई कि ब्रह्म और जीव सांसारिक दृष्टि से अलग हैं पर तत्त्वत: एक ही हैं। अपनी अन्तिम परिणति में ये एक हो जाते हैं। संसार में ये अलग हैं, जैसे कृष्ण और गोपियां। इस सिद्धान्त को भेदाभेद भी कहा गया है। व्यावहारिक धरातल पर जीव-जगत और ब्रह्म अलग है। प्रलय के क्षण में एक हो जाते हैं। इस सिद्धान्त ने राधा और कृष्ण की युगल उपासना पर बल दिया। विष्णु कृष्ण के रूप में, शक्ति राधा के रूप में आराध्य बने।

3. शुद्धाद्वैत (विष्णु स्वामी): इसकी व्याख्या बल्लभाचार्य ने की और इसी सिद्धान्त के आधार पर 'अष्टछाप' की स्थापना की। शुद्धाद्वैत की मुख्य मान्यताएं ये हैं–

1. जगत की सृष्टि करते हुए भी ब्रह्म अलिप्त रहता है। जैसे कमल कीचड़ से निकलता है पर कीचड़ के गुण उसमें नहीं होते। अन्तत: ब्रह्म शुद्ध रहता है।
2. यह जगत एक आकार है। कनक कुंडल का उदाहरण – जैसे सोने का कुंडल भी सोने का ही रहता है केवल आकार ग्रहण कर लेता है। वैसे ही ईश्वर निराकार है, जगत को उसका दिया आकार है। कृष्ण लिप्त दिखते हुए भी अलप्ति हैं अत: योगेश्वर हैं। राम योगेश्वर नहीं हैं क्योंकि वे लिप्त हो जाते हैं–सीमा में एकनिष्ठता।
3. ब्रह्म को प्राप्त करने का एक मात्र मार्ग प्रेम है। यह प्रेम भी स्वत: स्फूर्त नहीं होता, कृष्ण के अनुग्रह से होता है। इस अनुग्रह को बल्लभाचार्य ने 'पुष्टि' कहा।

4. द्वैत (मध्वाचार्य): यह एकदम सीधे-सीधे शंकर के अद्वैत से टकराता है। इसकी मान्यताएं हैं–

1. ईश्वर उत्पत्ति, स्थिति और संहार का कारण है।
2. विष्णु ही ब्रह्म है। विष्णु की पत्नी लक्ष्मी है, जो विष्णु की शक्ति है और उसके अधीन है। यह शक्ति ही नाना रूप धारण करती है और जगत का सृष्टि करती है तथा ब्रह्म के अवतार लेने पर उसकी अर्द्धांगिनी या प्रेयसी बनकर आती है।
3. अन्तिम स्थिति में भी जीव और जगत में भेद बना रहता है।

4. जीव और जीव में भी भेद होता है। प्रत्येक जीव ब्रह्म के साथ एक ही तरह का सम्बन्ध नहीं बनाता। ज्ञान, भक्ति और साधना के आधार पर जीवों की अलग-अलग कोटियाँ होती हैं और इसलिए अलग-अलग सम्बन्ध भी बनता है।
5. जगत पूरी तरह सत्य है क्योंकि ब्रह्म सत्य है और ब्रह्म का बनाया हुआ जगत असत्य नहीं हो सकता।

समग्र रूप में हम उपर्युक्त दार्शनिक सम्प्रदायों की मुख्य विशिष्टताओं को निम्नांकित बिन्दुओं के अन्तर्गत रख सकते हैं–

1. चारों दर्शन ईश्वर के सगुण रूप को स्थापित करते हैं।
2. चारों सिद्धान्त ईश्वर प्राप्ति के लिए ज्ञान के स्थान पर भावना और अनुभूति को वरीयता देते हैं।
3. चारों अवतारवाद की प्रस्तावना करते हैं। इस अवतारवाद में लीला की अवधारणा को विन्यस्त करते हैं।
4. चारों ब्रह्म के निर्गुणत्व का निषेध नहीं करते लेकिन भक्ति का आधार सगुण को ही मानते हैं। आलम्बन सगुण ही हो सकता है। कालान्तर में इन्हीं से दोनों सगुण धाराओं का जन्म हुआ।

इस प्रकार सामाजिक स्तर पर भक्ति आन्दोलन सामन्तवाद के विरोध में उत्पन्न हुआ तथा दार्शनिक स्तर पर शंकर के अद्वैतवाद या मायावद के विरोध में उत्पन्न हुआ।

भक्तिकाल के उदय की व्याख्या

भक्ति-आन्दोलन की एक महत्त्वपूर्ण विशेषता यह मानी गयी है कि वह धर्म को साधना का नहीं, भावना का विषय मानता है। इसी सन्दर्भ में आचार्य शुक्ल ने भक्ति को धर्म का रसात्मक रूप कहा है। भक्ति लगभग चार सौ वर्षों तक हिन्दी साहित्य की प्रधान प्रवृत्ति बनी रही। इस भक्ति-आन्दोलन ने हिन्दी को कबीर, जायसी, सूर, तुलसी और मीरा जैसे कवि दिए। इन महान भक्तों और कवियों की कालजयी कृतियों के कारण ही विद्वानों ने हिन्दी साहित्य के इतिहास में भक्तिकाल को स्वर्ण युग कहा है। इस आन्दोलन के ऐतिहासिक आधार के सम्बन्ध में विद्वानों में मतभेद है।

जार्ज ग्रियर्सन, ताराचन्द, आबिद हुसैन, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, पंडित हजारी प्रसाद द्विवेदी, प्रो० इरफान हबीब, डॉ० सतीशचन्द्र आदि विद्वानों ने भक्ति-आन्दोलनों के उदय की व्याख्या भिन्न-भिन्न रूपों में की है। जार्ज ग्रियर्सन के लिए वह ईसाई

प्रभाव है, ताराचन्द्र के लिए अरबी देन, आबिद हुसैन की मान्यता से मुस्लिम संस्कृति के सम्पर्क का परिणाम, आचार्य शुक्ल के लिए इस्लामी आक्रमण की प्रतिक्रिया और आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के लिए भारतीय परम्परा का स्वतः स्फूर्त विकास। प्रो० इरफान हबीब जहाँ भक्ति-आन्दोलन को अवर्णों की आर्थिक स्थिति में सुधार से जोड़ते हैं वहीं डॉ० सतीशचन्द्र जैनियों एवं बौद्धों की निष्प्राण साधना-पद्धति के अस्वीकार तथा सूफी सन्तों के प्रभाव से। ये सभी कारण वस्तुतः विदेशी, देशी, लोक, निम्नवर्ग आदि को महत्त्व देने वाली अलग-अलग दृष्टियां हैं। भक्ति-आन्दोलन के उदय के कारण को समझने के लिए इन दृष्टिकोणों का विवेचन अपेक्षित है।

भक्ति आन्दोलन को ईसाई प्रभाव की देन या मुस्लिम संस्कृति से सम्पर्क का परिणाम बताने वाली जार्ज ग्रियर्सन, ताराचन्द, आबिद हुसैन आदि की धारणाएं अब बहुत विचारणीय नहीं रह गई हैं। जार्ज ग्रियर्सन के अनुसार ईसा की पहली दूसरी शताब्दी में दक्षिण भारत के मद्रास क्षेत्र में ईसाई पादरियों के आगमन से जो करुणा का सन्देश मिला उससे भक्ति-आन्दोलन का अचानक उद्‌भव हुआ।। पर इतने बड़े आन्दोलन का प्रस्फुटन अचानक नहीं हो सकता। दूसरे आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने अनेक साक्ष्यों के आधार पर यह दिखाया है कि करुणा का तत्त्व ईसाई पादरियों के आगमन के बहुत पहले से बौद्ध धर्म में विद्यमान था, अतः उसे ईसाई प्रभाव कहना पूर्वाग्रह से ग्रसित दृष्टि है। इस विवेचन से मुस्लिम संस्कृति से सम्पर्क को भक्ति आन्दोलन का कारण बताने वाली धारणा भी खंडित हो जाती है।

भक्ति-आन्दोलन के उदय के कारकों के सम्बन्ध में सर्वाधिक विवाद आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी की मान्यताओं को लेकर है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल मुस्लिम आक्रान्ताओं से हिन्दुओं के पराभव और उससे उत्पन्न सांस्कृतिक संकट को भक्तिकाल के विकास का प्रमुख कारक मानते हैं। उनके अनुसार 'अपने पौरुष से हताश जाति के लिए भगवान की शक्ति और करुणा की ओर ध्यान ले जाने के अतिरिक्त दूसरा मार्ग ही क्या था?'

आचार्य हजारी प्रसादी द्विवेदी को आचार्य शुक्ल की यह मान्यता स्वीकार नहीं कि भक्तिकाल बाहरी आक्रमण की प्रतिक्रिया है। उन्होंने इसे भारतीय परम्परा का स्वतः स्फूर्त विकास बताते हुए लिखा है-'...लेकिन जोर देकर कहना चाहता हूं अगर इस्लाम न आया होता तो भी इस साहित्य का बाहर आना वैसा ही होता जैसा आज है।' आचार्य द्विवेदी ने आचार्य शुक्ल की धारणा का खंडन करते हुए तर्क दिया कि अगर भक्ति-आन्दोलन इस्लामी आक्रमण की देन होता तो उसका आरम्भ उत्तरी भारत में होना चाहिए था क्योंकि मुस्लिम आक्रमण उत्तरी भारत पर हुआ था

जबकि भक्ति का आरम्भ दक्षिण भारत में हुआ। साथ ही भक्तिकाव्य में हताशा या निराशा का भाव नहीं मिलता, बल्कि वह उत्साह और जिजीविषा का काव्य है।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल को भी इस बात का पता था कि भक्ति का आरम्भ दक्षिण भारत में हुआ और वह वहाँ से उत्तर भारत में आया। वस्तुतः आचार्य शुक्ल की मूल मान्यता यह है कि दक्षिण भारत में भक्ति ने आन्दोलन का रूप नहीं लिया था। उसने आन्दोलन का रूप इस्लामी आक्रमण की प्रतिक्रिया स्वरूप उत्तरी भारत में ग्रहण किया।

पं० हजारी प्रसाद द्विवेदी के अनुसार बौद्ध धर्म क्रमशः लोक स्तरों पर संक्रमित हुआ और धीरे-धीरे निर्गुण और सगुण दोनों भक्ति धाराओं का प्रेरक तत्त्व बन गया। वे प्राकृत–अपभ्रंश की शृंगारिकता की प्रतिक्रिया को भक्तिकाल का दूसरा प्रेरक तत्त्व मानते हैं।

प्रो० इरफान हबीब ने अवर्णों की आर्थिक स्थिति में सुधार को भक्तिकाल के उदय का कारण माना है। उनके अनुसार 7वीं 8वीं शताब्दी में नहर-निर्माण, वस्त्र-निर्माण, स्थापत्य इत्यादि के विकास के कारण अवर्णों की आर्थिक स्थिति सुदृढ़ हुई और उनमें आत्मगौरव का भाव उदित हुआ। यह भक्तिकाव्य, विशेषतः सन्तकाव्य का प्रेरक बना।

डॉ० सतीश चन्द्र राजपूत राजाओं के पराजय के कारण ब्राह्मणों की सत्ता के ह्रास के फलस्वरूप कर्मकांडों की अल्पता, बौद्ध धर्म की क्षयग्रस्तता और सूफी सन्तों के प्रभाव के कारण भाई-चारे एवं प्रेम के सन्देश को भक्तिकाल के उदय का कारण मानते हैं।

इस प्रकार अलग-अलग विद्वानों ने भक्तिकाल के उदय की भिन्न-भिन्न व्याख्या की है। इनमें से किसी एक की व्याख्या को पूर्णतः स्वीकार कर लेना एकांगी होगा। वस्तुतः भक्तिकाल भारतीय परम्परा के ही स्वाभाविक विकास का परिणाम है और इसे तात्कालिक परिस्थितियों के कारण व्यापक और तीव्र होने का अवसर मिला।

भक्तिकाव्य की विशेषताएं

भक्तिकाव्य भक्ति आन्दोलन की उपज है। यह कविता एक आत्ममन्थन के समय निर्मित हुई है। कविता ऐतिहासिक आत्ममन्थन एवं आन्दोलन से जुड़ी होती है, वह समाज का प्रतिनिधित्व करती है। बड़ी कविता वही हो सकती है, जहाँ मनुष्य के संकट को उठाया जा सकता है। भक्ति कविता को जो लोग गिड़गिड़ाहट समझते हैं, वे भक्तिकाव्य की अधूरी व्याख्या करते हैं। दैन्यता एवं आत्मनिरीहता के भाव के

साथ निर्णय का अद्भुत विवेक इस कविता में दिखाई पड़ता है। भक्ति में धर्म साधना का विषय नहीं है भावना का विषय है। साधना हमेशा कृत्रिम होती है, बाहरी होती है। इसलिए शुक्ल ने भक्ति को धर्म का रसात्मक रूप कहा है। इस पृष्ठभूमि में भक्तिकाव्य की कुछ विशेषताओं की पहचान की जा सकती है–

1. भक्ति की केन्द्रीयता

केन्द्र विहीनता मध्यकाल की विशेषता है। मध्यकाल राजनीतिक, सामाजिक स्तर पर टूटा हुआ काल है। किसी भी ऐतिहासिक सयम में मूल्य की कमी से अराजकता फैलती है। मूल्य का होना इस बात का सूचक है कि जीवन-यात्रा का लक्ष्य क्या है? मूल्य को जीवन की सार्थकता का पर्याय माना जाता है। सार्थकता का कोई मूल्य मध्यकाल में दिखाई नहीं पड़ता। मूलतः समग्रता की चिन्ता के भीतर से मूल्य का जन्म होता है। भक्ति-आन्दोलन इसी समग्रता की चिन्ता से जुड़कर 'भक्ति' को चरम मूल्य के रूप में प्रस्तावित करता है। भक्ति की केन्द्रीयता ही भक्तिकाव्य की प्रथम विशेषता है। भक्ति मूलतः मनुष्य के समूचे जीवन को पुनर्गठित करती है। वह मानवीय एकता और सामाजिक भाई-चारे का बहुत बड़ा माध्यम है। दार्शनिक स्तर पर मतभेद होते हुए भी भक्ति के स्तर पर निर्गुण और सगुण में कोई भेद नहीं है। जीवन को सार्थकता देने वाली कोई ईकाई मध्यकाल में नहीं रह गई थी। धर्म भी मध्यकाल में जीवन को सार्थकता नहीं दे रहा था। भक्ति का होना ही अपने-आप में सम्पूर्ण है। इसलिए भक्ति को जीवन की सार्थकता का केन्द्र माना गया। भक्ति मनुष्य होने की शर्त भी है। इसलिए भक्ति मनुष्य को सुन्दर बनाती है।

कबीर–हरि भगति जाने बिना बूड़ि मुआ संसार।

अर्थात् हरि में जिसकी भक्ति नहीं है, वह डूबकर मर जाने लायक है। डूब कर मर जाने वाले इस संसार को सार्थकता केवल भक्ति दे सकती है। तुलसीदास ने ईश्वर से वरदान मांगते हुए कहा है–'देहु भगति तिहुं पाप नसावनि।'

भक्ति के द्वारा ही मूलतः सीमाओं से बाहर निकाला जा सकता है। ऐसी स्थिति में यह भक्ति जीवन को एक आशा देती है, आस्वाद देती है। भक्ति जानने के स्तर पर व्यर्थ है। मध्यकाल के एक विराट शून्य में भक्ति एक केन्द्र के रूप में उपस्थित है। भक्ति रागात्मिका वृत्ति है। भक्ति मूलतः तथ्य को हटाकर उसके स्थान पर भावना को लाती है। भक्ति का एक भावात्मक, सौन्दर्यात्मक और भावनात्मक मूल्य है।

2. नाम स्मरण

हमारा जीवन हमारे विचारों का प्रतिफलन है। विचारों का निर्माण मूलतः क्षणों में घटित होने से होता है। वस्तुतः हमारा जीवन हमारी आदतों का परिणाम है। मनुष्य निरन्तर दोलायमान है। जैविकता और देवत्व की सन्धि पर खड़ा है। विकृति में भक्ति नहीं हो सकती। नाम-स्मरण निरन्तर ईश्वर के बारे में सोचना है। लगातार ईश्वर के बारे में सोचने पर वह परिवेश तैयार हो सकता है जहाँ से ईश्वर को प्राप्त करना अपेक्षाकृत सरल है। इसलिए भक्त कवियों ने नाम स्मरण को बहुत महत्त्व दिया है–

कबीर – निगुर्ण राम जपहुँ रे भाई।
कबीर अपने भाइयों को राम को जपने की सलाह देते हैं।

तुलसीदास – नाम लेत भव सिन्धु सुखाहीं।

अर्थात् नाम ही वह आधार है जिसका स्मरण करने पर जीवन रूपी समुद्र को सुखाया जा सकता है। नाम-स्मरण की पूरी प्रक्रिया मानसिक बदलाव की प्रक्रिया है। नाम-स्मरण की प्रक्रिया के द्वारा मूलतः फिसलन को रोका जा सकता है। नाम-स्मरण की प्रक्रिया स्वायत्त मानसिक स्मरण है जो जीवन को सार्थक कर देता है–

नानक – सुमिरन कर ले मेरे मन,
कूप नीर बिनु, धेनु क्षीर बिनु सावन मेह बिनु।
जैसे तरूवर फल बिना हीना वैसे देह श्रीराम बिना।

3. गुरु की महिमा

गुरु का शाब्दिक अर्थ भारी होता है। सामान्यतः गुरु का अर्थ श्रेष्ठ होता है। भक्ति आन्दोलन में गुरु का अर्थ सम्भावना को उत्पन्न करने वाली ऊर्जा है। किसी भी व्यक्ति का जीवन गुरु के बिना, बीज में छुपे पेड़ की तरह है। गुरु निर्णायक है। गुरु के सम्बन्ध में कबीर कहते हैं –

पीछे लागा जाइ था लोक वेद के साथि
आगे थे सतुगुरु मिल्या दीपक दीया हाथि।'

गुरु मूलतः विवेक दृष्टि देता है। पूरा-का-पूरा भक्तिकाव्य दृष्टिमूलक है। इसलिए भक्तिकाव्य गुरु की महत्ता का बखान बार-बार करता है–

केबीर – गुरु गोविन्द दोनों खड़े काके लागू पाउ।
बलिहारी गुरु अपने गोविन्द दियो बताए॥

तुलसीदास – गुरु बिनु होई न ज्ञान
बिन गुरु ज्ञान कहाँ ते पाऊँ

दीजो ग्यान हरि गुन गाऊँ

जायसी – गुरु सूआ जेहि पंथ दिखावा...

इस तरह से पूरा-का-पूरा भक्तिकाव्य गुरु-कृपा से स्पन्दित है। गुरु वह है जो मूलतः यात्रा के प्रस्थान बिन्दु पर है ! भक्ति मार्ग पर चलने के लिए भी गुरु की कृपा अनिवार्य है।

4. संसार की निस्सारता का बयान

अति लौकिकता सामन्तवाद की अपनी एक खासियत है जो मनुष्य को मानवीयता एवं ईश्वर से विमुख करती है। इसलिए भक्तिकाव्य संसार की नश्वरता की चेतावनी देता है। यह संसार सेमल के फूल की तरह है। इस प्रकार भक्तिकाव्य प्रकारान्तर से चेतावनी का काव्य भी है। एक तरह से वह मानसिक सयानेपन की तैयारी इस चेतावनी के द्वारा करता है। यह असम्पृक्ति जीवन के लिए अनिवार्य है।

5. प्रेम की महत्ता का प्रतिपादन

प्रेम की अद्‌भुत मूल्य चेतना है। यह प्रेम जीवन को आस्वाद देता है, गति देता है और वैराट्य देता है। जीवन में सार्थकता का बोध भर देने वाली चेतना प्रेम से होकर आती है। भक्ति प्रेम स्वरूपा है। प्रेम जीवन को जीने लायक बना देता है। प्रेम की चतुरता मूलतः मीरा में दिखाई देती है। प्रेम मूलतः विषाद में जीवित रहता है। सुख में उसकी पंखुड़ियाँ झड़ जाती हैं। अतः भक्तिकाव्य में शारीरिक उत्सव और मानसिक विषाद दोनों साथ-साथ हैं।

6. अहं का त्याग और आत्म–समर्पण

यह सामान्यतः भक्तिकाव्य की सामान्य प्रवृत्ति है। लघुता से अहंकार की भावना उत्पन्न होती है। अहंकार भक्ति विरोधी और धर्म विरोधी है। इसलिए भक्ति के लिए अहं का त्याग जरूरी है। मूलतः हम अहं की चादर से घिरे हैं जिससे विराटता से कटे हुए हैं। अहंकार अनेक पाश्विकताओं को जन्म देता है। जीवन के अनेक भाग अहं से संचालित होते हैं। काम, क्रोध और लोभ जैसी प्रवृत्तियों का सम्बन्ध अहं से है। अहं के विसर्जन से ही हम सहज हो सकते हैं। इस तरह से अहं का त्याग और आत्म-समर्पण भक्ति का सोपान है।

7. लोकभाषा और लोकजीवन का चित्रण

भक्तिकाव्य मूलतः लोक जागरण का काव्य है। इसलिए लोकजीवन का चित्रण एवं लोकभाषा का ग्रहण समूचे भक्तिकाव्य में दिखाई देता है। इसके माध्यम से भक्तिकाव्य

सामान्य मनुष्य को प्रतिष्ठित करता है। वस्तुतः भक्तिकाव्य के केन्द्र में सामान्य मनुष्य ही है। तुलसी के राम के सहायक भी अयोध्या की सेना नहीं है। कबीर में लोकजीवन और लोक आकांक्षा की अभिव्यक्ति सबसे साफ दिखाई पड़ती है। पूरा-का-पूरा भक्तिकाव्य का मूल आधार लोकजीवन है। भक्तिकाव्य प्रकारान्तर से आभिजात्यता से कविता की मुक्ति की काव्य है।

भक्तिकाव्य की विभिन्न धाराएँ

मूलतः समूचे भक्तिकाव्य के दो रूप हैं–

1. निर्गुण काव्य
2. सगुण काव्य

निर्गुण काव्य के दो भेद किए गए–

1. ज्ञानाश्रयी धरा या सन्त काव्य धारा
2. प्रेमाश्रयी धारा या सूफी काव्यधारा

सगुण काव्यधारा के भी दो भेद किए गए –

1. राम काव्यधारा 2. कृष्ण काव्यधारा

सन्तकाव्य की प्रवृत्तियाँ

सन्त काव्यधारा मध्यकालीन भक्ति–आन्दोलन का एक महत्त्वपूर्ण आयाम है जिसे आचार्य शुक्ल ने ज्ञानाश्रयी काव्यधारा के रूप में संज्ञापित किया है। भक्तिकालीन काव्य में सन्त–साहित्य का आशय उन निगुर्ण कवियों से है जिन्होंने अपनी उपासना का आधार अवतारी ईश्वर के स्थान पर गुणातीत ब्रह्म को बनाया। सन्त कवियों के काव्य में सामान्यतः अनुभूति की वरीयता है और सत्संगों का प्रभाव भी, इसलिए इनके साहित्य में अनेक दार्शनिक पद्धतियों और भक्ति–धाराओं का समावेश हुआ है। विद्वानों की मान्यता है कि सन्तकाव्य में औपनिषदिक चिन्तन, शंकर के अद्वैतवाद, नाथपन्थियों की योग–साधना और सूफियों के प्रेमतत्त्व का गहरा प्रभाव लक्षित होता है। सन्त काव्य का अध्ययन करते हुए उनकी निम्नांकित प्रवृत्तियां लक्षित की जा सकती हैं :

1. गुरु के महत्त्व की प्रतिष्ठा

सन्तों ने 'सद्गुरु' शब्द का प्रयोग किया है। सन्तकाव्य में गुरु शिक्षक नहीं है, वह स्वयं प्रकाश है, सम्पूर्ण ज्ञान है।

वहाँ उसकी चर्चा ज्ञानस्वरूप ब्रह्म के समानान्तर की गई है। यह गुरु साधक को मायाजनित अन्धकार से बाहर निकालकर ब्रह्मानुभूति या ब्रह्मज्ञान के स्निग्ध आलोक में पहुंचा देता है।

'पीछे लागा जाइ था, लोक वेद के साथि'
आगे थे सदगुरु मिल्या, दीपक दीया हाथि।'

गुरु साधक को मंजिल पर पहुंचाता है और उसकी सम्पूर्ण साधना का नियामक होता है। इसलिए सन्तों ने ऐसे गुरु के प्रति अनन्त कृतज्ञता की भावना ज्ञापित की है। कई बार खास कर कबीर के यहाँ गुरु को रंगरेज के रूप में भी चित्रित किया गया है–

'सदगुरु है रंगरेज चुनरिया रंग डाली।'

अतः गुरु–महिमा या गुरु–महत्त्व की स्वीकृति सन्तकाव्य की आधारभूत विशेषता है।

2. निर्गुण ब्रह्म के प्रति आस्था

सन्तों की साधना का आधार निर्गुण ब्रह्म है। इस ब्रह्म को सन्त कवियों ने सामान्यतः सगुण नामों से पुकारा है। लेकिन इन सुगण संज्ञाओं का धारक निर्गुण ब्रह्म है। इस ब्रह्म की प्राप्ति को अनुभूतिजन्य ज्ञान में ही धारण किया जा सकता है

अबरक एक अकल अविनासी
घटि–घटि आये रहे
तोल न मोल माप कुछ नाहि
गिनती ज्ञान न होई
नासों भारी ना सोंहलहा
ताकि पारिस लखै न कोई।

सन्तकाव्य की साधना का मूल आधार यह निर्गुण ब्रह्म है और इस निर्गुण ब्रह्म की उपलब्धि कोरे ज्ञान से नहीं बल्कि अनुभूतिजनित साधना के आधार पर ही सम्भव हो सकती है।

3. माया की भर्त्सना

सन्तकवियों ने माया को सम्पूर्ण अनर्थों का कारण माना है। यह माया साधक को पथभ्रष्ट करती है। मूल सत्य को आच्छादित करके साधक की आँखों पर असत्य का पर्दा टांगती है और मनुष्य के मन में अनन्त इच्छाओं और तृष्णाओं का समावेश करके उसे आजीवन बेचैन रखती है। इसलिए सन्तों ने बार–बार इस माया से

सावधान रहने की सलाह दी है। चूंकि यह माया समूचे जगत में व्याप्त है और भ्रम को वास्तविकता में रूपान्तरित करने की दुर्ज़ेय शक्ति से युक्त है, इसलिए इस माया के प्रपंच को गुरु की कृपा से ही अतिक्रमित किया जा सकता है। वस्तुतः सन्तकाव्य में माया की मूल भूमिका साधक की ब्रह्म उपासना को बाधित करना बताया गया है—

कबीरा माया पापिनी, हरि सों करे हराम।
मुख कड़ियाली कुमति की, कहन न देई राम।।

जागतिक सम्बन्धों में माया का सर्वाधिक प्रबल रूप नारी है। चूंकि नारी स्वयं मायारूपिणी है, इसलिए सन्तकवियों ने विशेष रूप से नारी के कामिनी रूप पर तीखे प्रहार किये हैं। नारी को इन कवियों ने नरक का कुंड, काली सर्पिणी, विष की लता और मुक्ति—साधना की सबसे बड़ी साधक शक्ति के रूप में चित्रित किया है। नारी के इस कामिनी रूप से केवल वे ही मुक्त हो सकते हैं जिन्होंने ज्ञान प्राप्त कर लिया हो—

नारी कुंड नरक का वरिला थंभै बाग।
कोई साधूजन उबरै सबजन मुआ लाग।।

4. साधना-पद्धति

साधना मूलतः लक्ष्य प्राप्ति की क्रियाशीलता का नाम है। सन्तकवियों की साधना-पद्धति का स्वरूप इकहरा नहीं है। इनका मानना है कि ब्रह्म की प्राप्ति भावना और ज्ञान के योग से सम्भव हो सकती है। इसलिए सन्त कवियों ने अपने निर्गुण ब्रह्म को लौकिक सम्बन्धों से सम्बोधित किया है। साधना के इस स्वरूप पर वैष्णव भक्ति-चिन्तन का गहरा प्रभाव दिखाई देता है। दयालुता, भक्त वत्सलता, करुणा, आदि को ईश्वर का गुण बताया गया है। वैष्णव भक्ति-पद्धति के नाम-स्मरण, सत्संगति, शरणागति जैसे भक्ति-मूल्यों को भी सन्त कवियों ने अपनाया है।

भगति भजन हरि नाम है, दूज्या दुःख अपार।
मनसा वाचा कर्मणा, कबीर सुमिरन राम।।

अहिंसा और सदाचार को भी साधक के लिए अनिवार्य बताया गया है।

सन्तों की भक्ति-पद्धति पर सूफियों के प्रेमतत्त्व का प्रभाव भी दिखाई देता है। **प्रेम-भावना की मार्मिक अभिव्यक्तियाँ** सन्त काव्य को काव्यात्मक उत्कर्ष प्रदान करती हैं और वे साधनों में साधक की अनुभूतिपरकता का भी प्रमाण उपस्थित करती हैं। आचार्य शुक्ल ने इस प्रकार की प्रणयपरक कविताओं को भावनात्मक रहस्यवाद के अन्तर्गत रखा है। ऐसी कविताओं के कुछ उदाहरण प्रस्तुत हैं :—

(1) निसि दिन खेलत रहि सखियन संग
मोहि बड़ा डर लागे
मोरे साहब की ऊँची अटरिया
चढ़त में जियरा काँपे

(2) कहै कबीर सुनो सखि मोरी
प्रेम होई सो जाने
निज प्रियतम की आस नहीं है
नाहक काजल पारै।

(3) बालम आओ हमारे गेह रे
तुम बिन दुखिया देह रे

(4) विरह भुवंगम तन बसै
मन्त्र न लागै कोई
राम वियोगी ना जीवै
जीवै तो बौरा होए।

मूलतः सन्त कवियों ने अपनी भक्ति-पद्धति में सूफियों के प्रेम तत्त्व के आधार पर प्रणय की मार्मिक अभिव्यक्ति की है। सन्तों के यहाँ विरह सम्बन्धों और ईश्वरीय अनुभूति का मापदंड है। विरह की पीड़ा साधक को साधना के लिए प्रेरित करती है और जीवन को एक मूल्यवान सार्थकता प्रदान करती है–

विरहा बुरहा जिन कहौ
विरहा है सुलतान
जिहि घट विरह न संचरै
सो घट सदा मसान

विरह के साथ सन्तकाव्य में अनेक स्थानों पर संयोग की मार्मिक स्थितियों का चित्रण भी किया गया है। मिलन का उल्लास इस धारा के प्रतिनिधि कवि कबीर के अनेक पदों में दिखाई देता है –

दुलहिनी गावहु मंगलाचार
हम घरि आए हौ राजा राम भरितार।

अथाह विरह के साथ मिलन की घड़ी आई है और प्रियतमा बड़े यत्न से प्रियतम को अपने समूचे अस्तित्व में समो देना चाहती है–

नैनों की करि कोठरी, पुतरि पलंक बिछाए।
पलकों की चिक डारि के, पिय को लियो रिझाए।।

सन्तों की साधना-पद्धति का दूसरा महत्त्वपूर्ण आधार **योग-पद्धति** है जिस पर

नाथपन्थियों का गहरा प्रभाव है। द्विवेदी जी की धारणा है कि सन्तों की योग-साधना में आस्था और भावनाओं का समावेश हो गया है। इसलिए इनकी योग-साधना विशुद्ध रूप से शास्त्रीय न होकर अनुभवात्मक भी हो गई है। सन्तकाव्य का एक बड़ा हिस्सा समाधि, शून्य, सहस्रार, इला-पिंगला-सुषुम्ना, कुंडलिनी जैसे योगपरक शब्दों से/पदों से निर्मित हैं। योग-साधना पर विश्वास के कारण ही सन्तकवियों ने इस शरीर की कल्पना घट के रूप में की है और उनका मानना है कि योग की विशेष साधना के द्वारा कुंडलिनी जागृत करके अनहद नाद की उपलब्धि की जा सकती है। कबीर के अनेक पदों में इस समाधि के प्राप्त होने के संकेत दिखाई देते हैं —

कबीर कंवल प्रकासिया, उग्या निर्मल सूर।
निसी अंधियारी मिट गयी, बाजै अनहद तूर।
आकासे मुख औंधा कुआं, पताले पनिहारी।।
ताका पानी को हंसा पीवै, बिरला आदि विचारि।।

पनिहारी कुंडलिनी, औंधा कुआं ब्रह्मरन्ध्र, हंस जीवात्मा का प्रतीक है।

5. सामाजिक चेतना

सामाजिक चेतना सन्तकाव्य की रचनाशीलता का एक महत्त्वपूर्ण आधार है। साधनात्मक और रचनात्मक ऊर्जा की सर्वाधिक सशक्त अभिव्यक्ति इन कवियों की सामाजिक चेतना में अभिव्यक्त हुई है। इन सन्तकवियों ने अपने काव्य में हिन्दू समाज की **वर्ण-व्यवस्था** के अतिरिक्त **धार्मिक पाखंडों, ब्राह्याचारों** एवं **अन्धविश्वासों** को भी अपने आक्रमण का निशाना बनाया है। जन्म के आधार पर मनुष्य की कोटियां निर्धारित करने वाली वर्ण व्यवस्था की अन्धता और विवेकहीनता को इन कवियों ने बार-बार उद्घाटित किया है। इन कवियों की मान्यता है कि ईश्वर की बनायी हुई इस सृष्टि में सभी समान हैं इसलिए वे अपूर्व आत्मविश्वास के साथ ब्राह्मण और शूद्र में भेद करने वाली जीवन-दृष्टि को ललकारते हैं —

जे तू बाहमन बमनी जाया,
आन बाट काहे नहीं आया।।

इसके अतिरिक्त सन्तकवियों ने समाज में प्रचलित अनेक बाह्याचारों की निरर्थकता पर भी प्रकाश डाला है। एक स्थान पर कबीर कहते हैं—

जप तप दिसै भोथरा, तीरथ-व्रत बेसास।
सौवे सेवल सेबिया, यौं जग चला विरास।।

सन्तों का बलाघात मन के नियन्त्रण पर है। संयम एवं मानसिक नियन्त्रण ही साधना को अर्थवत्ता प्रदान कर सकता है, इसलिए इन कवियों ने बार-बार मन को

साधने की बात की है—

कर पकड़े अंगुरि गिनै, मन धावै चहुँ ओर।
जाह फिराया हरि मिला, सो भया काठ की ओर।।

आस्थाजनित, भावनाजनित, निष्ठाजनित नहीं है उसका विरोध।

कथनी और करनी की अद्वैतता सन्तकाव्य के सामाजिक चेतना की एक विशेष प्रवृत्ति है। मनुष्य की प्रामाणिकता उसके कथन पर नहीं बल्कि कर्म पर आधारित होती है। आचरण और कथन की एकरूपता से ब्रह्म की सहज उपलिब्ध सम्पन्न हो पाती है—

जैसी मुख ते निकसैं, तैंसी चाली चाल।
पार ब्रह्म नेड़ा रहे, पल में करै निहाल।।

6. सदाचार पर बल

सन्तकाव्य में सदाचरण को साधक की साधना का एक अनिवार्य अंग बताया गया है। मानसिक और शारीरिक कर्म की पवित्रता इस सदाचार के महत्त्वपूर्ण आधार हैं। अहिंसा, दया और करुणा इस सदाचार की मूर्त अभिव्यक्तियां हैं। कबीर के पदों में इस सदाचार की महिमा बार-बार वर्णित हुई है। सदाचार की महत्ता प्रतिपादन की प्रक्रिया में ही सन्तकवियों ने मन की चंचलता, शरीर की नश्वरता एवं जगत की निस्सारता की चर्चा की है। सदाचारी व्यक्ति मन से नहीं, बल्कि विवेक से संचालित होता है—

(क) मन के मते न चालिए, छाड़ि जीव की बानि।
(ख) मन रे तन कागज का पुतला
लागै बूंद बिनस जई छीन मे
गर्व करै का इतना।

सन्त कबीर बार-बार मनुष्य-जन्म की दुर्लभता की बात करते हैं और ब्रह्म-प्राप्ति के महान दायित्व की ओर संकेत करते हैं —

मनिषा जनम दुलम्भ है, देह न बारमबार।
तरवर तै फैल झर पड़या, बहुरि न लागै डार।।

7. काव्य–संगठन

सन्तकवि प्रचलित अर्थों में रचनाकार नहीं थे। वस्तुतः कविता इन सन्तो का लक्ष्य नहीं थी। चेतना और अनुभूति की प्रगाढ़ता की सहज अभिव्यक्ति ही इनकी रचनाओं में हुई है, इसलिए कविता के परम्परागत प्रतिमानों की कसौटी पर इनका काव्य खरा

नहीं उतरता। आचार्य शुक्ल ने सम्भवतः इसीलिए मार्मिकता की दृष्टि से सन्तकाव्य को महत्त्व नहीं दिया। लेकिन बाद में द्विवेदी जी ने इस काव्य की अनुभूतियों का उद्घाटन किया और यह सिद्ध किया कि अपने प्रभावात्मक रूप में यह कविता अनुभूति की उन गहराइयों तक पहुंचती है जहाँ तक पहुंचना किसी भी महान कविता का रचनात्मक लक्ष्य हो सकता है। लेकिन यह सच है कि काव्य-संगठन के प्रति उदासीनता सन्तकाव्य में सर्वत्र दिखाई देती है। अनगढ़ता सन्तकाव्य की एक खास पहचान है।

सन्तकाव्य की भाषा का स्वरूप मानक नहीं है। इसमें ब्रज और अवधी के अतिरिक्त राजस्थानी, भोजपुरी, पंजाबी, जैसी प्रान्तीय भाषाओं के शब्दों का प्रयोग किया गया है। सम्भवतः इसीलिए आचार्य शुक्ल ने इनकी भाषा को सधुक्कड़ी भाषा कहा था। अलंकारों की शोभा का कोई सायास प्रयास इस काव्य में नहीं मिलता। मूलतः सन्तकाव्य जनचेतना और जनभाषा की ऊर्जा से निर्मित काव्य है, इसलिए वह रचना के आभिजात्यवादी संस्कारों को चुनौती देता है और एक नए काव्य-प्रतिमान की मांग करता है।

सन्तकाव्य में सर्वत्र **मुक्तक-शैली** का प्रयोग किया गया है। निर्गुण ब्रह्म का आधार होने के कारण इस कविता में प्रबन्ध की कोई सम्भावना भी नहीं थी। **उलट-बांसियों** का प्रयोग सन्तकाव्य की काव्य-शैली की एक प्रमुख विशेषता है। उलटबांसियों में इन कवियों ने अपने आध्यात्मिक अनुभवों को प्रतीकों के माध्यम से व्यक्त किया है।

समग्रतः सन्तकाव्य हिन्दी काव्य की एक महत्त्वपूर्ण उपलब्धि है, यद्यपि इस काव्य का सौन्दर्य पक्ष बहुत उन्नत नहीं है, लेकिन इस कविता ने जिन मानवीय और सामाजिक मूल्यों पर बल दिया, वे मूल्य भारतीय संस्कृति के आधारभूत पहचान बने। इतिहास के उस मोड़ पर जहाँ बाह्याचारों और अन्धविश्वासों के असह्य कोलाहल में धर्म की मूल चेतना लुप्त हो रही थी, इन सन्त कवियों ने धर्म और मनुष्यता दोनों की एक साथ रक्षा की। आचार्य शुक्ल के इस कथन से सहमत हुआ जा सकता है – 'इसमें कोई सन्देह नहीं कि कबीर ने ठीक मौके पर जनता के उस बड़े भाग को संभाला जो नाथ पन्थियों के प्रभाव से प्रेम भाव और भक्ति-रस से शून्य और शुष्क पड़ता जा रहा है। उनके द्वारा यह बहुत ही आवश्यक कार्य हुआ। इसके साथ ही मनुष्यत्व की सामान्य भावना को आगे करके निम्न श्रेणी की जनता में उन्होंने आत्म-गौरव का भाव जगाया और भक्ति के ऊंचे-से-ऊंचे सोपान की ओर बढ़ने के लिए बढ़ावा दिया।'

हिन्दी सूफी काव्य परम्परा

हिन्दी सूफी काव्य परम्परा का सूत्रपात **मुल्ला दाउद** के **चन्दायन** से होता है जिसकी रचना 1379 ई० में हुई। यह कृति उत्तर प्रदेश और बिहार में प्रचलित लोरिक एवं चन्दा की प्रेम कथा पर आधारित है। यह कृति एक विशुद्ध लौकिक कथा को एक प्रतीक व्यवस्था के द्वारा आध्यात्मिक सन्दर्भों में रूपान्तरित करती है। इस काव्यधारा के दूसरे महत्त्वपूर्ण कवि हैं - कुतुबन। उनकी कृति है मृगावती (1503–4)। तीसरे और इस धारा के शिखर कवि मलिक मुहम्मद जायसी हैं। इनकी रचनाएँ अखरावट, आखिरी कलाम और पद्मावत हैं। पद्मावत (1527 या 1547) सूफी काव्य की चरम उपलब्धि है। शुक्ल जी जैसे बड़े आलोचक ने रामचरितमानस के बाद इसे ही स्थान दिया है। अगले महत्त्वपूर्ण कवि हैं—

मधुमालती	–	मंझन (1547)
उस्मान	–	चित्रावली (1613)
शेखनबी	–	ज्ञानदीप (1619)
कासिम शाह	–	हंस जवाहिर (1731)
नूर मुहम्मद	–	इन्द्रावती (1744)
		अनुराग बाँसुरी (1764)

इस तरह से 14वीं शताब्दी से 18वीं शताब्दी के पूरे अन्तराल में सूफी काव्य की रचना होती रही। सम्पूर्ण काव्य के अनुशीलन के आधार पर उसकी कुछ विशेषताएं तय की जा सकती हैं।

(1) जीवन-मूल्य के रूप में प्रेम की प्रस्तावना

समूचे मध्यकालीन काव्य में सिर्फ सूफी काव्य ही ऐसा है जो ईश्वरीय प्रेम के समानान्तर मानवीय प्रेम की भूमिका को भी महत्त्व देता है। प्रेम सूफी काव्य की सर्जनात्मक ऊर्जा भी है और आध्यात्मिक साधना का केन्द्र भी। संसार में होने को मान लेने पर ही मूल्य का अर्थ हो सकता है। सूफियों ने मूल्य के लिए जिस चेतना की खोज की वह प्रेम था। मूल्य प्रामाणिक होने का मापदंड है। वह मनुष्य होने की शर्त है। मूल्य प्राकृतिक उपलब्धि नहीं है। जिस बिन्दु पर हम जैविकता से अलग होते हैं वही मूल्य का बिन्दु है। मूलतः देश और समाज के लिए सोचना मूल्य के द्वारा ही सम्भव हो सकता है। मूल्य का टूटना आदमी का टूटना है।

मध्यकाल में सूफियों ने प्रेम को सार्थकता के रूप में स्थापित किया। मूल्य हमारे छोटेपन को तोड़ता है और बड़ा होने का अवसर देता है। सूफियों ने मूल्य को

प्रेम कहा है। भारतीय परम्परा में भक्ति को मूल्य कहा गया है। स्त्री–पुरुष का प्रेम ही मूल्य है। इसलिए जो प्रेम कर सकता है, वही आध्यात्मिक हो सकता है।

"मानुष प्रेम भयेउ बैकुण्ठी
नाहिं त काम छार भर मूठी।"

मनुष्य का प्रेम ही बैकुंठ यानी चरमता, अन्तिमता को दे सकता है नहीं तो यह एक मुट्ठी राख के अलावा क्या है ? प्रेम के बिना जीवन मिट्टी है। प्रेम का लक्षण निर्धारित करते हुए सूफियों ने कहा विरह ही प्रेम का लक्षण है। तमाम सूफी काव्यों में प्रेम विरह का विषय है। मूलतः प्रेम विरहानुभूति है। सूफियों का विरह आध्यात्मिक गुणों से संचालित है। जबकि भारतीय विरह में पीड़ा महत्त्वपूर्ण है।

(2) सांस्कृतिक समन्वय का सूत्रपात

भारत विभिन्न जातियों, धर्मों एवं संस्कृतियों का देश रहा है। लेकिन भारतीय इतिहास के मध्यकाल में इस्लाम का आक्रमण और उसकी सत्ता इस समाज के लिए एक अप्रत्याशित और अपमानजनक घटना थी। इस्लाम और भारतीय समाज के बीच अनेक स्तरों पर तनावों की सृष्टि हुई और हिन्दुस्तान ने अपने लम्बे इतिहास में पहली बार एक नये सांस्कृतिक संकट का अनुभव किया। लुटेरों और आक्रमणकारियों के रूप में आने वाले मुसलमान आक्रमणकारी धीरे–धीरे यहीं बसने लगे और मुसलमानी सत्ता की स्थापना के साथ इस्लामी समाज का भी प्रसार होने लगा। इस्लामी संस्कृति और भारतीय संस्कृति के जीवन–मूल्यों और जीवन–पद्धतियों में एक विचित्र प्रकार का वैविध्य था। इससे उपजे तनाव और सांस्कृतिक भिन्नता को सूफियों ने दूर करने की कोशिश की। सूफी काव्य ने इतिहास के उस मोड़ पर उस सांस्कृतिक समन्वय का सूत्रपात किया जो भारतीय समाज और मानव–मूल्यों के लिए आवश्यक थी। सामासिक संस्कृति को जीवन–मूल्य और जीवन–शक्ति के रूप में प्रस्तावित करने वाले इन महान सूफी कवियों ने आधुनिक भारत की मानसिकता की नींव रखी। एक स्तर पर उन्होंने सांस्कृतिक चेतना का पुनर्गठन किया।

(3) लोक कथाओं का प्रतीकात्मक रूपान्तरण

सभी सूफी कवियों ने हिन्दू समाज में प्रचलित लोक कथाओं को अपने प्रबन्ध का आधार बनाया है। ये लोक कथाएं मूलतः प्रेम कथाएं हैं और इन कथाओं में प्रेम की त्रासदी को दर्शाया गया है। प्रेम के इस त्रासद पक्ष के आधार पर सूफी कवियों ने अपने काव्य की अन्तर्वस्तु की रचना की है।

(4) प्रकृति का रागात्मक चित्रण

सूफी काव्य अपने आध्यात्मिक दर्शन के आधार पर संपूर्ण प्रकृति को खुदा के नूर की अभिव्यक्ति मानता है। इसलिए सूफी कवियों ने अपने काव्य में प्रकृति का विशद् और भावपूर्ण वर्णन किया है। सन्त काव्य में प्रकृति लगभग अनुपस्थित है। कृष्ण काव्य में भी प्रकृति की चर्चा सामान्यतः उद्दीपन या आलम्बन रूप में की गई है।

सूर– पिया बिना सांपिन काली रात
तुलसीदास के यहाँ भी ऐसा है।
घन घमंड नभ गरजत घोरा
पियाहीन मन डरपत मोरा।

सूफियों के यहाँ प्रकृति का बेहद भावपूर्ण और स्वतन्त्र चित्रण किया गया है। सूफी कवि चूंकि प्राकृतिक सौन्दर्य का चित्रण करते हुए ईश्वरीय सौन्दर्य का वर्णन करता है, अतः वह आध्यात्मिक तृप्ति का अनुभव करता है। इतने बड़े पैमाने पर प्रकृति का स्वतन्त्र चित्रण सामान्यतः हिन्दी काव्य परम्परा में दुर्लभ है।

दूसरी महत्त्वपूर्ण बात है कि सूफियों ने पहली बार प्रकृति को चेतन सत्ता के रूप में चित्रित किया है। वियोग के क्षणों में समूची प्रकृति दुःख में डूबी है और संयोग के क्षणों में उल्लसित और हर्षित चित्रित की गई है :

बरसै मघ झकोर–झकोरी
मोरि है नैन जुवै जस ओरी

कई बार ईश्वरीय सौन्दर्य की सूचना देने के लिए सूफी कवि प्रकृति का प्रयोग करते हैं–

शशि मुख अंग मलय गिरिवासा
नागिर झांप लिपटै चहु पासा
ऊनै घटा परी जग छांहा
शशि के संग लिन्ह जनु राहा।

(5) विरह का अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णन

सूफी काव्य की मार्मिकता का आधार प्रेम का वियोग पक्ष है। वियोग वस्तुतः सम्बन्धों की अनुभूति का आधार होता है। वियोग का वर्णन दो कारणों से है–प्रेम की लौकिकता की मार्मिकता और प्रामाणिकता के लिए तथा आध्यात्मिक अभिप्राय के लिए। आलोचकों का मानना है कि हिन्दी कवियों के विरह–वर्णन पर ईरान के सूफियों का प्रभाव है। कई बार सूफियों के यहाँ विरह–वर्णन अतिशयोक्तिपूर्ण लगने लगता है।

कई जगह तो वर्णन विभत्स भी है। लेकि सामान्यत: जायसी जैसे बड़े कवि अतिश्योक्तिपूर्ण वर्णन करते हुए भी विरह की मार्मिकता का निर्वाह करते हैं—

प्रिय से कहहुँ संदेशड़ा, हे भौंरा हे काग।
सो धनि विरहै जरि मुई, तेहिक धुआं हम लाग।

(6) गुरु की महत्ता का प्रतिपादन

गुरु सिर्फ ज्ञान प्रदान करने वाला नहीं बल्कि साधक को मंजिल तक पहुंचाने वाला साधक भी है। सूफियों का मानना है कि गुरु के बिना आध्यात्मिक अनुभूति का स्फुरण ही सम्भव नहीं है। वह आध्यात्मिक साधना के मार्ग में आने वाली तमाम बाधाओं का सामना करने की शक्ति और उससे मुक्त होने का उपाय बताता है। इसलिए गुरु आध्यात्मिक साधना के प्रस्थान बिन्दु से लेकर अनुभूति की मंजिल तक साधक को प्रोत्साहित और संचालित करता है। इसलिए सन्त कवियों की तरह सूफी कवियों में भी गुरु के प्रति एक गहरी कृतज्ञता की भावना लक्षित होती है।

(7) शैतान की अवधारणा

शैतान सूफी काव्य और सूफी साधना का एक अनिवार्य प्रमेय है। साधक और उसके लक्ष्य के बीच अनेक प्रकार की बाधाओं की सृष्टि करना शैतान की सक्रिय का लक्ष्य है। शैतान की अवधारणा भारतीय अद्वैतवाद से मिलती-जुलती है। लेकिन सूफी काव्य में शैतान की भूमिका को सकारात्मक माना गया है क्योंकि शैतान द्वारा उत्पन्न की गई बाधाओं को तोड़कर पाया गया लक्ष्य साधक को उपलब्धि की अनूभूति से भर देता है। लौकिक स्तर पर भी शैतान जीवन को प्रामाणिकता देता है उसे संघर्ष के संवाद से भर देता है।

(8) काव्य-संगठन

प्राय: सभी सूफी कवियों ने अपने काव्य की रचना प्रबन्ध शैली में की है। प्रबन्ध शैली में खासकर मसनबी शैली का प्रयोग किया है। मसनबी शैली की कुछ विशेषताएं ये हैं—1. परमात्मा की स्तुति, 2. शासक की सूचना, 3. गुरु की स्तुति, 4. सात चौपाइयों के बाद दोहे का इस्तेमाल। प्राय: सभी कवियों ने चौपाई और दोहा छन्दों का प्रयोग किया है। भाषा ठेठ अवधी है। इनकी लिपि फारसी है।

निष्कर्ष

काव्य-सौन्दर्य और काव्य-मूल्य की दृष्टि से सूफी काव्य मध्यकालीन हिन्दी कविता

की एक महत् उपलब्धि है। भावों की मार्मिकता, आध्यात्मिक अनुभव और काव्य-सौन्दर्य की दृष्टि से इस कविता का महत्त्व तो है ही, साथ ही जीवन-मूल्यों और सांस्कृतिक मूल्यों के जिन प्रतिमानों की रचना इन सूफियों ने की है वे किसी-न-किसी स्तर पर इस देश की महान सांस्कृतिक परम्परा के महत्त्वपूर्ण सूत्र हैं।

सन्त काव्यधारा और सूफी काव्यधारा का तुलनात्मक अध्ययन

सन्त और सूफी काव्यधाराएं मध्यकालीन साधना के निर्गुण सम्प्रदाय के अन्तर्गत आती हैं। ये दोनों धाराएं बहुदेववाद और अवतारवाद की धारणा का निषेध करती हैं और ब्रह्म की अखंडता और व्यापकता में विश्वास करती हैं। इन दोनों धाराओं का अध्ययन करते हुए इनके कुछ समान और असमान बिन्दु लक्षित होते हैं जिन्हें निम्नांकित शीर्षकों के अन्तर्गत विश्लेषित किया जा सकता है :

समानता के बिन्दु

(1) **ब्रह्म का स्वरूप :** दोनों काव्यधाराओं में एक अखंड और सर्वव्यापी ब्रह्म की अवतारणा की गई है। यह ब्रह्म सर्वव्यापी है और यह जगत उसी ब्रह्म का प्रतिबिम्ब है। जीवात्मा और ब्रह्म में मायाजनित दूरी है और इस दूरी को लांघकर ब्रह्म को प्राप्त कर लेना साधक के जीवन की सार्थकता है।

(2) दोनों ही काव्यधाराओं में गुरु के महत्त्व की अन्यतम प्रतिष्ठा है। सन्त काव्य में जिसे गुरु कहा गया है, सूफियों ने उसे पीर कहा है। गुरु के बिना साधना सफल नहीं हो सकती और न ही साधक अपनी मंजिल को पहचानने में सफल हो सकता है। वस्तुतः दोनों ही काव्यधाराओं में गुरु प्रकाश और ऊर्जा का केन्द्र है जो साधक में विवेक और निरन्तर साधना को शक्ति प्रदान करता है। यही कारण है कि दोनों ही काव्यधाराओं में गुरु के प्रति गहरी कृतज्ञता की भावना दिखाई देती है।

(3) **रहस्यवादी चेतना :** रहस्यवाद अपने मूल स्वरूप में अरूप और अज्ञात सत्ता के प्रति किया गया प्रणय निवेदन है। इस दृष्टि से दोनों काव्यधाराएं लौकिक प्रणय-चेतना को अलौकिक आधार देती हैं। विरह की अथाह पीड़ा और कभी खत्म न होने वाली प्रतीक्षा की बेचैनी इन दोनों ही काव्यधाराओं की रचनात्मक उपलब्धियां हैं। यद्यपि सूफी कवियों में बाहरी प्रभावों के कारण विरह का स्वरूप किंचित अतिशयोक्तिपूर्ण हो गया है लेकिन उसकी मार्मिकता को इस धारा के महान कवियों ने सुरक्षित रखा है। सन्त काव्यधारा के प्रतिनिधि कवि कबीर अपनी तमाम अक्खड़ता

के बावजूद प्रणय प्रसंगों में भावनाओं और रिश्तों के एक बेहद सुकुमार दुनिया की सृष्टि करते हैं।

(4) सन्त और सूफी काव्यधाराओं में क्रमशः माया और शैतान की अवधारणा की गई है। यह सच है कि माया और शैतान की अवधारणाएं अक्षरशः एक-दूसरे की पर्याय नहीं हैं लेकिन ब्रह्म-प्राप्ति के मार्ग में बाधक शक्ति के रूप में दोनों की भूमिकाएं एक जैसी हैं।

असमानता के बिन्दु

(1) सूफियों के एकेश्वरवाद और सन्तकाव्य की अद्वैत-चेतना में बुनियादी फर्क है। सूफी खुदा को एक मानते हैं और पूरी सृष्टि को उसके अप्रतिम सौन्दर्य का प्रतिबिम्ब। इसलिए सूफी साधक इस जागतिक सौन्दर्य को ब्रह्मानुभूति की पूर्वपीठिका के रूप में स्वीकार करता है। ब्रह्म और साधक के रूप में फैला हुआ यह जगत एक सफर है जिससे गुजर कर साधक ब्रह्म तक पहुंचता है। इसलिए सन्तकाव्य के विपरीत सूफी काव्य में इस जगत के प्रति गहरी आसक्ति और भावात्मक तन्मयता की प्रवृत्ति दिखाई देती है।

(2) सन्त साधक ब्रह्म को ज्ञानगम्य मानते हैं और इसीलिए उसकी प्राप्ति के लिए ये योग साधना की प्रस्तावना करते हैं। यद्यपि कबीर जैसे महत्त्वपूर्ण सन्त कवियों ने अनुभूति युक्त ज्ञान की निर्बलता पर प्रहार किया है लेकिन सन्त साधना की समूची संरचना के केन्द्र में ज्ञान ही है। सन्त काव्य में गुरु भी ज्ञान का उपदेश देता है और ब्रह्म की अनूभूति भी एक स्तर पर ज्ञानानुभूति ही होती है। इस प्रकार साधना की आरंभिक प्रक्रिया से लेकर ब्रह्मानुभूति तक में ज्ञान की केन्द्रीय भूमिका दिखाई देती है। सूफी साधक अपनी सम्पूर्ण साधना में ज्ञान का आद्यन्त निषेध करते हैं। उनका खुदा भी प्रेममय है और उनका गुरु भी प्रेम का उपदेश देता है। उनकी समूची साधना-प्रक्रिया भी प्रणय के गहरे आवेशों के भीतर संचालित होती है। प्रेम की इस केन्द्रीयता के कारण ही सम्भवतः इस काव्यधारा को प्रेमाख्यान काव्यधारा के रूप में भी जाना गया है। वस्तुतः सूफियों के यहाँ प्रेम जीवन का चरम मूल्य है जो ब्रह्म की तरह ही साधना की पहली मंजिल से लेकर आखिरी मंजिल तक परिव्याप्त है। यह प्रेम आरम्भिक अवस्था में लौकिक स्तर पर घटित होता है और उसकी परिणति अन्ततः इश्क हकीकी में होती है जहाँ प्रेम आध्यात्मिक प्रतीकों के आलोक में उद्‌भाषित हो उठता है।

(3) **रहस्यवाद** : दोनों ही साधना-पद्धतियों में यद्यपि रहस्यवादी चेतना दिखाई देती है लेकिन उनके स्वरूप में किंचित भिन्नता भी है। सन्तों के यहाँ ब्रह्म

पुरुष है और आत्मा स्त्री है इसीलिए स्वयं को विरहिणि मानकर साधक मार्मिक शब्दों में अपने पुरुष का आह्वान करता है। लेकिन सूफी साधना में स्थिति इसके विपरीत है। वहाँ ब्रह्म स्त्री रूप है और साधक पुरुष रूप। साधक इस ब्रह्म के प्रति निर्बाध आकर्षण के वशीभूत होकर भटकता है और गुरु के निर्देशों से अन्ततः उसे प्राप्त करने में सफल होता है। सन्तों के रहस्यवाद में योग-साधना-पद्धति के प्रसंगों को उलटबांसियों के माध्यम से व्यक्त किया गया है जिन्हें शुक्ल जी ने साधनात्मक रहस्यवाद के अन्तर्गत रखा है। वस्तुतः साधनात्मक रहस्यवाद सन्त काव्य में भावनात्मक रहस्यवाद के समानान्तर चलने वाली धारा है जबकि सूफी काव्य में यद्यपि कहीं कहीं योग-साधना की शब्दावलियों का प्रयोग मिलता है लेकिन वह अपवाद स्वरूप ही है। सूफी साधना का मूल आधार भावनात्मक रहस्यवाद ही है।

(4) नारी की स्थिति : सन्त काव्य में नारी अनिवार्यतः मायारूपिणी है और वह साधक और ब्रह्म के बीच अनन्त भटकावों और दूरियों की सृष्टि करती है। इसलिए सन्त कवियों ने बार-बार साधक को नारी से दूर रहने का उपदेश दिया है। लेकिन सूफी साधना में नारी के प्रति गहरे आकर्षण को ब्रह्म प्राप्ति के लिए लगभग अनिवार्य माना गया है। उनकी साधना में इश्क मजाजी के बगैर इश्क-हकीकी तक पहुंचा ही नहीं जा सकता। इसलिए सूफी काव्य में नारी बाधक नहीं बल्कि वह ब्रह्मानुभूति का आरम्भिक सोपान है।

(5) काव्य-संगठन : काव्य-संगठन के धरातल पर सूफी काव्य का ढांचा प्रबन्धात्मक है जबकि सन्त काव्य आद्यन्त मुक्तक शैली में लिखा गया है। वस्तुतः सूफी काव्य लौकिक प्रेम सम्बन्धों से निर्मित होने के कारण कथा का आश्रय लेता है और कथा अनिवार्यतः सामाजिक सम्बन्धों से ही निर्मित होती है इसलिए प्रबन्धात्मकता के मूल बीज सूफी साधना के दार्शनिक चेतना में ही निहित है। सन्त कवियों की साधना में सामाजिक सम्बन्धों की भूमिका पूर्णतः अनुपस्थित है, वहाँ साधना और साध्य के बीच प्रणयानुभूति की प्रक्रिया में सम्बन्धों की लौकिक संज्ञाओं का प्रयोग तो हुआ है लेकिन वह सामाजिक सम्बन्ध-विघटन के अन्तर्गत नहीं है। इसीलिए स्वभावतः सन्त कवियों की शैली मुक्तक है।

सन्त कवियों का भाषिक-संगठन अव्यवस्थित है। शायद इसलिए आचार्य शुक्ल ने इनकी भाषा को सधुक्कड़ी कहा है। इसमें भोजपुरी, ब्रजी, अवधी, राजस्थानी और पंजाबी के शब्दों का मिश्रण दिखाई देता है। जबकि सूफियों की काव्य-भाषा सर्वत्र ठेठ अवधी है।

समग्रतः सन्त और सूफी काव्य धाराएं मध्यकालीन निर्गुण साधना की दो निष्पत्तियां हैं जो किन्हीं बिन्दुओं पर समान होते हुए भी अपनी साधना और प्रभाव

में भिन्न हैं। सन्त काव्य ज्ञानावेश के कारण वर्ण-व्यवस्था तथा धार्मिक बाह्याचारों पर ध्वंसात्मक प्रहार करता है लेकिन सूफी साधक सम्पूर्ण सृष्टि को प्रेममय मानने के कारण खंडनात्मक शैली का प्रयोग नहीं करते। वे प्रेम से जगत को समझना और बदलना चाहते हैं इसलिए आचार्य शुक्ल ने अपने इतिहास में ठीक ही कहा है कि 'सन्त कवियों के फटकार का जीवन-मूल्यों और संस्कृति पर उतना असर नहीं हुआ जितना सूफियों के प्रेम सन्देशों का।'

कृष्ण भक्ति काव्यधारा

कृष्ण काव्य की प्राचीनतम उल्लेख ऋग्वेद में हुआ है। कौशितकी ब्राह्मण और छान्दोग्य उपनिषद् में कृष्ण की चर्चा अंगीरस नामक ऋषि के शिष्य के रूप में मिलती है। महाभारत में कृष्ण के ब्रह्म होने का उल्लेख गीता-प्रसंग में है। महाभारत में कृष्ण कथा का उल्लेख मिलता है।

महाभारत से कृष्ण के नायकत्व का प्रारम्भ होता है। इसमें कृष्ण के भिन्न-भिन्न रूप मिलते है : 1. नीतिज्ञ राजा, 2. धर्मरक्षक, 3. ज्ञानी पुरुष। इन तीनों व्यक्तित्वों का समाहार महाभारत में मिलता है।

आगे चलकर पुराण काल में कृष्ण को ब्रह्म के रूप में चित्रित किया गया है। कृष्ण हरिवंशपुराण में ब्रह्म के रूप में दिखते हैं। धीरे-धीरे ब्रह्म कृष्ण और महाभारत के कृष्ण के बीच जो अन्तर है वह खत्म हो जाता है। दक्षिण भारत में आमीरों में बालकृष्ण की चर्चा है।

जिस कृष्ण की चर्चा हम करते हैं, वह एक काल में रचित नहीं हुआ है। कृष्ण कथा के निर्माण में जिन पुराणों की भूमिका है उनमें हरविशं पुराण, विष्णु पुराण, ब्रह्मवैवर्त्य और भागवत् पुराण हैं। भागवत पुराण कृष्ण कथा का मेरुदंड है। भागवत में पहली बार कृष्ण प्रेम के देवता के रूप में स्वीकृत हुए हैं। भागवत में कृष्ण पूर्णरूप से प्रेम के देवता हैं। अमीरों में राधा का प्रणय देवी के रूप में महत्त्वपूर्ण स्थान है। भागवत पुराण में राधा का उल्लेख नहीं मिलता बाद की स्फुट रचनाओं में मिलता है। कृष्ण कथा का पूरा आधार श्रीमद्भागवत पुराण पर आधारित है। अतः कृष्ण काव्य दोनों कृतियों से मूल कथाधार तो लेता है, लेकिन बहुत कुछ जोड़ता भी है।

कृष्ण काव्य परम्परा

(1) कृष्ण काव्य परम्परा की शुरुआत जयदेव से होती है। इनके द्वारा गीतगोविन्दम कृष्ण काव्य परम्परा की पहली कृति है। इसमें राधा-कृष्ण के प्रणय

व्यापारों की मांसल अभिव्यक्ति है। चैतन्य महाप्रभु द्वारा प्रवर्तित लीला गान की परम्परा की सशक्त काव्यात्मक अभिव्यक्ति जयदेव के गीतगोविन्द में होती है। जयदेव ने राधा और कृष्ण के माध्यम से अनेक रूपों और मार्मिक मन:स्थितियों का चित्रण किया है।

(2) दूसरे महत्त्वपूर्ण कवि चंडीदास हैं। चंडीदास की राधा अत्यन्त कोमल एवं सुकुमार हृदय वाली है।

(3) तीसरे कवि विद्यापति हैं जिनका समय 13वीं शताब्दी है। विद्यापति कृष्ण काव्य परम्परा के बहुत महत्त्वपूर्ण कवि हैं और इतिहासकारों ने इन्हें हिन्दी काव्य परम्परा का आदि कवि माना है। विद्यापति ने प्रेम को समस्या के रूप में लिया है। प्रेमकाव्य का एकमात्र आधार कृष्ण काव्य बना।

– जयदेव, चंडीदास और विद्यापति की त्रयी कृष्णकाव्य परम्परा के माध्यम से प्रणय को काव्य का स्वतन्त्र विषय बनाने की सर्जनात्मक सम्भावनाओं की स्थापना करती है। सम्भवत: इसलिए कृष्ण काव्य अन्तर्वस्तु के स्तर पर प्रणय काव्य का पर्याय हो जाता है।

(4) कृष्ण काव्य परम्परा की चरम परिणति सूरदास में है। सूरदास हिन्दी के ही नहीं बल्कि सम्पूर्ण भारतीय काव्यधारा के ऐसे महान कवि हैं, जिन्होंने कृष्ण कथा के माध्यम से कविता की महानता की प्रतिष्ठा है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और पंडित हजारी प्रसादी द्विवेदी जैसे विद्वानों ने सूरदास की गणना विश्व के उन महानतम कवियों में की है, जिन्होंने कविता और अनुभूति के अद्वैत के माध्यम से रचना और जीवन का एक मार्मिक संसार खड़ा किया है। वात्सल्य और प्रणय इन दो बिन्दुओं पर सूर की कविता रचनाधर्मिता के शिखर बिन्दु पर पहुंचती है।

(5) कालान्तर में रीतिकाल के कवियों और आधुनिक युग में भी भारतेन्दु आदि ने कृष्ण काव्य की रचना की, लेकिन सूर के कृष्ण काव्य की विराटता के सम्मुख इनकी उपस्थिति फीकी लगती है।

कृष्ण काव्य का सैद्धान्तिक पक्ष

मध्यकालीन कृष्ण काव्य का मूल आधार बल्लभाचार्य द्वारा प्रवर्तित पुष्टिमार्ग है। शंकर के अद्वैत दर्शन की प्रतिक्रिया में बल्लभाचार्य ने शुद्धाद्वैत की स्थापना की थी। शंकर ने ब्रह्म को निर्गुण और माया से आबद्ध होने के कारण सगुण कहा था। बल्लभाचार्य ने कहा कि सगुण रूप में भी ब्रह्म शुद्ध है। अपने अव्यक्त रूप में ब्रह्म जैसा है वैसा ही व्यक्त रूप में भी है। इस ब्रह्म की उपासना की जा सकती और इसे ज्ञान के मार्ग से नहीं भक्ति के मार्ग से पाया जा सकता है। बल्लभाचार्य ने पुष्टिमार्ग को ब्रह्म प्राप्त करने का मार्ग बताया।

पुष्टिमार्ग उपासना का नहीं सेवा का मार्ग है। पुष्टि मार्ग को परिभाषित करते हुए हरिराय जी ने लिखा है – "जिस मार्ग में समस्त साधनों की शून्यता प्रभु-प्राप्ति में साधन बनती है, जिस मार्ग में प्रभु का अनुग्रह ही लौकिक तथा आध्यात्मिक सीढ़ियों का हेतु बन जाता है, जहाँ कोई प्रयत्न नहीं करना पड़ता, जहाँ प्रभु के साथ देहादि का सम्बन्ध ही साधन और फल दोनों बन जाता है, जहाँ भगवान की समस्त लीलाओं का अनुभव करते हुए वियोग में ही संयोग सुख से सम्बन्ध स्थापित हो जाता है वही पुष्टि मार्ग है।" इस परिभाषा से पुष्टिमार्ग की निम्नांकित विशेषताएं सामने आती हैं—

1. पुष्टिमार्ग में साधनों की शून्यता होती है
2. प्रभु का अनुग्रह
3. लौकिकता और आध्यात्मिकता का अन्तर्भाव
4. प्रयत्नहीनता
5. देह सम्बन्धों की स्वीकृति
6. वियोग की प्रमुखता

इन तमाम बिन्दुओं से मिलकर जो रास्ता बनता है वह पुष्टि मार्ग है।

पुष्टि मार्ग में आध्यात्मिकता और लौकिकता का अपूर्व समन्वय किया गया है। अपने मूर्त रूप में पुष्टि भक्ति लौकिक है और अपने निहितार्थ में आध्यात्मिक। इसमें श्रद्धा और आत्म-निवेदन के स्थान पर प्रेम तत्त्व को अपनाया गया है। बल्लभाचार्य की मान्यता थी कि जब ईश्वर का अनुग्रह होता है, तभी भक्त और भगवान में अनुभूति का सूत्रपात होता है।

बल्लभाचार्य ने जीव के तीन प्रकार माने –

(1) प्रवाह जीव : जो संसार के प्रवाह में पड़े रहते हैं और सांसारिक सुखों की प्राप्ति में लगे रहते हैं।

(2) मर्यादा जीव : जो वेद और कर्मकांडों की विधियों से मोक्ष प्राप्त करने की चेष्टा करते हैं।

(3) पुष्टि जीव : जो भगवान के अनुग्रह को प्राप्त करते हैं और उसकी नित्य लीला में भाग लेते हैं।

इस पुष्टि मार्ग के आधार पर बल्लभाचार्य के पुत्र बिट्ठलनाथ ने अष्टछाप की स्थापना की।

अष्टछाप

अष्टछाप का दार्शनिक आधार शुद्धाद्वैत है और भक्ति मार्ग पुष्टिमार्ग है। अष्टछाप

इन आठ कवियों को लेकर निर्मित हुआ, जिसमें चार बल्लभाचार्य के शिष्य थे और चार विट्ठलनाथ के।

–बल्लभाचार्य के शिष्य : सूरदास, कृष्णदास, परमानन्द दास और कुम्भनदास

–विट्ठलनाथ के शिष्य : नंददास, चतुर्भुजदास, छीतस्वामी, गोविन्द स्वामी

इनमें दो सबसे महत्त्वपूर्ण कवि सूरदास और नन्ददास हैं। सूरदास शीर्षस्थ कवि हैं। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने लिखा है–

"आचार्यों की छाप लगी हुई आठ वीणाएं श्रीकृष्ण की प्रेम लीला का कीर्तन करने उठीं, जिसमें सबसे ऊंची, सुरीली और मधुर झंकार कवि सूरदास की वीणा की थी।"

कृष्ण काव्य का एक बड़ा हिस्सा ऐसे कवियों द्वारा भी रचित है, जो अष्टछाप के बाहर के हैं। मीरा और रसखान के नाम अष्टछापेतर कवियों में बहुत महत्त्वपूर्ण हैं। कृष्ण काव्य का अनुशीलन करते हुए उसकी निम्नांकित प्रवृत्तियां लक्षित की जा सकती हैं।

कृष्ण काव्य की प्रवृत्तियाँ

लोक रंजन कृष्ण काव्य की आधारभूत विशेषता है। सन्त काव्यधारा, प्रेमाश्रयी काव्यधारा और राम काव्यधारा इन तीनों के केन्द्र अलग-अलग हैं। सन्त काव्य का केन्द्र ज्ञान और प्रेमाश्रयी काव्यधारा का केन्द्र प्रेम है। सन्त काव्यधारा ज्ञान पर आधारित है। यही कारण है कि ब्रह्म चिन्ता जैसा विषय सामाजिकता से टकराने लगता है। सन्तों ने ज्ञान का प्रयोग चतुर्दिक किया है। विरोध और आत्मज्ञान की निरन्तरता सन्त काव्य की विशेषता है। सन्तों के ज्ञान की सार्थकता प्रश्न उठाने और शास्त्र को अनुत्तरित करने की है। ज्ञान की मूल प्रकृति प्रश्नात्मक होती है। सन्त काव्यधारा के केन्द्र में लोकरंजन नहीं है।

सूफी काव्यधारा में प्रेम मुख्य समस्या है। प्रेम मार्ग के माध्यम से ही जीवन को सार्थक किया जा सकता है। जायसी का मूल सन्देश यह है कि मोक्ष को शक्ति से उपलब्ध नहीं किया जा सकता है। सत्ता से जो कुछ उपलब्ध होगा वह निरर्थक होगा। मूलतः सत्ता से शून्य, राख, मिट्टी अर्थहीनता हासिल हो सकती है। प्रेम से जो प्राप्त होगा वही आस्वाद होगा। इसलिए जायसी ने पद्मावत में लिखा है –

मानुष प्रेम भयेउ बैकुण्ठी।
नाहिं त काहि छार भर मूठी।।

राम काव्यधारा विशेषकर तुलसी की पूरी कविता एक तरह से सामाजिक पुनर्गठन है। इस कविता के केन्द्र में लोकमंगल है। तुलसी मूलतः समाज की चिन्ता

से बद्ध है। तुलसी को किसानी संस्कृति के कवि के रूप में जाना जाता है। यह मूलतः मर्यादा संस्कृति है। तुलसी में तोड़ने की प्रवृत्ति नहीं है उनमें समन्वयात्मक प्रवृत्ति दिखाई पड़ती है।

पूरे कृष्ण काव्य के केन्द्र में रंजन है। रंजन का एक अर्थ आनन्द भी होता है। ब्रह्म की चिन्ता करते हुए शंकर ने उन्हें सच्चिदानन्द कहा है। ब्रह्म का पर्याय है। यह लीला आदिम पुरुष और आदिम नारी की प्रणय गाथा से होता है आनन्द का दूसरा रूप वात्सल्य का होता है। इस आनन्द के दो अध्याय हैं। पहले अध्याय में बाल कृष्ण और दूसरे अध्याय में किशोर कृष्ण। समूची कविता इन दो बिन्दुओं से संचालित है। इसके आधार पर हम कृष्ण काव्य की विशेषता का अध्ययन करेंगे। ब्रह्म की दो शक्ति हैं लोकरंजन और लोकरक्षण की। लोकरक्षण से तुलसी की विशेषता और लोकरंजन से सूर की विशेषता को जानते हैं। इस आधार पर सूर काव्य की निम्नांकित विशेषताओं की पहचान की जा सकती है—

(1) प्रेम की विराट परिकल्पना

भक्ति हृदय का धर्म है और हृदय के धर्मों में सर्वाधिक उदात्त और व्यापक धर्म है प्रेम। यही प्रेम भक्ति का मूल भाव है और सम्पूर्ण भक्ति काव्य का बीज है। इसलिए यह प्रेम मध्यकाल में मनुष्य को जाति, धर्म आदि सभी सीमाओं से ऊपर उठाता है। प्रेम या भक्ति मनुष्य को सत्ता के भय से मुक्त करता है। इसलिए इस प्रेम की भूमिका क्रान्तिकारी है। यही प्रेम विभिन्न काव्य धाराओं को एक-दूसरे से जोड़ता है, और इस तरह यह प्रेम व्यापक मानव भाव भूमि पर मनुष्य मात्र की एकता का आधार बनता है। यही कारण है कि समूचे भक्ति काव्य में साम्प्रदायिकता के चिह्न नहीं दिखाई पड़ते।

सूर के यहाँ इस प्रेम की प्रकृति विशिष्ट है। सूर की प्रेमानुभूति की अथाह गहराई और अपार विविधता का अक्षय स्रोत प्रेम का लौकिक अनुभव है, शास्त्र नहीं। कहा जा सकता है कि पूरा-का-पूरा प्रेम अनुभव के भीतर से उठता है और जीवन के आकाश तक छा जाता है। यह प्रेम सभी प्रकार के वेदों का अतिक्रमण करता है। जिस प्रकार कबीर का ज्ञान रूढ़ियों को तोड़ता है उसी प्रकार सूर के यहाँ प्रेम रूढ़ियों को तोड़ता है। खुले चारागाह, वंशीवट, वृन्दावन के कछारों में सूर की कविता विचरण करती है। एक तरह से मध्यकाल या सामन्ती काल की शारीरिक बन्धनों से सूर की गोपियों को प्रेम मुक्त कराता है। इसलिए हम कह सकते हैं कि राधा का प्रेम सामन्ती बन्धनों से बाहर है। यह प्रेम शरीरवाद को चुनौती देता है। इसलिए यह प्रेम राजप्रासादों को नकारता हुआ प्रकृति के छन्द में एकता उत्पन्न

करता है। सूर के प्रेम में व्यभिचार नहीं है। स्वयं प्रकृति उल्लास से भरी है। ऐसी स्थिति में मूलतः प्रेम शरीर के स्तर पर है और इसका मंच है प्रकृति।

सूर का प्रेम स्वच्छन्द प्रेम है। स्वच्छन्द प्रेम कमरे में नहीं हो सकता। उसके लिए परिवेश का स्वच्छन्द होना जरूरी है। प्रकारान्तर से सूर का प्रेम दैहिक घर्षण या भोग को नकार देता है। मिलन की इतनी तीव्रता इस प्रेम में है कि वह विराटत्व को प्राप्त करती है। सूर का प्रेम होने में फर्क डालता है। जो प्रेम होने में फर्क डाल दे वही वस्तुतः प्रेम है। सूर का प्रेम लौकिक है इसलिए सूर का प्रेम आनुसंगिक नहीं है। कई व्यापारों में से एक व्यापार नहीं, सम्पूर्ण व्यापार है। इसके दोनों पक्ष संयोग और वियोग किया गया है। प्रेम जीवन का अनिवार्य और सर्वाधिक मार्मिक प्रसंग है। सूर की प्रेमानुभूति संयोग और वियोग के तटों के बीच प्रवाहित है। संयोग के क्षणों में सूर ने प्रणय व्यापारों के सभी पहलुओं का अकुंठ मन से चित्रण किया है। इसमें कृष्ण और राधा के सौन्दर्य उनके प्रणय व्यापारों और आलिंगन, चुम्बन और रीति व्यापारों तक का चित्रण सूर ने अपनी कविताओं में किया है —

"गगन घहराइ जुटि घटा कारी"

सामान्य प्रणय व्यापारों से मांसलता के चरम बिन्दु तक के तमाम प्रसंगों का चित्रण सूर ने अपनी कविता में किया है।

आचार्य द्विवेदी के शब्दों में — "नव गुपाल और नवेल राधा के नये प्रेम की धार-सार वर्षा से सूरसागर उद्वेलित हो उठा है।"

"कबहुं क बैठि अस भुज घटि के पीक कपोलन दागे
अति रस रास लुटावत लुटत लोचन लगे समागे।।
चुमत अंग परस्पर जनजुग चंद करत हित बारि।।
रसन दसन भरि चापि चतुर अति करत रंग विस्तारि।"

रंग विस्तार के अनेक प्रसंगों का सूर ने बिम्ब के धरातल पर अपनी कविताओं में मूर्त किया है।

सूर के प्रेम-चित्रण की मार्मिकता का आधार प्रेम का **वियोगात्मक पक्ष** है। वस्तुतः प्रेमानुभूति की गहनता का मूल आधार प्रिय की अनुपस्थिति ही होती है। सूर की प्रेमानुभूति मेले के उत्सव के उजड़ जाने के बाद उत्पन्न हुए विराट सन्नाटे और गहरी उदासी से आवेशित जान पड़ती है।

सूर इस वियोग के माध्यम से नारी-हृदय की कोमलता का आर्द्र चित्रण करते हैं। वियोग के क्षणों में समूची प्रकृति राधा और गोपियों के दुःख से प्रवाहित जान पड़ती है। सूर ने इस वियोग का चित्रण अलंकार के स्तर पर किया है। अतः उसमें एक स्वाभाविकता और मार्मिकता विद्यमान है—

(1) "आज रैन न नींद परि
जगत जगत गगन के तारे
रसना रहत गोविन्द हरि।"

(2) मेरे नैना विरह बेलि बई
सिंचत नैन नीर के सजनि, भूल पठार गई।

सूर का विरह पाठक को चमत्कृत नहीं करता, पाठक को छूता है। प्रेम को महाकाव्यात्मक आयाम सूर ने मुक्तक के माध्यम से दिया है।

(2) लीलावाद की अभिनव अवधारणा

कृष्ण काव्य की परम्परा में परम ब्रह्म कृष्ण के लौकिक व्यवहारों को लीला के रूप में चित्रित किया गया है। यह लीला कृष्ण जन्म से लेकर उनके किशोर होने तक की सम्पूर्ण क्रिया व्यापारों में परिव्याप्त है। सूरदास के अनेक पदों में शिशु कृष्ण की अनेक चेष्टाओं में आध्यात्मिक सन्दर्भों के संकेत दिखाई देते हैं। चित्त की निर्विकारिता और मानवीय आचरण की मूर्तता के समानान्तर रिश्ते को ही लीला के नाम से जाना जाता है। सूर ने शिशु-व्यापारों और प्रणय व्यापारों का विशद चित्रण अपने काव्य में किया है। वात्सल्य और प्रणय कृष्ण परम्परा की केन्द्रीय धारा है। विद्यापति से लेकर भारतेन्दु तक यह धारा अखंड है। इसकी अभिनवता आध्यात्मिकता और लौकिकता की समानान्तर और सघन उपस्थिति में है –

कर पग गहि अूंगठा मुख मेलत
प्रभु प्रौढ़े पालने अकेले हरसि हरसि अपने रंग खेलत।
विडरि चलै घन प्रलय जान कै, दिगपति दनीति संकेलत

इस लीलावाद का मूल आधार पुष्टिमार्गीय भक्ति है जहाँ भक्ति ईश्वर के अनुग्रह से उत्पन्न होती है–

जापार दीनानाथ ढरै,
सोइ कुलीन, बड़ौ सुन्दर सोइ, जा पर कृपा करै।"

निर्गुण काव्य में ब्रह्म की अनुभूति गुरु कराता है, लेकिन कृष्ण काव्य में गुरु कहीं नहीं है। यह ईश्वर के अनुग्रह से ही होता है। कृष्ण से सीधा सम्बन्ध है–मोक्ष नहीं चाहिए, कृष्णाश्रय चाहिए, उसकी लीला भक्ति में भाग लेना उनके जीवन की चरम सार्थकता है। राम काव्यधारा राम के अनुग्रह को मानते हैं, लेकिन वहाँ राम लीला नहीं करते। राम का उद्देश्य अपने समाज की अप्रतिमानवीय शक्तियों से जूझना है और नये मूल्य, नये समाज की रचना करना है। राम की यह पीड़ा कर्मशीलता के प्रति श्रद्धा भक्ति है। वे क्षतिग्रस्त धर्मव्यवस्था और बिखरती हुई समाज व्यवस्था को एक नया आयाम, नई दिशा देते हैं।

कृष्ण भक्तों की कामना है कि वे भी लीला के साक्षी बने। राम भक्तों के यहाँ दास्य भाव है पर कृष्ण भक्तों के यहां इसलिए साख्य भाव है। रासलीला में दास बनकर भाग नहीं लिया जा सकता, सखा बनकर ही लिया जा सकता है। भक्तिकाल के अन्य तीनों काव्य धाराओं में यह आधार नहीं दिखाई पड़ता। निर्गुण की भक्ति का आधार ज्ञान और अनुभव का संयोग है। ज्ञान ब्रह्म के अस्तित्व का आधार है जिसे गुरु अनुभव कराता है। ज्ञान के बाद अनुभव की प्रक्रिया चलती है। कबीर की भक्ति ज्ञान और अनुभव के अद्वैत पर आधारित है। इसलिए वह निर्गुण के प्रति भी अनुभूतिमूलक सम्बन्ध जोड़ती है।

सन्तों के यहाँ भक्ति साधक और साध्य को जोड़ने वाली है, जो ज्ञान अनुभव और योग साधना से पैदा होती है।

सूफियों के यहाँ भक्ति का आधार प्रेमानुभूति है। प्रेमानुभूति का गहरा अनुभव जब साधक में उतरता है तो वह दिव्यता को प्राप्त करने की ओर अग्रसर होता है।

कृष्ण काव्य में भक्ति का आधार पुष्टि है, अनुग्रह है। अनुग्रह करके तब भक्त को अपनी निजता में शामिल करता है। ब्रह्म की निजता में शामिल होना ही भक्ति की सार्थकता है।

(3) वात्सल्य का विशद् चित्रण

कृष्णकाव्य में वात्सल्य का विशद चित्रण हुआ है। सूरदास के सम्बन्ध में आचार्य शुक्ल का वक्तव्य है, "शृंगार और वात्सल्य के क्षेत्र में जहाँ तक इनकी दृष्टि पहुंची है वहाँ तक और किसी कवि की नहीं। इन दोनों क्षेत्रों में तो इस महाकवि ने मानो औरों के लिए कुछ छोड़ा ही नहीं।" यानी प्रेम और वात्सल्य की सभी सम्भावनाओं को सूररदास ने अपनी कविता में रखा है।

वस्तुतः वात्सल्य को भावना और सर्जन के चरम बिन्दु पर पहुंचाने का काम सूर ने किया। कृष्ण को ब्रह्मत्व के आलोक से हटाकर लोकभूमि पर चित्रित करना सूर के वात्सल्य की सबसे बड़ी विशेषता है। सूर की कविता शिशु कृष्ण के क्रिया-कलापों और उसके मनोविज्ञान का विराट संसार रचती है और उसमें माता-पुत्र की सभी छवियों का चित्रण हुआ है। सूर ने पहली बार कविता में वात्सल्य को स्वतन्त्र विषय के रूप में ग्रहण किया और उसे रचनात्मक गरिमा प्रदान की।

महान कविता लोकजीवन और जनजीवन को सामान्यता में अपने को अन्तर्चित्रित करती है। समाज और जीवन की वास्तविकताएं कविता में घुल-मिल जाती हैं। वह एक ऐसा संसार रचती है जिसमें समाज के अनेक मार्मिक पहलू दिखाई देते हैं। कृष्ण के जन्म से लेकर शिशुता की आखिरी सीमा तक की अवधि में माँ यशोदा के

अनेक स्वाभाविक अरमानों के मार्मिक चित्र सूर ने दिये हैं। मूलतः सूर का वात्सल्य, चारागाही संस्कृति का वात्सल्य है। कुछ चित्रण द्रष्टव्य हैं –

चलते कृष्ण : "सोभित कर नवनीत लिए
घुटरून चलत रेनु तन मंडित, मुख दधि लेप किए।"

बोलते कृष्ण : मैया कबहुँ बढ़ेगी चोटी
कितै दिवस मोहि दूध पिवत भये, यह अजहूँ है छोटी।"

सूर ने बच्चे की तमाम मनोवैज्ञानिक स्थितियों और छवियों को अनेक पदों में ढाला है। बाल मनोविज्ञान की अद्भुत पकड़ सूर में दिखाई पड़ती है। बाल मनोविज्ञान में अपनी श्रेष्ठता की रक्षा प्रबल है :–

"मैया दाऊ बहुत खिजायो
गोरे नन्द यशोदा गोरी
तू कवि श्याम शरीर
ताली दे दे हँसत ग्वाल सब सिख देत बलबीर।"
"काहे को आरि करत मोरे मोहन
यों तुम आँगन लेटी।"

सूर के वात्सल्य का एक बहुत ही मार्मिक पक्ष वियोग पक्ष भी है। मातृ–हृदय की सम्पूर्ण मार्मिकताएं कविता के रूप में साकार हो गई हैं –

"संदेसों देवकी सो कहियौ
हौं तो धाई तिहारे सुत की कृपा करत ही रहियो।"

कृष्ण की अनुपस्थिति में अनेक प्रकार की आशंकाओं और उसे दंडित करने की स्मृति से उत्पन्न पीड़ाओं के मार्मिक चित्र भी सूर ने खींचे हैं –

"यद्यपि मन समझावत लोग शूल होत
नवनीत देख मेरे मोहन के मुख जोग।"

वात्सल्य चित्रण की दृष्टि से विश्व साहित्य में सूर की कविता अद्वितीय है। वात्सल्य चित्रण की प्रक्रिया में सूर बालक कृष्ण की क्रीड़ाओं का चित्रण भर नहीं करते बल्कि यशोदा की ममता और कृष्ण की शिशु चेष्टाओं के बीच मार्मिकता के बिन्दुओं की सही पहचान करते हैं। सूर का वात्सल्य कृष्ण के जन्म से लेकर उनके मथुरा चले जाने तक की अवधि में परिव्याप्त है। संयोग वात्सल्य के अन्तर्गत सूर ने विशेष रूप से कृष्ण और यशोदा के माध्यम से मां और बेटे के अनेक सम्बन्ध छवियों को साकार किया है। इसी प्रक्रिया में सूर की कविता गार्हस्थिक जीवन के अनेक पहलुओं और उसकी स्वाभाविकताओं को प्रत्यक्ष करती है। सहजता और मनोवैज्ञानिकता सूर के वात्सल्य के आधार बिन्दु हैं। यही कारण है कि सूर के वात्सल्य में सार्वभौमिकता की शक्ति और सम्भावना है। भारतीय समाज–व्यवस्था

में गार्हस्थिक जीवन की गतिविधियों के जीवन्त और संवेदनशील पक्षों का उद्घाटन सूर ने वात्सल्य के माध्यम से किया हैं। सूर के वात्सल्य में कविता और जीवन की अद्वैतता दिखाई देती है। और यही कारण है कि शताब्दियों बाद भी कृष्णकाव्य अपनी धुरी पर ताजा और प्रासंगिक है।

(4) युग यथार्थ की अनुपस्थिति

सूर की कविता का सम्बन्ध वात्सल्य और शृंगार से है। वात्सल्य और शृंगार दोनों ही पारिवारिक और वैयक्तिक मसले हैं। इस तरह सूर की कविता की अन्तर्वस्तु का क्षेत्र बहुत सीमित है। इसे रेखांकित करते हुए आचार्य शुक्ल ने लिखा है –

यदि हम मनुष्य जीवन के सम्पूर्ण क्षेत्र को लेते हैं तो सूरदास की दृष्टि परिचित दिखाई देती है। जीवन की गम्भीर समस्याओं से तटस्थ रहने के कारण उसमें वह वस्तु गाम्भीर्य है, जो गोस्वामी जी की रचनाओं में हैं।''

सूर ने वात्सल्य और शृंगार के क्षेत्र में अपनी कवि–प्रतिभा और अनुभूतिशीलता की क्षमता का परिचय दिया है। उनके प्रायः सभी पक्षों का सूर ने अत्यन्त मार्मिकता के साथ चित्रण किया है, लेकिन उनकी कविता में अपने समकालीन जीवन की परिस्थितियों और जीवन–यथार्थों के चित्र प्रायः दिखाई नहीं देते। राजनीतिक और धार्मिक दृष्टि से पददलित भारतीय समाज की पीड़ाएं उनकी कविता में अनुपस्थित हैं और सामाजिक जीवन की विषमताओं एवं संघर्षों के चिह्न भी उनकी कविताओं में नहीं हैं। ऐसा लगता है कि सूर की कविता एक सुहावना सपना है, जो अपने समय के यथार्थ से पूरी तरह असम्पृक्त है। सम्भवतः इसलिए सूर की कविता आह्लादित तो करती है, लेकिन ऐतिहासिक मनुष्य और समाज को समझने में कोई मदद नहीं करती। लेकिन नवनीत, बांसुरी और प्रणय लीलाओं से सजी–धजी इस कविता ने निश्चय ही मुरझाये हुए जीवन में जीने की चाह की रक्षा की। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के शब्दों में–

''मनुष्यता के सौन्दर्य को और माधुर्यपूर्ण पक्ष को देखकर इन कृष्णोपासक वैष्णव कवियों ने जीवन के प्रति अनुराग जगाया या कम–से–कम जीने की चाह बनी रहने दी।''

कविता की भूमिका अगर जीवन में संगीत और अनुभूति को जीवित रखना है तो सूर की कविता अपने इस दायित्व का सफल निर्वाह करती है।

(5) भ्रमरगीत में मौलिक उद्भावनाओं का सन्निवेश

पहली बार भ्रमरगीत श्रीमद्भागवत के दशम स्कंध में दिखाई देता है। सूर के यहाँ भ्रमरगीत में मौलिक उद्भावनाओं का सन्निवेश किया गया है। गोपियाँ यहाँ सीधे

निर्गुण और सगुण ब्रह्म के शास्त्रार्थ में हिस्सा लेती है। भावनाओं के सामने उसका पूरा ब्रह्म ज्ञान समाप्त हो जाता है। भक्ति और ज्ञान के बीच का शास्त्रार्थ सूर ने भ्रमरगीत के माध्यम से कराया है। भागवत में वह ऐसा नहीं है। वहाँ ब्रह्ममय ज्ञान की निरर्थकता और कृष्ण की रसिकता के प्रति आक्रोश भर है। अन्त में गोपी कहती हैं –

"उद्धव कोकिल कूजत कानन
तुम हमको उपदेश करत हो भस्म लगावत आनन।"

पूरे-के-पूरे ब्रह्मज्ञान को अनपढ़ सरल गोपियां भक्ति और भावना के आवेश से नेस्तनाबूद कर देती हैं। उद्धव रोते-कलपते वापस जाते हैं। भ्रमरगीत प्रसंग आध्यात्मिक स्तर पर ज्ञान और भक्ति की टकराहट में भक्ति को सर्वोपरि ठहराता है तथा निर्गुणोपासना की श्रेष्ठता पर बल देता है। वैष्णव काव्यधारा यद्यपि निर्गुण की सत्ता को स्वीकार करते हैं लेकिन भक्ति के लिए वह उसके सगुण रूप को अनिवार्य मानती है। सूरदास और तुलसीदास सगुण काव्यधारा के दोनों ही महान कवियों ने ब्रह्म के सगुण रूप को अपनी भक्ति का आधार बनाया है। सूर के अनुसार–

"अविगत गति कछु कहते न आवै
सब विधि अगम विचारहिं ताते सूर सगुण पद गावै।"

इसी सगुण की दार्शनिक स्थापना के लिए सूर ने भागवत के दशम स्कन्ध में वर्णित भ्रमरगीत प्रसंग को आधार बनाया है। भागवत में भ्रमर प्रसंग उद्धव के ब्रह्म ज्ञान की अर्थहीनता और कृष्ण की रसिकता के प्रति आक्रोश व्यक्त करता है, लेकिन सूर ने इस प्रसंग को एक दार्शनिक विवाद के रूप में परिणत कर दिया है। सूर का भ्रमरगीत ब्रह्म के निर्गुण और सगुण रूप को लेकर की गई एक बहस है, जो मध्यकाल का सर्वाधिक जीवन्त सन्दर्भ है। भ्रमरगीत की उद्‌भावना सूर ने ज्ञान की तुलना में भक्ति की श्रेष्ठता के प्रतिपादन के लिए की है –

"सुन गोपी हरि को संदेश
करि समाधि अंतरंग चितवौ प्रभु को यह उपदेश।
वै अविगत अविनासी पूरन, घटि–घटि रहै समाय।
तिहि निश्चय कै ध्यावौ ऐसे रचित कमलनयन लाए।

गोपियां ज्ञान की तुलना में राग चेतना का तर्क देती हैं–

उद्धव कोकिल कूजन कानन
तुम हमको उपदेश करते ह्वै भस्म लगावत आनन।"

गोपियां उद्धव के ब्रह्मज्ञान की निरर्थकता और थोथेपन को अपनी भावना और रागधर्मिता से ध्वस्त करती हैं। वस्तुतः ज्ञानगम्य निर्गुण ब्रह्म की अर्थहीनता का

उद्घाटन और सगुण ब्रह्म के प्रति भक्ति की सार्थकता की स्थापना भ्रमरगीत प्रसंग का केन्द्रीय निहितार्थ है और सूर इसमें पूर्णतः सफल रहे हैं।

(6) जातीय सामासिकता की भाव–सर्जना

कृष्ण काव्य सौन्दर्य और राग पर आधारित होने के कारण मनुष्य और समाज में भेद करने वाली स्थितियों का अतिक्रमण करता है। कृष्ण काव्य प्रेम, भक्ति, सौन्दर्य जैसे शाश्वत तत्त्वों पर लिखा गया है। अतः कृष्णकाव्य में स्वभावतः जातीय सामासिकता ढल पड़ी है और कृष्ण के माध्यम से भाव–सर्जना हुई है। कृष्ण काव्य का क्षेत्र यद्यपि परिचित है, लेकिन प्रेम और सौन्दर्य पर आधारित होने के कारण यह मनुष्य मात्र के हृदय को स्पन्दित करने वाला है। प्रेम और सौन्दर्य प्रत्येक देश-काल के समाज और मनुष्य के लिए परिचित और आत्मीय प्रसंग रहे हैं। इसीलिए कृष्ण काव्य में निहित इनका प्रभाव क्षेत्रीय न होकर अखिल भारतीय रहा है। सामासिकता भारतीय समाज और संस्कृति की ऐतिहासिक विशेषता है और कृष्णकाव्य अन्तर्वस्तु के धरातल पर इस सामासिकता को जीवन के भाव प्रसंगों में परिणत करता है।

रामकाव्य की तुलना में कृष्णकाव्य के अखिल भारतीय स्तर पर व्यापक होने का कारण प्रेम और सौन्दर्य के प्रसंग हैं। यही कारण है कि कृष्णकाव्य इस देश की सांस्कृतिक रागधर्मिता का प्रतीक भी है और यथार्थ भी। राधा और कृष्ण प्रेम सम्बन्धों के प्रतीक युगल हैं और इन प्रतीकों का प्रयोग शताब्दियों तक सम्पूर्ण भारतीय साहित्य में होता रहा है। इस प्रकार मध्ययुग से शुरू होने वाली यह प्रेम कथा 20वीं शताब्दी के आधुनिक कवि धर्मवीर भारती की 'कनुप्रिया' तक की यात्रा करती है। इसमें सन्देह नहीं कि इतिहास और भूगोल की खाइयों को पाटकर कृष्णकाव्य में भारतीय संस्कृति को एक विशिष्ट पहचान दी है। कृष्णकाव्य संस्कृति की भावात्मकता और सर्जनात्मकता को एक साथ वहन करने वाला काव्य है।

(7) आत्माभिव्यक्ति

कृष्णकाव्य का आधार यद्यपि श्रीमद्भागवत पुराण रहा है लेकिन कवियों ने इस कथा का काव्यात्मक रूपान्तरण भर नहीं किया बल्कि इसमें अपनी अनुभूतियों की प्रगाढ़ता को भी शामिल किया है। कृष्ण काव्य का एक बहुत बड़ा हिस्सा भागवत की कथा से युक्त है और उसमें रचनाकार ने अपने प्रेम की पीड़ा को व्यंजित किया है। जयदेव से शुरू होने वाली कृष्णकाव्य परम्परा आधुनिक काल के भारतेन्दु युग तक अविच्छिन्न रूप में मिलती है और इस दीर्घ परम्परा में सर्वत्र रचनाकारों ने कथा की तुलना में अपनी ही अनुभूति को वरीयता दी है। हिन्दी कृष्णकाव्य परंपरा के

आदि कवि विद्यापति के किशोर और किशोरी के दुर्निवार मिलन प्रसंगों एवं राधा की वय: सन्धि के सौन्दर्य का प्रभावपूर्ण चित्रण किया है। सूर ने कृष्ण के शिशु एवं किशोर रूप के माध्यम से वात्सल्य और प्रेम के प्रसंगों को अन्यतम ऊंचाई प्रदान की और हिन्दी कविता को गौरव के शिखर पर पहुंचाया है। राधा और कृष्ण अपनी प्रकृति में ही गीतात्मक पात्र हैं। इसलिए प्रत्येक कवि कथा के स्तर पर राधा और कृष्ण संज्ञाओं का सहारा तो लेते हैं लेकिन वह इसमें अपनी ही अनुभूतियों की, पीड़ाओं की अभिव्यक्ति करता है। इसलिए कृष्णकाव्य की शैली प्राय: गीतात्मक हो गई है।

(8) पुष्टिमार्गीय भक्ति की प्रधानता

कृष्ण काव्यधारा में भक्ति के अनेक सम्प्रदाय हैं। वस्तुत: कृष्ण काव्यधारा का सम्बन्ध पुष्टिमार्ग पर आधारित है। इसलिए अनुग्रह या कृपा तत्त्व कृष्ण भक्ति का मूल आधार है। सूरकाव्य या कृष्णकाव्य की कृपा ईश्वर की स्वीकृति की कृपा का नाम है।

सूर – *जापर दीनानाथ ढरै*
सोइ कुलीन बड़ौ सुन्दर सोइ जा पर कृपा करै।
सूर पतित तर जाय तनक में जो प्रभु नेक ढरै।

आगे चलकर प्रेम ही कविता के चिन्तन का आधार बनता है। प्रेम, प्रेम से उत्पन्न होता है।

प्रेम प्रेम ते होई प्रेम ते पारहि पाइये।
प्रेम बंध्यो संसार प्रेम परमारथ लइये॥

प्रेम मूलत: सांसारिक बन्धन है। परमारथ मूलत: सांसारिक सम्बन्धों को लेकर हो सकता है। पूर्णता सबको साथ लेकर है। परमार्थ की मानवीय और लौकिक व्याख्या पुष्टिमार्ग करता है।

काव्य संगठन

निर्गुण काव्य के काव्य संगठन में रचनाशीलता की उदासीनता दिखाई पड़ती है। अलंकारों एवं छन्दों के प्रति कोई सजगता नहीं दिखाई पड़ती है। राम काव्य का काव्य संगठन अधिक सजग है। तुलसी की तुलना में कृष्ण काव्य में कवितापन की कमी है, लेकिन संगीत की प्रबलता एवं रंजन करने की अपार क्षमता के कारण यह मध्यकालीन रचना प्रतिभा की बड़ी उपलब्धि है। कल्पनाशीलता के स्तर पर मानवीय अनुभव को प्राथमिकता दी गई है।

इस कविता की बनावट पर लौकिक अनुभव या सम्बन्धों का गहरा दबाव है। उस सयम प्रचलित अनेक काव्य-विधाओं का प्रयोग सूर ने किया। मूलतः पुत्र जन्म या पारिवारिक कार्यों पर इसका प्रभाव पड़ा है। रचना के स्तर पर औसत रूप से **पदों** का इस्तेमाल किया है जिसमें गायन की अनेक शैलियां हैं। सूर ने सम्पूर्ण काव्य की रचना पदों में की है। सभी कृष्ण कवियों ने प्रबन्ध के स्थान पर मुक्तक को प्रधानता दी है। इस प्रधानता का कारण नायक है। राम का पूरा जीवन प्रबन्धात्मक है। कृष्ण कवियों ने कृष्ण के कुछ पक्षों का चुनाव किया है। उसमें एक प्रसंग वात्सल्य और दूसरा शृंगार का है। कृष्ण काव्य के कवियों ने केवल कृष्ण के कैशोर्य का वर्णन किया है।

विषय के दबाव के कारण कृष्णकाव्य धारा प्रबन्धात्मक नहीं बन पाई है वह मुक्तक है। लेकिन सूरसागर के मुक्तक में भी एक क्रमिकता है। सीमित होने के बावजूद उसकी क्रमिकता का ध्यान रखा गया है। इसलिए सूर सागर को प्रबन्ध मुक्तक कहा गया है। सामान्यतः कृष्णकाव्य की प्रकृति प्रबन्धात्मक नहीं है। वस्तुतः कोई भी काव्य जो भावना पर आधारित होता है मुक्तक होता है। जो काव्य सम्बन्धों के स्तर पर आधारित होता है, उसे प्रबन्धात्मक कहते हैं।

सूर को अलंकार वर्णन में महारत हासिल है। सूर जब अंलकार वर्णन में आते हैं तब अलंकार हाथ जोड़कर खड़ा हो जाता है। सूर में जितनी सहृदयता है उतनी ही वाग्विदग्धता भी। रीतिकाल के कवियों में भावना और अनुभव की गहराई कम है। अपनी वाग्विदग्धता के आधार पर ही सूर की गोपियां उद्धव के ज्ञान का खंडन करते हैं। सामान्यतः सरलता और वाग्विदग्धता एक साथ नहीं होती। लेकिन कृष्ण काव्य में इसकी विशेषता है।

मूल्यांकन

समग्रतः कृष्ण काव्यधारा ब्रह्म की रंजन शक्ति को आधार मानकर काव्य रचना में प्रवृत्त हुई है। मध्यकालीन इतिहास में इस काव्यधारा ने भारतीय समाज के चित्र को संगीत और प्रेम के सन्दर्भों तक जोड़कर जीने की चाह की रक्षा की है। गार्हस्थिक प्रसंगों और स्वच्छन्द प्रेम की समान्तर व्यवस्था के द्वारा कविता में धरती और आकाश की समान्तर सम्बन्ध व्यवस्था को इन कवियों ने स्थापित किया। वस्तुतः इन कवियों की सबसे बड़ी उपलब्धि प्रेम को मूल्य के रूप में प्रतिष्ठित करने के साथ-साथ ज्ञान की तुलना में लौकिक जीवन के अनुभवों को महत्त्वपूर्ण बनाने की है। इस अर्थ में **कृष्ण काव्यधारा सही अर्थ में कविता के केन्द्र में मानवीय सम्बन्धों की दुनिया को प्रतिष्ठित करती है। हिन्दी कविता के 1000 वर्षों के इतिहास में कृष्ण काव्य का यह योगदान विशिष्ट है।**

रामभक्ति काव्य की विशेषताएं

भक्तिकाल हिन्दी साहित्य का स्वर्ण युग कहा जाता है। सातवीं–आठवीं शताब्दी से दक्षिण भारत में जो भक्ति–लहर चली थी वह धीरे-धीरे उत्तर भारत में पहुंचकर एक व्यापक आन्दोलन का रूप ले चुकी थी। भक्ति की चेतना के कारण बड़े स्तर पर निर्गुण और सगुण भक्तिकाव्य की रचना हुई। सगुण भक्ति धारा के कवियों ने राम और कृष्ण को अपना काव्यपुरुष बनाया। राम को आधार बनाकर भक्ति की पवित्र मन्दाकिनी प्रवाहित करने वाली काव्यधारा को रामभक्ति काव्यधारा की संज्ञा दी जाती है। अपनी जातीय चेतना को आत्मसात् करते हुए विदेशी आक्रान्ताओं के आतंक, हिन्दू जाति के टूटने तथा समाज के बिखरते हुए सूत्रों की प्रतिक्रिया में उठ खड़े हुए काव्यधारा की विशेषताएं निम्नांकित हैं–

रामभक्ति काव्य राम के मर्यादा पुरुषोतम रूप की स्थापना करता है। वहाँ राम शील, सौन्दर्य और मर्यादा के अधिष्ठाता हैं। राम की मर्यादा उनके मानवीय आचरण, दायित्व-निर्वाह एवं जीवन के ठोस प्रसंगों में क्रियाशील संघर्ष से निर्मित हुई है। वह मर्यादा पारिवारिक, सामाजिक, राजनीतिक आदि कई स्तरों पर दिखाई देती है। मानवीय बोध एवं पीड़ा इस मर्यादा को समाज के लिए अथवा मनुष्य मात्र के लिए मूल्यवान बनाती है।

रामभक्ति काव्य लोकमंगल की साधना को अपना निमित्त बनाती है। अत: रामभक्ति और कविता का आधार यहाँ लौकिकता है। तुलसीदास ने रामचरितमानस में लिखा है–

'कीरति भनिति भूति भलि सोई,
सुरसरि सम सबकर हित होई।'

लोकमंगल की साधना के हेतु ही रामभक्ति काव्यधारा के कवियों ने कर्म-संघर्ष का चित्रण किया है। पर, अविरल संघर्ष--परम्परा में भी विवेक, लोकमंगल और मर्यादा बनाये रखना राम का आदर्श है। वह संघर्षमयता और मर्यादा रामकाव्य की विशिष्टता है।

समन्वयात्मक जीवन–दृष्टि राम–भक्ति काव्य की विशेषता है। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने 'हिन्दी साहित्य : उद्‌भव और विकास' में लिखा है – 'भारतवर्ष का लोकनायक वही हो सकता है जो समन्वय करने का अपार धैर्य लेकर आया हो।' रामभक्ति–काव्य के पर्याय तुलसीदास का सारा काव्य समन्वय की विराट चेष्टा है। उसमें केवल लोक और शास्त्र का ही समन्वय नहीं है। गार्हस्थ और वैराग्य का, भक्ति और ज्ञान का, भाषा और ज्ञान का, भाषा संस्कृति का, निर्गुण और सगुण

का, पुराण और काव्य का, भावावेग और अनासक्त चिन्तन का समन्वय 'रामचरितमानस' के आदि से अन्त तक दो छोरों पर जाने वाली परा कोटियों को मिलाने का प्रयत्न है। निर्गुण और सगुण का समन्वय करते हुए तुलसी कहते हैं–

'अगुनहिं सगुनहिं नहिं कछु भेदा,
उभय हरहिं भव–संशय खेदा।'

यह समन्वय भाव के स्तर पर ही नहीं, बल्कि शैली के स्तर पर भी दिखाई देता है। अपने समय में प्रचलित वीरगाथाकाल की छप्पय–पद्धति, विद्यापति और सूरदास की गीति–पद्धति, गंग आदि भाटों की कवित्त–सवैया पद्धति, नीति काव्यों की सूक्ति–पद्धति, प्रेमाख्यानों की दोहा–चौपाई की प्रबन्ध–पद्धति आदि सभी काव्य-शैलियों का प्रयोग उन्होंने अपनी रचनाओं में किया है।

रामभक्ति काव्यधारा दास्य–भक्ति–भावना को अपनाते हुए अन्तस्साधनात्मक भक्ति का निषेध करती है। भक्ति तुलसी के जीवन की सार्थकता है–

'देहु भगति रघुपति अति पावनि'
'त्रिविध ताप भय दाप नसावनि।'

दास्य–भावना को चेतना के स्तर पर स्वीकार करने वाली यह भक्ति सम्पूर्ण आत्मार्पण पर आधारित है–

'जाके प्रिय न राम वैदेही
तजिये ताहि कोटि वैरी सम, यद्यपि परम सनेही।'

रामभक्ति काव्य में ब्रह्म की उभयात्मक अवधारणा मिलती है। वह मूर्त-अमूर्त, व्यक्त–अव्यक्त, चल–अचल सब कुछ है यानी सर्वरूप है। उसके दोनों रूप सत्य और नित्य हैं। रामचरितमानस में तुलसीदास ने लिखा है –

सगुनहि अगुनहि नहिं कछु भेदा, गावहिं मुनि पुरान बुध वेदा।
अगुन अरूप अलख अज जोई, भगति प्रेम बस सगुन सो होई।।

'गहन राजनीतिक बोध' राम भक्ति काव्य की विशिष्टता है। शासन की प्रजातान्त्रिक भूमि की मांग करते हुए तुलसी दिखायी देते हैं। रामचरितमानस में राम कहते हैं—

'सोई सेवक प्रियतम मन सोई, मन अनुशासन मानै जोई।
जौं अनीति कछु भासौ भाई, तौ मोहि बरजहुं भय बिसराई।'

समकालीन राजनीति की प्रकृति इस काव्य में साफ दिखाई देती है जिसके कारण समाज में अनेक विसंगतियां उत्पन्न हुई हैं –

वेद धर्म दूरि गये भूमि चोर भूप भये।

इन कुरूपताओं के समानान्तर रामभक्ति काव्यधारा का कवि रामराज्य की

परिकल्पना करते हैं। रामराज्य तुलसी द्वारा कल्पित एक ऐसा स्वप्न–लोक है जो सम्पूर्णतः सुखद है। यह कोई आध्यात्मिक या अन्तस्साधनात्मक उपलब्धि नहीं है, बल्कि संसार के दैहिक, दैविक और भौतिक तापों से मुक्त हो जाने की स्थिति है–

दैहिक दैविक भौतिक तापा, रामराज्य काहुहिं नहिं व्यापा।

भक्तिकाल की अन्य काव्य–धाराएं जहाँ वर्णाश्रम-व्यवस्था का विरोध करती हैं, वहीं रामभक्ति काव्यधारा वर्णाश्रम–व्यवस्था का समर्थन करती है। तुलसी वर्ण-व्यवस्था को सामाजिक आदर्श के रूप में देखते हैं। इसलिए वे कहते हैं—

पूजिये विप्र सकल गुनहीना
सूद्र न पूजिए परम प्रवीना।

रामभक्ति काव्य में नारी के प्रति तिरस्कार–दृष्टि है। तुलसी नारी को अवगुणों की खान कहते हैं—

विधिहुं न नारि हृदय गति जानी
सकल कपट अघ अवगुन खानी।

लेकिन तुलसी नारी को सामाजिक रिश्तों के भीतर सम्मानित करते हैं। सीता, भवानी आदि इसके ज्वलंत उदाहरण हैं। वे कई स्थानों पर नारी का मर्यादित चित्रण करते हैं–

अनुज बधु भगिनी सुत नारी।

युग–जीवन का यथार्थ चित्रण रामभक्ति काव्यधारा की महत्त्वपूर्ण विशेषता है। धार्मिक अराजकता, शिक्षा–व्यवस्था, आर्थिक विपन्नता, दैविक आपदाएं, दरिद्रता आदि का वर्णन तुलसी के काव्य में मिलता है। कुछ उदाहरण द्रष्टव्य हैं –

धार्मिक अराजकना

'नारि मुई गृह सम्पति नासी, मुड़ मुड़ाइ होहिं संन्यासी।'

दरिद्रता

'खेती न किसान को भिखारी को न भीख,
बनिक को बनिज, न चाकर को चाकरी।'

रामभक्ति काव्यधारा में प्रबन्धात्मक और मुक्तम, दोनों प्रकार की रचनाएं लिखी गई हैं लेकिन तुलसी ने प्रमुखतया प्रबंधात्मक विधान का निर्वाह किया है। तुलसी का सांस्कृतिक संकट सम्पूर्ण जीवन का सांस्कृतिक संकट है इसलिए वे प्रबन्धात्मकता को चुनते हैं।

'समग्रतः हिन्दी रामकाव्य परम्परा हमारी जातीय रचनाशीलता और मूल्य चिन्ता

का अप्रतिम दस्तावेज है। यह कविता जहाँ अपने समय के सामाजिक मानवीय संकटों का तकलीफदेह बयान करती है वहीं रामराज्य के स्वप्न के रूप में एक विकल्प भी प्रस्तुत करती है। रामकाव्य धारा के प्रतिनिधि कवि तुलसीदास की कतिपय सीमाएं वर्णव्यवस्था की स्वीकृति, स्त्री के प्रति सहानुभूति का अभाव और सामाजिक परिवर्तन की कोशिशों का धीमापन इस कविता की सीमाएं हैं, लेकिन ये सीमाएं, रामकाव्य की ही नहीं, इतिहास की भी सीमाएं हैं। वस्तुतः कोई भी जीवन्त काव्य अपने समय की सीमाओं से अछूता नहीं रह सकता। इसलिए रचना की महत्ता इस बात पर निर्भर करती है कि वे कि हद तक अपने समय की सीमाओं का अतिक्रमण करती है और विकल्प देती है। आधुनिक विश्व -दृष्टि में अनेक सीमाओं से युक्त होने के बावजूद रामराज्य के स्तर पर इस कविता की प्रासंगिकता निर्विवाद है।

राम काव्य परम्परा

सगुण काव्यधारा में पहली बार ब्रह्म मनुष्य के रूप में आचरण करता हुआ दिखता है। वहाँ ब्रह्म चिन्तन का विषय नहीं है, बल्कि सामाजिक व्यवहार से पकड़ में आता है। अतः ब्रह्म की जागतिक भूमिका की पहचान की शुरुआत सगुण काव्यधारा में होती है। समूचे ब्रह्म चिन्तन को लौकिक आधार देने का काम सगुण काव्यधारा करता है। पूरे सगुण काव्य की चिन्ता, मनुष्य की चिंता है। सगुण काव्यधारा में मूलतः अध्यात्म को ब्रह्म के नजदीक पहुंचाया है। आत्मा के मुक्त होने की विराटता फूट गयी है। राम और कृष्ण का आचरण ब्रह्म का नहीं है। सगुण काव्य ने लौकिक आधार प्रदान किया। समाज के आध्यात्मिकीकरण की शुरुआत सगुण काव्य करता है। यह सगुण काव्य की बड़ी दोनों में से एक है। मध्यकाल के वैराग्यवाद के खिलाफ सही मायने में धर्म के बीच पड़े मलबे को हटाने का काम सगुण काव्य ने किया। इस काव्य में कहीं रहस्यवाद दिखाई नहीं देता है। ब्राह्मण, गाय, देवता और सन्त के उपकार के लिए ब्रह्म मनुष्य के रूप में अवतार लेता है। अनन्तता अर्थहीन है जिसे समझा जा सकता है, वही मनुष्य के लिए उपयोगी हो सकता है। सीमित और ठोस अनुभव देने की शुरुआत सगुण काव्य ने की।

इसी सगुण पृष्ठभूमि पर राम और कृष्ण काव्य धारा का प्रादुर्भाव हुआ। राम काव्यधारा के दर्शन का आधार रामानुजाचार्य के अद्वैतवाद पर आधारित है। इन्द्रियों से दिखने वाला प्रत्येक चीज झूठ है, इस तरह मनुष्य रूप में दीखने वाला ईश्वर भी झूठ है। जगत में रहते हुए अपने मूल स्वरूप को जो बनाये रखता है, वही ब्रह्म है। ब्रह्म की मूल प्रकृति करुणा की है। विशिष्टाद्वैत में ईश्वर मूलतः करुणामयी है और

गरीबों के कष्टों को दूर करने के लिए ईश्वर का अवतार होता है। विशिष्टाद्वैत में अवतार धर्म की रक्षा के लिए नहीं है। राम काव्यधारा का दार्शनिक आधार विशिष्टाद्वैत है। विशिष्टाद्वैत से इसने तीन चीजें लीं–1. अवतारवाद, 2. करुण और 3. विशिष्टता। मानवीय आचरण करता हुआ मनुष्य नहीं रहता विशिष्ट हो जाता है। अवतारवाद, करुणा और लीलावाद सगुण काव्य के बुनियादी आधार हैं। इन बिन्दुओं पर रामकाव्य की विशेषता पर बात करेंगे।

राम काव्य की विशेषताएं

(1) राम के मर्यादा पुरुषोत्तम रूप की स्थापना

रामभक्ति काव्य राम के मर्यादा पुरुषोत्तम रूप की स्थापना करता है। राम की मर्यादा उनके मानवीय आचरण के भीतर से पैदा हुई है। मर्यादा का आधार विचार नहीं आचरण है। मर्यादा का मूल अर्थ नितान्त प्रतिकूल परिस्थितियों में भी अपने मूल्य और मर्यादा से जुड़ा रहना है। समुद्र से रास्ता मांगने से लेकर शत्रु के साथ सम्बन्ध में भी उन्होंने मर्यादा का पालन किया है। उनके आचरण में कहीं अनादर की भावना नहीं है। पारिवारिक स्तर पर भी उन्होंने मर्यादा का पालन दृढ़ता से किया है। पारिवारिक, सामाजिक और राजनीतिक तीनों स्तरों पर राम मर्यादा का पालन करते हैं। राम के सम्बन्ध में द्विवेदी जी का वक्तव्य है–

"यह राम हमारे दैनिक जीवन के अनुभवों से उजागर हुआ है। वह केवल अनादि अनन्त और व्यापक सच्चिदानन्द मात्र नहीं है, बल्कि शील, सौन्दर्य और मर्यादा का अधिष्ठाता है।"

मर्यादा राम की विशिष्टता है। पुरुषोत्तम का मूल अर्थ है श्रेष्ठ मनुष्य यानी मर्यादा मनुष्य होने की पहचान और शर्त दोनों है। संघर्षशीलता के बिना मर्यादा का कोई अस्तित्व नहीं है। दैव के खिलाफ संघर्ष–सम्पूर्ण राम काव्य में दैव से संघर्ष दिखाई पड़ता है। जहाँ वास्तविक संघर्ष है वहीं मर्यादा उत्पन्न हो सकती है। विपत्तियों से जूझना उन पर विजय प्राप्त करना यह मर्यादा का लक्षण है मर्यादा की निशानी है।

"दैव सम्पादितो दोषो, मानुषेण मयाजित:।"

दैव ने मेरे लिए विपत्तियां उत्पन्न कीं और मैंने मनुष्य होकर उस पर विजय प्राप्त की। तुलसीदास के यहाँ भी दैव है। तुलसीदास के राम भी दैव से हमेशा टकराते हैं। निराला भी आधुनिक काल में दैव का प्रयोग करते हैं। दैव से, जड़ता से लड़ने की भावना मर्यादा में दिखती है। उस युग के सबसे महत्त्वपूर्ण कवि रामराज्य

की कल्पना करते हैं। यह मर्यादा मनुष्य के लिए नहीं बल्कि उसकी पूरी संरचना के लिए जरूरी है। मर्यादा एक मूल्य है रामकाव्य में। मर्यादा मानवीय सामाजिकता की रीढ़ है। मर्यादा के बिना समाज, समाज नहीं रह सकता। इस तरह से रामकाव्य में एक ऐसे स्तर पर जब मर्यादा खत्म हो गयी है कविता अपनी बात विचार के रूप में नहीं रखती चरित्र के रूप में रखती है।

(2) लोकमंगल की साधना/ कर्म संघर्ष का चित्रण

लोक का कल्याण हो सके इसके लिए संघर्ष जरूरी है। अगर हम चाहते हैं कि धरती विषाक्त मुक्त हो तो इसके लिए संघर्ष जरूरी है, यह केवल आशीर्वाद से सम्भव नहीं है जो लोकमंगल है वह अनिवार्यतः संघर्ष से जुड़ा है। पूरे तुलसी के काव्य में लोक मंगल की कामना संघर्ष से जुड़ी है। राम काव्य की मूल प्रतिज्ञा समाज कल्याण की है। पूरा राम काव्य मानवीय सदाशयता, लोकमंगल से प्रेरित है। लोकमंगल की चिन्ता रामकाव्य की असली चिन्ता है।

यद्यपि तुलसीदास स्वान्तः सुखाय की बात करते हैं। तुलसी का स्वान्तः सुखाय समष्टि का सुख है। वे फ्रायड के व्यक्ति नहीं हैं, सामाजिक व्यक्ति हैं। लोकमंगल का लक्ष्य प्रतिगामी शक्तियों का विरोध भी है। यह राम के संघर्ष से होता है। यह विरोध अनिवार्यतः सजग और सक्रिय है। संघर्ष, मर्यादा और धर्म – एक स्तर पर यह तीनों लोकमंगल के ही तीन रूप हैं। अन्ततः यह कविता, कविता और कविता के लक्ष्य को भी बड़ा बनाती है। शुक्ल जी के अनुसार – "बड़ी कविता वही है, जिसमें लोकमंगल की चिन्ता दिखाई पड़ती है।" राम के जन्म का कारण कृष्ण की तरह लीला नहीं – सामाजिक भी है।

विप्र, धेनु, सुर, सन्तहित, लिन्ह मनुज अवतार।
परहित सरिस धर्म नहीं भाई, परपीड़ा सम नहीं अधमाई।

यश, कविता और सम्पत्ति वही अच्छी होती है, वैसे ही जैसे गंगा सबका कल्याण करती है। इसलिए हम कह सकते हैं कृष्ण काव्य की मूल प्रकृति लोक रंजन की है। लोकरंजकता कृष्ण काव्य की मूल प्रतिज्ञा है। दूसरी तरफ हम कह सकते हैं कि लोकमंगल की कामना संघर्ष की निरन्तरता और मर्यादा के निर्वाह में रामकाव्य की लोकमंगल की चेतना प्रस्तावित होती है।

(3) समन्वयात्मक जीवन-दृष्टि

परस्पर विरोधी धाराओं को एक बिन्दु पर ले आना समन्वय की पहचान है। भारतीय संस्कृति की प्रकृति समन्वयात्मक है। समन्वय भारतीय समाज की अनिवार्य

आवश्यकता है। तुलसीदास और महात्मा गांधी दोनों इस क्षेत्र के महानायक हैं। श्याम सुन्दर दास ने कहा है–"तुलसी का काव्य समन्वय की विराट चेष्टा है।" जार्ज ग्रियर्सन, द्विवेदी जी और आचार्य शुक्ल इसलिए तुलसी को महानायक मानते हैं।

द्विवेजी जी का कथन है–"भारतवर्ष का लोकनायक वही हो सकता है, जो समन्वय करने का अपार धैर्य लेकर आया हो। भारतीय जनता में नाना प्रकार की परस्पर विरोधी संस्कृतियां, साधनाएं, जातियां, आचार-विचार और पद्धतियां प्रचलित हैं। तुलसीदास का सारा काव्य समन्व्य की विराट चेष्टा है। रामचरितमानस आदि से अन्त तक दो छोरों पर जाने वाली पराकोटियों को मिलाने का प्रयास है।"

स्पष्ट है समन्वयशीलता संस्कृति की पीठिका है। समन्वय का सम्मान करने वालों में बुद्ध, गांधी और तुलसी आते हैं। समाज के टूटने के स्तर पर तुलसी उसे जोड़ने का प्रयास करते हैं। वर्ण-व्यवस्था को तुलसी संशोधन के साथ स्वीकार करते हैं।

समन्वय के प्रयास

(क) निर्गुण और सगुण के स्तर पर समन्वय

तुलसी के यहाँ सगुण और निर्गुण में कोई फर्क नहीं है। दोनों संसार के दुःख को हरने वाला है। जो चिन्तन के स्तर पर सगुण है, वही सगुण रूप हो जाता है।

अगुन अरूप अलख अज जोई
भगति प्रेम बस सगुन सो सोई।

जो निर्गुण है, प्रेम और भक्ति के वश में वही सगुण हो जाता है। इसलिए सगुण और निर्गुण के बीच फैले दरार को तुलसी ने पाटने का काम किया है। उन लोगों की भर्त्सना की जो लोग केवल निर्गुण के पक्ष में हैं।

(ख) वैष्णव और शेव के स्तर पर समन्वय

1. *'शिवद्रोही मम दास कहावा, सो नर सपने हूँ मोहे न भावा'*
2. *"हरिहर निन्दा सुनई जो काना*
   होई पाप गउ घात समाना।"

(ग) शास्त्र और लोक का समन्वय

तुलसी ने अपने काव्य में शास्त्र और लोक का समन्वय किया है। एक तरफ ब्रह्म–

तत्त्व का वर्णन करते हैं तो दूसरी तरफ लोक का वर्णन करते हैं। तुलसी की भाषा में लोक और शास्त्र की झलक दिखाई पड़ती है।

(4) दास्य भक्ति की स्वीकृति

पूरे रामकाव्य की भक्ति दास्य भक्ति है। जो मन, तन और धन से अपने मालिक के प्रति समर्पित है उसे दास कहते हैं। दास्यता चेतना की वह अवस्था है जिसमें हम अपने पूरे अहंकार को समाप्त कर देते हैं। इसलिए दास्य-भक्ति में अहंकार का पूरा अभाव है। भक्ति की सघनता में सम्पूर्ण समर्पण की भावना दिखाई देता है। रामकाव्य दास्य भक्ति को प्रधानता देता है। मूलतः दास्य भक्ति में दास और मालिक का सम्बन्ध पारदर्शी होता है। सम्बन्धों की पारदर्शिता दास्य भक्ति की पहचान है। इसलिए दास्य भक्ति सीधी, सरल और सहज है। तुलसी के राम कण-कण में व्याप्त हैं। वे सभी के लिए उसी तरह सुलभ हैं जैसे हवा। जैसे ही हम अहंकार को छोड़ देते हैं वैसे ही विराटत्व दिखाई देता है। राम की प्रकृति की व्याख्या विराटत्व के स्तर पर किया गया है।

'को जाने को जैहे सुरपुर कौन नरक धन धाम को।
तुलसी बहुत भलो लागत जगजीवन राम गुलाम को।''

मूलतः यह दास्य भक्ति भीतर से सम्पृक्त करती है। दास्य भक्ति रामकाव्य का मूल्य है—

''देहु भगति रघुपति अति पावनि।''
त्रिविध ताप भय दोष नसावनि।''

तुलसी कहते हैं—हे राम! अगर देना हो तो वह भक्ति दो जो जगत के सभी कष्टों को दूर कर सके। रामचरितमानस के समापन दोहा में तुलसीदास कहते हैं—हे राम! जिस तरह कामी पुरुष स्त्री को और लोभी धन को चाहता है, उसी तरह मैं अन्त तक आपसे प्रेम करता रहूं—यह वरदान मुझे चाहिए।

जाके प्रिय न राम वैदेही।
तजिय ताहि कोटि वैरी सम, यद्यपि परम सनेही।

रामभक्ति काव्य में ब्रह्म की उभयात्मक अवधारणा मिलती है। वह मूर्त-अमूर्त, व्यक्त-अव्यक्त, चल-अचल सब कुछ है यानी सर्वरूप है। उसके दोनों रूप सत्य और नित्य हैं। रामचरितमानस में तुलसीदास ने लिखा है—

सगुनहि अनुगहि नहि कछु भेदा, गावहिं मुनि पुरान बुध वेदा।
अगुन, अरूप अलख अज जोई, भगति प्रेम बस सगुन सो होई।।

(5) गहन राजनीतिक बोध

समूचे मध्यकाल में भक्ति काव्य के भीतर राजनीतिक अभिप्रायों की चर्चा तुलसी में दिखाई पड़ती है। यानी धर्म की चर्चा राजनीति के रूप में नहीं की जा सकती। मार्क्स के अनुसार मनुष्य राजनीतिक प्राणी है। तुलसीदास भक्त कवि होते हुए भी पूरे मध्यकाल में पहले कवि हैं, जिन्होंने अपने काव्य में राजनीति को एजेंडे के रूप में रखा है। राजनीति धर्म विहीन हो गई है। राजनीति जब धर्मविहीन होती है तब वह मनुष्य विरोधी हो जाती है।

"वेद धर्म दूरि गये, भूमि चोर भूप गये।"

इन कुरूपताओं के समान्तर रामभक्ति काव्यधारा के कवि रामराज्य की परिकल्पना करते हैं। रामराज्य तुलसी द्वारा कल्पित एक ऐसा स्वप्न लोक है, जो सम्पूर्णतः सुखद है। यह कोई आध्यात्मिक या अन्तस्साधनात्मक उपलब्धि नहीं है बल्कि संसार के दैहिक, दैविक और भौतिक तापों से मुक्त हो जाने की स्थिति है–

"दैहिक, दैविक, भौतिक तापा, रामराज्य काहुहिं नहिं व्यापा।"

रामचरितमानस में 'शासन की प्रजातांत्रिक चेतना' की अवधारणा है जबकि 'प्रजातंत्र' की अवधारणा पैदा ही नहीं हुई थी।

"जासु राज नृप प्रजा दुखारी, सो नृप अवस नर्क अधिकारी।"
नृप पाप परायन धर्म नहीं
कटि दंड विडंब प्रजा नितहीं।

मूलतः जब सत्ता भय पैदा करने लगती है तब उस पर निगाह रखनी चाहिए। भय और आतंकित सत्ताओं की उम्र लम्बी नहीं होती। गांधी जो कि अंग्रेजी पढ़े-लिखे थे बैरीस्टर थे, मार्क्सवाद की बात नहीं करते रामराज्य की बात करते हैं। रामराज्य मनुष्य के दैहिक, दैविक और भौतिक तापों को दूर करती है। रामराज्य की मूल चिन्ता मार्क्स से चार सौ साल पहले अर्थ की समानता की बात करती है।

नहि दरिद्र कोउ दुखी न दीना, नाहिं कोई अबुध न लक्षणहीना।

दरिद्रता की भयावहता का अन्दाज तुलसी को था। करीब 20–50 चौपाइयों में पर्यावरण की चिन्ता भी है।

'फूलन फरहिं सदा तरू कानन, रहहिं एक संग गज पंचानन।'

अतः रामराज्य की अवधारणा समानता और प्रेम को आधार रूप में प्रतिष्ठित करती है। मार्क्सवाद भी समानता की बात करती है लेकिन वहाँ प्रेम नहीं है, खून है, क्रान्ति है। इसलिए गांधी ने मार्क्सवाद के स्थान पर रामराज्य की कल्पना की है।

कविता मूलतः अपने समय का दस्तावेज नहीं होती। तुलसी की कविता मूलतः सत्य का निचोड़ है। कविता के समूचे धागे का इस्तेमाल तुलसी ने किया है। शासन

की प्रजातान्त्रिक भूमि की मांग करते हुए तुलसी दिखाई देते हैं। रामचरितमानस में राम कहते हैं—

'सोई सेवक प्रियतम मम सोई, मन अनुशासन मानै जोई।
जौ अनीति कछु भासौ भाई, तो मोहि बरजहुं भय बिसराई।।'

राज्य या राजा आतंक नहीं है। वह मूलतः प्रजा का सेवक है। रामराज्य में राजा और प्रजा के बीच भय नहीं है। राम अपने राज्य में प्रजा से कहते हैं—जैसे ही मुझसे अनीति हो तुम हाथ पकड़कर मुझे कह सकते हो।

(6) वर्णाश्रम-व्यवस्था का समर्थन

भक्तिकाल की अन्य काव्यधाराएं जहाँ वर्णाश्रम-व्यवस्था का विरोध करती हैं वहीं राम भक्ति काव्यधारा वर्णाश्रम-व्यवस्था का समर्थन करती है। नारी और शूद्र की सामाजिक हैसियत एक तरह की है। तुलसी वर्ण-व्यवस्था को सामाजिक आदर्श के रूप में देखते हैं। इसलिए वे कहते हैं—

पूजिय विप्रय सकल गुनहीना।
सूद्र न पूजिय परम प्रवीना॥

(7) नारी के प्रति तिरस्कार दृष्टि

नारी को मध्यकाल में 'माया' माना गया है जो आध्यात्मिकता में अवरोध बनकर पुरुष को/साधक को रोकती है। आलोचक मानते हैं कि कबीर कहीं-न-कहीं सामन्तवाद विरोधी दृष्टि के कवि हैं, जबकि तुलसी सामन्तवाद के पक्षधर हैं।

लेकिन ध्यान देने की बात है कि तुलसी की कविता में नारी विरोधी उक्तियां हमेशा खलनायकों के मुंह से कहीं गई हैं। प्रश्न उठता है कि क्या उन्हें तुलसी की दृष्टि माना जाए? पूरे रामचरितमानस में राम ने स्त्रियों के प्रति अनौचित्य पूर्ण कोई वक्तव्य नहीं दिया—या तो रावण ने कहा या समुद्र ने या कुछ स्त्रियों ने ही। तथापि यह मानना होगा कि कहीं-न-कहीं तुलसी की सम्मति भी रही होगी—

1. "विधिहूँ न नारी हृदयगति जानि, सकल कपट अद्य अवगुण खानि।"
2. "नारी स्वभाव सत्य कवि कहहिं अवगुण आठ सदा उर रहहिं।"

(रावण का कथन)

3. "ढोल, गंवार, शूद्र, पशु, नारी, ये सब ताड़न के अधिकारी।"

(भयभीत समुद्र का कथन)

वस्तुतः तुलसी का नारी के प्रति दृष्टिकोण मर्यादित है। वे जब नारी का चित्रण करते हैं तब यह देखा जा सकता है। सीता के शरीर के बारे में एक बार उन्होंने

लिखा है—

"सोह नवल तनु सुंदर सारि, जगत जननि अतुलित छवि भारी"

वे स्त्री की पराधीनता का सवाल उठाने वाले पहले कवि हैं–

"कत विधि सृजी नारी जग माहिं, पराधिन सपनेहुं सुख नाहिं"।

(8) युग जीवन के यथार्थ का चित्रण

सामान्यतः सभी रामकाव्य की प्रकृति में उस युग की प्रवृत्ति है। रामकथा इस तरह की है कि उसमें समाज की समस्याएं दिखती हैं। कविता अपने समय के यथार्थ का संकेतन होता है। अखबार और कविता की खबर में अन्तर है। अखबार की खबर तटस्थ होती है जबकि कविता जो समय की खबर देती है, उसमें उस युग की तमाम प्रवृत्ति लक्षित रहती है। जैसे कबीर की कविता में उस युग की तमाम प्रवृत्ति जैसे, वर्ण–व्यवस्था, धार्मिक कर्मकांड, पाखंड आदि क़ी सूचना पूर्ण रूप से विद्यमान हैं। वैज्ञानिक सभ्यता की मूल समस्या को प्रसाद अपनी कविता में दिखाते हैं। कविता एक अनिवार्य युग–धर्म है कि वह चेतना को सजग बनाती है। तुलसी के काव्य में उस समय का समूचा यथार्थ चित्रित हुआ है।

(1) **धर्म :** तुलसी का समय धार्मिक अराजकता का काल है। धार्मिक अराजकता का अभिप्राय धर्म के केन्द्र का टूटना है। इसलिए एक स्वेच्छाचारिता उत्पन्न हो गई है। किसी भी स्तर पर केन्द्र के टूटने पर परिस्थितियां अवसर के रूप में परिवर्तित हो जाती हैं।

सुविधा के रूप में—

नारि मुई गृह सम्पत्ति नासी
मूड़ मूड़ाई होहि संन्यासी।
– घर में कुछ भी नहीं रहने पर संन्यासी होना
जाके नख अरू जटा विसाला
सोई तापस प्रसिद्ध कलिकाला।

धर्म अब सिर्फ वेशभूषा हो गया है जबकि धर्म वेशभूषा नहीं है। धर्म की मूल चेतना खत्म होने पर मन्दिरों में संगमरमर की चकचकाहट दिखाई पड़ेगी। धर्म की सत्ता प्रदर्शन पर आ गई है। मरते धर्म की पूर्ति मर्यादा के माध्यम से तुलसी कराते हैं–

अनुज वधु भगिनि सुत नारि।
इन्हीं कुदृष्टि बिलोकई जोई, तासु कटे कछु पाप न होई।।

राम यह जानते हुए कि यह गलत है तब भी व्यक्ति और सामाजिक प्रतिष्ठा के लिए बालि वध करते हैं।

(2) सिद्धनाथ परम्परा का विरोध : दर्शन और आचरण के अन्तर्विरोध को लेकर–

"ब्रह्म ज्ञान बिनु नारि न कहहिंन दूसर बात"
कौड़ी लागि मोह बस, करहिं विप्र गुरु घात।"

(3) शिक्षा : शिक्षा का अर्थ अपनी सामर्थ्य, ईश्वर और विराटत्व को जानना है। लेकिन तुलसी कहते हैं कि शिक्षा बिल्कुल व्यवसायी हो गयी है। शिक्षक और विद्यार्थी का रिश्ता आदान-प्रदान का रिश्ता है जो बिल्कुल नष्ट हो गया है–

हरई सिष्य धन सोक न हरइ
सो गुरु घोर नरक मंह परइ

परिवार को पहला विद्यालय कहा गया है लेकिन परिवार के स्तर पर संस्कार खत्म है–

मातु पिता बालकन्हि बोलावहि
उदर भराई सोई धर्म सिखावहि

परिवार में मूल्य का संस्कार नहीं है। इसलिए न तो गुरु के स्तर पर और न परिवार के स्तर पर शिक्षा का कोई महत्त्व है। इसलिए शिक्षा मूलतः पेट भरने तक रह गई है। मध्यकाल की शिक्षा उलट गई है। तुलसी पहले कवि हैं जिन्होंने शिक्षा की बात उठायी है। इसका अर्थ है तुलसी ने आर्थिक दंश को झेला है। तुलसी का सारा जीवन भीख मांगते गुजरा है। बच्चे काम पर जा रहे हैं, यह समय की सबसे खतरनाक बात है। तुलसी की पूरे कविता के केन्द्र में भूख दिखाई देती है–

कलि बारहि बार दुकार परै बिनु अन्न दुखी सब लोग मरै
नर पीड़ित रोग न भोग कहीं न अभिमान विरोध अकारण ही
खेती न किसान को भिखारी को न भीख बलि
बनिक को बनिज न चाकर को चाकरी।
जीविका विहीन लोग सीधमान सोच बस
कहै एक एकन सों कहां जाइ का करी।

इस तरह यह कविता भक्ति में, सत्य में कोई वास्तविकता का विरोध नहीं करती। जीवन की समस्त परिस्थितियों के साथ भक्त हुआ जा सकता है। ऐसी स्थिति में पूरा रामकाव्य राजनीतिक, धार्मिक और सामाजिक दस्तावेज है।

(8) काव्य संगठन

(1) काव्यरूप : काव्य रूप के स्तर पर रामकाव्य की प्रकृति प्रबन्धात्मक है। वाल्मीकि रामायण स्वयंभु का रामचरिउ और रामचरितमानस ये सभी कृतियां प्रबन्धात्मक हैं। वस्तुतः राम कथा सामाजिक प्रबन्धों और चिन्ताओं से जुड़ी है। इसलिए कहा जा सकता है कि मूल्य चिन्ता और सामाजिक पुनर्गठन की आकांक्षा इन दोनों स्थितियों ने रामकाव्य को प्रबन्धात्मक बनाया है। इसलिए प्रबन्धात्मकता रामकाव्य की प्रकृति है।

(2) भाषा : पूरा-का-पूरा भक्ति काव्य भाषा के स्तर पर लोक भाषाओं की प्रतिष्ठा करता है। लेकिन रामकाव्य में भाषा के स्तर पर मध्यम मार्ग का अनुसरण किया गया है।

तुलसी ने — भासा बद्ध करब मैं सोई।

मूलतः जनजीवन की भाषा जो संस्कृत से भिन्न थी उसे भाखा कहा जाता था। भाषा के स्तर पर हिन्दवी और भाखा एक ही है। कबीर के यहाँ संस्कृत का प्रयोग नहीं किया गया है। देव भाषा और लोक भाषा के बीच तनाव का नहीं साहचर्य का रूप दिखाई देता है।

अलंकारों के स्तर पर

सामान्यतः सभी भक्ति कविता शब्दालंकार को महत्त्व नहीं देती। अलंकारों में खासतौर पर अर्थालंकारों का प्रयोग किया गया है। इसकी मूल चिन्ता अर्थ अभिव्यंजना की चिन्ता है। इसलिए सामान्यतः अर्थालंकारों का प्रयोग किया गया है। तुलसी रूपक के सबसे बड़े रचनाकार माने गये हैं। पूरे रामकाव्य में रचनात्मक के स्तर पर संगठित हैं। कविता और भक्ति का अपूर्व सन्तुलन दिखाई पड़ता है।

"उदित उदय गिरि मंच रघुबर बाल पंतग
विकसे संत सराज...................... ।"

मूल्यांकन

समग्रतः हिन्दी रामकाव्य परम्परा हमारी जातीय रचनाशीलता और मूल्य चिन्ता का अप्रतिम दस्तावेज है। यह कविता जहाँ अपने समय के सामाजिक और मानवीय संकटों का तकलीफदेह बयान करती है वहीं रामराज्य के स्वप्न के रूप में एक विकल्प प्रस्तुत करती है। रामकाव्य में प्रतिनिधि कवि तुलसीदास की कतिपय सीमाएं वर्ण-व्यवस्था की स्वीकृति, स्त्री के प्रति असहानुभूति का भाव और सामाजिक परिवर्तन की कोशिशों का धीमापन इस कविता की सीमायें हैं।

रामकाव्य और कृष्णकाव्य का तुलनात्मक अध्ययन

दोनों ही धाराएं शंकर के अद्वैतवाद की प्रक्रिया में पनपी दार्शनिक चेतना पर आधारित हैं। इनका सम्बन्ध क्रमशः रामानुज के विशिष्टाद्वैत और बल्लाचाभार्य के शुद्धाद्वैत की स्थापनाओं से है। इसलिए ये दोनों ही काव्यधाराएं रचना के स्तर पर उस दार्शनिक मान्यता को प्रतिफलित करती हैं जिसमें ब्रह्म के सगुण रूप की स्थापना की गई है। सिद्धान्त रूप में ब्रह्म के निर्गुणत्व को स्वीकार करते हुए भी रामानुज और वल्लभाचार्य ने जागतिक सम्बन्धों में ब्रह्म के सगुण रूप को महत्त्वपूर्ण माना। सूर और तुलसी का काव्य इसी सगुण ब्रह्म की लीलाओं पर आधारित है। जगत को सत्य मानकर इसमें ब्रह्म की मानवीय भूमिका को स्वीकृति प्रदान की गई है। इस स्तर पर दोनों काव्यधाराएं ब्रह्म के सगुण रूप और उसकी मानवीय भूमिका को स्वीकार करती हैं।

दोनों ही धाराओं में अवतारवादी धारणा को स्वीकृति है। गीता में श्रीकृष्ण ने मोहग्रस्त अर्जुन से कहा था कि पृथ्वी पर जब-जब धर्म की हानि होती है और दुष्टों का उत्पात बढ़ता है, मैं अवतार लेकर धर्म की रक्षा करता हूं और दृष्टों का संहार करता हूं। राम और कृष्ण काव्यधाराएं ब्रह्म की इस अवतारी भूमिका की भूमि पर एक साथ दिखायी देती हैं।

दोनों ही धाराएं भक्ति को साधना के चरम मूल्य के रूप में देखती हैं। निर्गुण धारा में साधना का पूर्ण लक्ष्य बूंद का सागर में विलयित हो जाना है, लेकिन राम और कृष्णकाव्य में भक्त और भगवान के विलयन की नहीं बल्कि उसके सामीप्य की कामना की गई है। सामीप्य में ईश्वरीय अनुभूति के आनन्द का पूरा अवकाश है जबकि विलयन में अस्तित्व की सत्ता का ही लोप हो जाना है। इसलिए इन धाराओं के प्रतिनिधि कवियों सूर और तुलसी ने अपने ईश्वर से अनन्त जन्मों में भक्ति की याचना की है, मुक्ति की नहीं।

निर्गुण काव्यधारा में ज्ञान और प्रेम का आश्रय लेने के बावजूद भारत के सांस्कृतिक मन का पुनर्गठन नहीं किया जा सका था। राम और कृष्ण काव्यधाराएं अपने-अपने नायकों के माध्यम से भारत की सांस्कृतिक चेतना एवं मूल्य-दृष्टि को एक कथात्मक आयाम देती हैं। संघर्ष और सौन्दर्य जीवन के आधारभूत तत्त्व हैं। सिर्फ संघर्ष से जीवन शुष्क और अनास्थापूर्ण हो सकता है और सिर्फ सौन्दर्य जीवन को विलासी और अकर्मण्य बना सकता है। इसलिए भारतीय जीवन-दृष्टि सामाजिक जीवन में इन दोनों की महत्ता को स्वीकार करती है। राम और कृष्ण क्रमशः इसी संघर्ष और सौन्दर्य-भावना के प्रतीक हैं।

राम और कृष्ण काव्यधाराएं ब्रह्म के स्वरूप और उसकी अवतारवादी धारणा के धरातल पर समान होती हुई भी अनेक बिन्दुओं पर एक-दूसरे से भिन्न भी हैं। इस भिन्नता के बीज उन समान बिन्दुओं में भी हैं जो इन्हें एक-दूसरे के साथ जोड़ते हैं।

राम और कृष्ण काव्यधाराओं में ब्रह्म के सगुण रूप की लीलाओं का वर्णन किया गया है लेकिन रामकाव्य में यह लीला मनुष्य के रूप में की गई है। राम परमब्रह्म हैं लेकिन वे लगातार अपने को मनुष्य के रूप में व्यक्त करते हैं। मानवीय संघर्ष, आकांक्षा, सुख-दुख सब कुछ राम के जीवन में दिखाई देता है। इस नर लीला का एक महत्त्वपूर्ण सामाजिक अभिप्राय है। मर्यादा के प्रतिमानों की सृष्टि और आततायी के आंतक से समाज और सन्तों की मुक्ति, इस नर लीला का लक्ष्य है। इस प्रकार रामकाव्य में नर लीला एक वृहत्तर मानवीय और सामाजिक लक्ष्य से जुड़ी हुई है। कृष्णकाव्य बल्लभाचार्य के शुद्धाद्वैत पर आधारित है। उसमें कृष्णलीला नरलीला नहीं बल्कि साक्षात ब्रह्मलीला ही है। रमण की इच्छा के फलस्वरूप ब्रह्म इस गोलोक में अवतरित होता है और प्रणय, संगीत और रास के माध्यम से वह आनन्द की सृष्टि करता है और भक्तों को आनन्द प्रदान करता है। इस आनन्द में सामान्यत अपने समय के संघर्षों एवं सामाजिक सुख-दुखों की छाया वह नहीं पड़ने देता। उन्मुक्तता और तन्मयता कृष्ण लीला की आधारभूत प्रवृत्तियां हैं। रामकाव्य में जहाँ लीला का एक जागतिक अभिप्राय है, कृष्णकाव्य में सिर्फ आध्यात्मिक आनन्द का प्रतीक भर है। इसलिए लीला के बिन्दु पर समान होते हुए भी उसके लक्ष्य और प्रकृति के स्तर पर दोनों काव्यधाराएं एक-दूसरे से भिन्न हैं।

राम और कृष्ण काव्यधारा में सगुण के प्रति भक्ति को चरम मूल्य के रूप में स्वीकार किया गया है लेकिन भक्ति के स्वरूप में भिन्नता है। रामकाव्य की भक्ति दास्य है जो वैधी भक्ति के अन्तर्गत आती है। इस भक्ति में राम श्रद्धा, मर्यादा और चरम पवित्रता के गुणों से युक्त हैं। दिव्य गुणों से युक्त राम के इस स्वरूप के प्रति भक्त अपनी तमाम क्षुद्रताओं और लघुताओं के साथ समर्पित होता है और स्वयं को दास के रूप में प्रस्तुत करता है। सेवक-सेव्य का सम्बन्ध रामभक्ति काव्य का आधार है। इसीलिए रामकाव्य में भक्त और भगवान के बीच एक पवित्र दूरी लगातार बनी रहती है। कृष्ण काव्य की भक्ति सख्य भाव पर आधारित है, जिसे आचार्यों ने मधुरा भक्ति के अन्तर्गत रखा है। इस भक्ति में भक्त और भगवान के बीच सखा-सम्बन्ध होता है। भक्त कृष्ण के अनुग्रह से उसकी लीलाओं में भाग लेता है या उन लीलाओं का साक्षी होकर आनन्द उपलब्ध करता है। संगीत, रास और प्रणय इस लीला के लौकिक उपादान हैं, इन उपादनों से वह श्रोता और भोक्ता

के स्तर पर सम्बद्ध होकर कृष्ण के प्रति दुर्निवार आकर्षण से भरकर अपूर्व आनन्द को उपलब्ध करता है। आनन्द के इस रूप की उपलब्धि में ही भक्ति के इस स्वरूप की सार्थकता है। सख्य भक्ति में भक्त और ईश्वर के बीच मर्यादा का सम्बन्ध नहीं होता और न ही उपास्य को पवित्रता की निर्जीव मूर्ति के रूप में पूजा जाता है। वहाँ उपास्य और उपासक राग और संगीत की समन्वित धारा में एक साथ संचरण करते हैं। इसलिए रामकाव्य की भक्ति में मर्यादा केन्द्रीय मूल्य है, जबकि उन्मुक्तता कृष्णभक्ति के सख्य-भाव की स्वाभाविक परिणित है।

राम और कृष्ण काव्य दोनों ही भारतीय इतिहास के मध्यकाल के बीच रचित हुए हैं लेकिन अपने समय और समाज से सम्बद्धता के बिन्दु पर इन दोनों ही काव्यों की स्थितियां भिन्न हैं। रामकाव्य में कलियुग वर्णन के माध्यम से तुलसी ने अपने समय के सामाजिक जीवन और मूल्यों के संकट को पूरी प्रामाणिकता के साथ चित्रित किया है। सामाजिक और राजनीतिक जीवन से गहरी सम्बद्धता के कारण रामकाव्य धर्म और मानवीय जीवन को समानान्तर यथार्थ के रूप में प्रस्तुत करता है। रामकाव्य में अपने युग-यथार्थों की गहरी पहचान तो है ही, उसमें अपने युग में सपनों की भी भरपूर स्थिति है। कलियुग-वर्णन और रामराज्य की परिकल्पना यथार्थ और स्वप्न की समानान्तर उपस्थितियां हैं। कविता अपने समय का सत्य ही नहीं कहती बल्कि वह उस सत्य को मांगलिकता के बिन्दु पर प्रतिष्ठित करती है। तुलसी का रामकाव्य इस धारणा को प्रतिष्ठित करता है। कृष्ण काव्य में अपने समय की वास्तविकताओं और संघर्षों से कोई रिश्ता दिखाई नहीं देता। यह कविता इतिहास की उपज नहीं लगती इसलिए यह प्रेम और माधुर्य के बिन्दुओं पर सार्थक होती हुई भी, ऐतिहासिकता और सामाजिक मूल्यों की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण नहीं दिखती। कृष्णकाव्य जिस संसार की रचना करता है वह एक भक्त का आध्यात्मिक संसार है और यह संसार मानवीय संसार से अछूता है। इसलिए राम और कृष्ण काव्य-धाराएं जागतिक सम्बद्धता के बिन्दु पर एक-दूसरे से नितान्त भिन्न हैं।

रामकाव्य में तुलसीदास ने राम के माध्यम से शील, शक्ति और सौन्दर्य का समन्वय किया है। कर्म सौन्दर्य राम के सौन्दर्य का मूल आधार है। यह कर्म सौन्दर्य लोकधर्म की स्थापना से सम्बन्धित है इसलिए रामकाव्य की सम्पूर्ण रचनात्मक सार्थकता लोकमर्यादा और कर्म संघर्ष की मर्यादा का प्रतिपादन है। वस्तुतः बहुजन सुखाय, बहुजन हिताय की मूल धारणा को ही तुलसीदास ने राम के कर्म सौन्दर्य के माध्यम से स्थापित किया है।

कीरति भनिति भूति भलि सोई, सुरसरि सम सबकर हित होई।

सर्वकल्याण तुलसी की भक्ति और काव्य-साधना दोनों का ही मुख्य लक्ष्य है।

कृष्णकाव्य में यद्यपि प्रसंगवश कृष्ण के लोकरक्षक रूप की चर्चा की गई है। वे कभी-कभी राक्षसों का वध करते हैं और इन्द्र के प्रकोप के बृज प्रदेश को बचाते हैं, लेकिन उनकी पूरी छवि लोकरक्षक की न होकर लोकरंजक की है। कृष्ण का सम्पूर्ण जादू उनकी रूप-सौन्दर्य के आकर्षण पर टिका है। कृष्ण की लीला में बाँसुरी और रास महत्त्वपूर्ण उपादान हैं। चाँदनी रातों में जमुना के खुले कछारों और वृन्दावन की अंगड़ाइयों में उन्मुक्त रासलीला मनुष्य की आदिम प्रणय आकांक्षा का ही आध्यात्मिक विस्तार है। इसलिए यह कविता प्रणय की उन्मत्तता में सौन्दर्य और राग की एक गुलाबी दुनिया की सृष्टि तो करती है लेकिन वह अपने ही समय के मानवीय जीवन के सुख-दुख से बेखबर भी जान पड़ती है। इस बिन्दु पर राम और कृष्ण काव्य की ये भिन्नताएं सहज ही लक्षित की जा सकती हैं।

काव्य-संगठन के धरातल पर अपने-अपने अन्तर्वस्तु के अनुरूप ही इन दोनों ही धाराओं में भिन्नता है। रामकाव्य का आधार एक कथात्मक इतिवृत्त है जहाँ एक पूरी कथा है और कथ्य में एक समूचा समाज है। स्वभावत: रामकाव्य की संगठन है-शैली प्रबन्धात्मक है। रामकाव्य के सभी कवियों ने प्रबन्ध-शैली को ही अपनी रचना का आधार बनाया है। वस्तुत: प्रबन्ध-शैली जीवन के सामाजिक यथार्थ के प्रति उत्तरदायी होती है अत: यह रामकाव्य के अनुकूल भी है। संगठन के धरातल पर कृष्णकाव्य में मुक्तक शैली को अपनाया गया है। कृष्णकाव्य की अन्तर्वस्तु प्रेम और सौन्दर्य है और यह जीवन का सम्पूर्ण नहीं बल्कि एक आयामी पक्ष है। इसमें भावनाओं का अनन्त अवकाश है और एकात्मिकता इसकी प्रकृति भी है और जरूरत भी। ऐसी अन्तर्वस्तु के लिए मुक्तक-शैली अधिक उपयोगी और अनुकूल होती है। यह स्वाभाविक ही था कि कृष्णकाव्य-परम्परा के कवियों ने मुक्तक काव्य-शैली को ही अपनाया। यद्यपि सूरदास का सूरसागर कृष्ण-जीवन के सन्दर्भ में एक कथात्मक आधार लिये हुए प्रतीत होता है लेकिन उसकी प्रकृति प्रबन्धात्मक न होकर मुक्तक ही है। इसलिए कुछ विद्वानों ने सूरसागर को उन्मुक्तक प्रबन्ध के रूप में संज्ञापित किया है। भाषा के स्तर पर रामकाव्य प्राय: अवधी को अपनी अभिव्यक्ति का माध्यम बनाता है जबकि कृष्णकाव्य की भाषा सर्वत्र ब्रजभाषा ही है। रामकाव्य की तुलना में कृष्णकाव्य की भाषा अधिक परिमार्जित और व्यवस्थित है। तुलसीदास ने और इस परम्परा के अन्य कवियों ने प्राय: दोहा-चौपाई और कवित्त-सवैया छन्दों का प्रयोग किया है जबकि कृष्णकाव्य में सामान्यत: पदों का और कालान्तर में कवित्त-सवैयों का प्रयोग किया गया है। काव्य-सौन्दर्य की दृष्टि से दोनों काव्य-धाराएं हिन्दी साहित्य का शिखर प्रतिमान प्रस्तुत करती हैं। रचना और जीवन के गहरे सम्बन्धों के कारण रामकाव्य समाज के निम्नतम तबके तक

प्रसार पाता है। यह किसी भी रचना की बहुत महत्त्वपूर्ण उपलब्धि हो सकती है। दूसरी तरफ कृष्ण काव्य संगीतात्मक विधानों पर रचित होने के कारण सामान्य जनता से लेकर कला-मर्मज्ञों तक को प्रभावित करती है। इसलिए ये दोनों ही धाराएं काव्य-सौन्दर्य के बिन्दु पर हिन्दी काव्य-परम्परा की अक्षय सम्पत्ति हैं।

समग्रत: राम और कृष्ण काव्यधाराएं अपने स्वरूप और प्रभाव में भिन्नताओं के बावजूद भारत के सांस्कृतिक मन और उसके चरित्र को वहन करती हैं। मानव जीवन के दोनों ही पक्षों में संघर्ष और सौन्दर्य को रचनात्मक स्तर पर प्रतिफलित करने के कारण ये अपने देशकाल का अतिक्रमण करती है और सभ्यता को संघर्ष और सौन्दर्य के मूल्यगत निहितार्थों से परिचित कराती हैं। यह राम और कृष्ण काव्य की भक्ति और सनातनता का आधारभूत प्रमाण हैं।

भक्तिकाव्य का मानवतावादी स्वर

मानवाधिकारों का पूर्व रूप मानवतावादी चेतना है। मानवतावाद, शोषित, दलित और अधिकार वंचित जनता के पक्ष में संघर्ष एवं सहानुभूति की चेतना है। मानवतावादी चिन्तन और कर्म में प्रतिमानवीय शक्तियों की धारदार पहचान और उनके उन्मूलन की प्रतिबद्धता अनिवार्य है। मानवतावाद के आधार पर विवेक और संघर्ष की निरन्तरता के द्वारा न्यायोचित पक्ष की स्थापना का आग्रह होता है इसलिए जड़ता और क्रूरता के विरुद्ध गति और करुणा का सनातन संघर्ष मानवतावाद का स्थायी आधार है। इस परिप्रेक्ष्य में भक्तिकाव्य की मूल चेतना मानवतावादी मूल्यों से प्रेरित और रचित है। इस मानवतावादी चेतना को कुछ बिन्दुओं के अन्तर्गत देखा जा सकता है।

1. मानव-मुक्ति की प्रस्तावना

भक्ति-काव्य मानव-मुक्ति का काव्य है। मुक्ति का वास्तविक अर्थ है जीने का समान अवसर। अधिकारों की समानता के बगैर मुक्ति एवं स्वतन्त्रता भ्रामक एवं छद्म है। भक्ति का अधिकार मनुष्य मात्र को पहली बार भक्ति काव्य में दिया गया है। इसलिए भक्तिकाव्य भक्ति को जनतान्त्रिक चेतना का निर्माण करता है। यह चेतना इतनी उदार है कि मनुष्य ही नहीं अपितु कोई भी प्राणी भक्ति कर सकता है। उदाहरण के लिए, हम रामचरितमानस में जटायु की भक्ति को देख सकते हैं। मुक्तिबोध ने कहा कि मुक्ति व्यक्तिगत नहीं सामूहिक होती है। भक्तिकाव्य में यह पाया जाता है। वस्तुत: मानवतावाद की जो परिकल्पना आधुनिक समाज-चिन्तन में उभर रही है उसकी ठोस चेतना भक्तिकाव्य में प्राप्त होती है। मानवमुक्ति का काव्य

होने के कारण ही चेतना ही मुक्ति, अवसर की समानता, मानवीय जीवन में विराट प्रकृति की सहभागिता और मानवीय एकता का स्वर भक्तिकाव्य में प्राप्त होता है।

2. सामान्यता के प्रति निष्ठा भाव

भक्तिकाव्य अपने मानवतावादी चिन्तन में लोकजीवन की प्रतिष्ठा करते हुए असंख्य सामान्य मनुष्यों की चिन्ता करता है। वस्तुतः भक्तिकाव्य की वास्तविक ऊर्जा का स्रोत सामन्य जीवन ही है। अभिजात्यता की गोद से नहीं बल्कि मनुष्य की सामान्यता की उर्वर भूमि से भक्तिकाव्य की उत्पत्ति हुई है। भक्तिकाव्य का कोई भी बड़ा कवि राजाश्रय को स्वीकार नहीं करता। सुविधाओं, निश्चिन्तताओं, शास्त्र के भीतर से नहीं बल्कि जीवन की सहजता से भक्तिकाव्य का प्रस्फुटन हुआ है। इसलिए विविधतापूर्ण जीवन का सही चित्र भक्तिकाव्य में मिलता है। वस्तुतः भक्तिकाव्य वैविध्य का पूरा सम्मान करता है। वह भूगोल और संस्कृति की विभिन्नताओं का सम्मान करते हुए मनुष्य को एक धरातल पर लाने की चेतना का काव्य है। सामान्यता के प्रति निष्ठा सभी कवियों में दिखायी देती है। सभी कवियों ने लोक परम्पराओं और उसके रीति-रिवाजों की प्रतिष्ठा अपनी कविता में की है।

3. जीवन-मूल्य के रूप में लोकमंगल की स्थापना

मनुष्य का कल्याण मानवतावाद का मूल लक्ष्य है। भक्तिकाव्य की समूची चेतना लोकमंगल की कामना करती है तथा उसके लिए संघर्ष का मार्ग भी अपनाती है। कबीर यह समझते हैं कि वर्ण-व्यवस्था के रहते लोकमंगल की स्थापना सम्भव नहीं है, अतः वे लोकमंगल के लिए वर्ण-व्यवस्था तथा साम्प्रदायिकता का विरोध करते हैं। उनके यहाँ लोकमंगल मनुष्य की एकता पर आधारित है। यह मानवतावादी चिन्ता सैद्धान्तिक चिन्ता नहीं है। सत्य की प्रतिष्ठा के लिए संघर्ष अनिवार्य है। भक्तिकाल का कवि सत्य को जानता भी है तथा उसके लिए संघर्ष भी करता है।

जायसी का प्रेम लोकमंगल का आधार है। सामन्ती व्यवस्था में सम्प्रदाय में बंटे समुदाय को प्रेम के स्तर पर लाना लोकमंगल की व्याख्या के लिए आवश्यक है।

सूर के लोकमंगल में लोकरंजन का तत्त्व प्रधान है। वे संगीत, नृत्य तथा प्रेम के द्वारा समय की विसंगतियों का सामना करते हैं। उनके यहाँ स्वच्छन्दता लोकमंगल का आधार है। अतः किसी प्रकार के भी बन्धन की अस्वीकृति उनके यहां है।

तुलसीदास के लिए लोकमंगल का अर्थ मर्यादा की स्थापना है। वे मर्यादित समाज (रामराज्य) की स्थापना के द्वारा लोकमंगल की स्थापना करते हैं। इसके माध्यम से वे प्रतिमानवीय शक्तियों से संघर्ष कर उन्हें परास्त करते हैं। तुलसीदास

की लोकमंगल की धारणा अधिक ठोस, तार्किक तथा राजनीतिक चेतना से अनुप्राणित है। इस प्रकार लोकमंगल की परिस्थितियों का निर्माण भक्तिकाव्य की मुख्य चुनौतियों में से एक है और इस बिन्दु पर वह मानवतावादी काव्य है।

4. सामन्ती जीवन-मूल्यों से मानवीय विवेक की मुठभेड़

भक्तिकाव्य मूलत: प्रतिपक्ष का काव्य है। वह अपने समय की सम्पूर्ण सत्ता-संरचना के खिलाफ है। वह सामाजिक स्तर पर ब्राह्मणवाद, राजनीतिक स्तर पर सामन्तवाद तथा धार्मिक स्तर पर पुरोहितवाद का विरोध करता है। वस्तुत: सामन्ती शक्तियों तथा सामन्ती सामाजिक-संरचना से असन्तुष्टि पूरे भक्तिकाव्य में है तथा उसमें इस पर प्रहार किया गया है।

भक्तिकाल की सामाजिक संरचना वर्ण-व्यवस्थावादी है। मनुष्य की श्रेष्ठता का निर्धारण जन्म से आधार पर होता है। भक्तिकाव्य इसे अस्वीकृत कर वर्ण-व्यवस्था को तोड़ने का प्रयास करता है। निर्गुण कवियों द्वारा इस पर सबसे ज्यादा प्रहार किया गया है। सामन्ती जीवन में स्त्री की पराधीनता को मीरा द्वारा समाज एवं रचना के स्तर पर चुनौती दी गई है।

भोगवादी सामन्ती जीवन-दृष्टि के विरुद्ध भक्तिकाव्य चेतावनी का काव्य है।

5. करुणा एवं आत्मविसर्जन की प्रस्तावना

मानवीय सार्थकता के रूप में करुणा एवं आत्मविसर्जन की प्रस्तावना भक्तिकाव्य की मानववादी चेतना का महत्त्वपूर्ण अभिलक्षण है। करुणा के आधार पर ही मनुष्य को जोड़ा जा सकता है। इसलिए भक्तिकाव्य के नायक करुणावान हैं। अवतारवाद की पूरी परिकल्पना करुणामय है। तुलसी के राम करुणमय हैं। इसलिए वे अन्याय के विरुद्ध हैं। करुणा को प्रस्तावित कर भक्तिकाव्य पाठक की चेतना में करुणा को उद्वेलित करता है।

भक्तिकाव्य में आत्मविसर्जन को अनिवार्य माना गया है। वह अहंकार का विसर्जन करती है। अहंकार हिंसा, क्षुद्रता एवं क्रूरता को उत्पन्न करता है। मनुष्य की एकता आत्मविसर्जन के बगैर सम्भव नहीं है।

6. लोकभाषा की प्रतिष्ठा

पूरे भक्तिकाव्य की चिन्ता नया मनुष्य तथ समाज बनाने की चिंता है। यह चिन्ता भाषा से भी जुड़ी हुई है। भाषा कई बार वर्चस्व, सत्ता तथा शासन का माध्यम भी बनती है। अत: कई बार भाषा अभिजात्यता की शर्त से जुड़ जाती है। मध्यकाल में संस्कृत ऐसी ही भाषा है। भक्तिकाव्य अभिजात्यता के दुर्निवार आग्रह को चुनौती

देता है। संस्कृत के आतंक का प्रतिरोध भक्तिकाव्य में सायास दिखता है।

कबीर का कथन है–''संसकिरत है कूप जल, भाषा बहता नीर।' भक्त कवि लोकभाषा को रचना की भाषा बनाता है। लोकभाषा की वापसी आधुनिक मानवतावादी चेतना की भी चिन्ता है।

भक्तिकाव्य : सांस्कृतिक चेतना

मूलतः संस्कृति का प्रश्न जीवन–सृष्टि एवं मूल्य दोनों का प्रश्न है। भारतीय जीवन–दर्शन अपरिग्रह के सिद्धान्त पर आधारित है। अपरिग्रह आन्तरिक स्वाधीनता के लिए अनिवार्य है।

भक्तिकाव्य भारत की सम्पूर्ण सांस्कृतिक धारा को पुनर्गठित करता है। भक्तिकाव्य की व्यापकता एवं अखिल भारतीय प्रसार का एक कारण उसकी सांस्कृतिक चेतना है। भक्तिकाव्य भारतीय संस्कृति के अतीत की स्मृति है। प्रत्येक भक्तिकालीन कवि परम्परा से ग्रहण करता है लेकिन उसमें अपने समय के समाज तथा संस्कृति की समग्र चेतना भी है, साथ ही भविष्य की गहरी चिन्ता भी। वस्तुतः संस्कृति, स्मृति, वर्तमान तथा भविष्य की समग्र चिन्ता है। भविष्य की चिन्ता नहीं हो तो पूरा संघ अंधा हो जाता है। अतः काल की बहुआयामिता संस्कृति का मूलाधार है। भक्तिकाव्य भी अतीत की स्मृति, वर्तमान की समाज चेतना और भविष्य की अन्तदृष्टि से युक्त है। भक्तिकाव्य की सांस्कृतिक चेतना को निम्नांकित बिन्दुओं के अन्तर्गत देखा जा सकता है–

1. सामाजिक समरसता की चेतना

भक्तिकाव्य में समाज में व्याप्त अनेक प्रकार की विषमताओं का समाहार है। समरसता हमारी सांस्कृतिक अस्मिता की बुनियादी जरूरत है। यह तब तक प्राप्त नहीं हो सकती है जब तक जीने का समान अवसर न मिले। भक्तिकाव्य में इसके प्रति एक गम्भीर चिन्ता दिखाई देती है–

> *''एक दुखी एक अत सुखी एक भूप एक रंक,*
> *एकन को विद्या बड़ी एक पढ़े नहीं अंक।*
> *एकन को मेवा मिले एक चना भी नाहिं*
> *कारण कौन बताइये कर चरनन की छाँहिं।।*
>
> – चरणदास

इसलिए भारतीय संस्कृति की मूल चेतना 'सर्वे भविन्त सुखिनः' भक्तिकाव्य में सबसे अधिक मानवीय प्रश्न है। भारतीय संस्कृति की समरसता की इस चेतना का आधार समानता की चेतना है।

2. अन्याय का प्रतिकार

संस्कृति अगर मनुष्य होने की शर्त है तब यह न्याय की चेतना का पक्ष भी है। भक्तिकाव्य की सांस्कृतिक चेतना का एक पक्ष अपने समय के प्रत्येक तरह के अन्याय का प्रतिकार करना है। भक्तिकाव्य स्वीकृति का नहीं, असहमति का काव्य है। भक्ति कविता चेतनता के बिन्दु पर अन्याय का प्रतिकार करती है। मध्यकाल के घने अंधेरे में भक्तिकाव्य की भूमिका एक जलते हुए दीप की तरह है। भक्तिकाव्य अन्याय के बिन्दुओं की पहचान कर उसका प्रतिकार भी करती है। कबीर के यहां अन्याय की गहरी पहचान मौजूद है। न्याय, अन्याय का प्रश्न औचित्य एवं अनौचित्य एवं ज्ञान तथा अज्ञान के फर्क का प्रश्न है। पूरा भक्तिकाव्य औचित्य की खोज का काव्य है। जीवन के उचित सन्दर्भों की खोज भक्तिकाव्य की वास्तविक चिन्ता है। भोगवाद के प्रतिकार की मूल चेतना मानवीय एवं सांस्कृतिक है। वर्ण-व्यवस्था, नारी की स्थिति, धर्म के पाखंडी रूप का अस्वीकार वहाँ है। निर्भयता की चेतना भी इसी से जुड़ी हुई चीज है। अन्याय के प्रतिकार की चेतना निर्भयता की चेतना से ही उत्पन्न हुई है।

3. अहिंसा और करुणा की प्रस्तावना

भक्तिकाव्य की सांस्कृतिक चेतना अहिंसा पर आधारित है। अहिंसा प्रकारान्तर से सहन शक्ति तथा समझदारी के विकास पर आधारित है। अहिंसा जीवन जीने की एक पद्धति है जिसमें सभी स्वतन्त्र व निर्भय होकर जीवनयापन कर सकें। तुलसी व कबीर के यहाँ इसकी चिन्ता विद्यमान है–''दिन में रोजा रखत हौ, रात हनत हौ गाय।'

4. क्षुद्रता का अतिक्रमण

भक्तिकाव्य हर तरह की संकीर्णता का विरोध करता है। उदारता का लक्षण समन्वय भावना है। भारतीय परंपरा तथा इतिहास की अनेक धाराएं इसमें समाहित हैं। निर्गुण तथा सगुण के बीच संवाद की स्थिति इसका उदाहरण है। भक्ति कविता विचारधारा के स्तर पर सांस्थानिकता का विरोध करती है। संस्थानों से पन्थों एवं मठों का निर्माण होता है जो मनुष्य तथा समाज विरोधी होते हैं। आधुनिक काल के चिन्तन पर भी इसका प्रभाव है। मनुष्य के मानसिक क्षितिज का विस्तार भक्तिकाव्य की सांस्कृतिक चेतना में दिखाई देता है। मनुष्य की सामाजिकता एवं चिन्तन का विस्तार इसकी मूल चिन्ता में शामिल है। वस्तुतः मनुष्य को समष्टि की ओर ले जाने का प्रयास पूरी भक्ति कविता का एक मुख्य विषय है। समष्टि की यह चिन्ता विराटता एवं सार्थकता को जन्म देती है।

5. आत्मसंयम तथा सदाचार पर बल

भक्तिकाव्य धर्म को आचरण से जोड़कर देखता है। धर्म महज विश्वास या दृष्टिकोण नहीं, बल्कि जीवन की वास्तविकता तथा जीने की पद्धति है। भक्तिकाव्य सदाचार एवं सादगी पर बल देता है। सदाचार वह है जिसमें जीवन के सच का निर्वाह हो। सादगी सीमित और जरूरी जरूरतों के भीतर जीवन-निर्वाह है। किसी भी मानवीय संस्कृति की श्रेष्ठता इस बात पर निर्भर करती है कि वह सदाचार तथा सादगी के प्रति कितना समर्पित है। पूरी भक्ति कविता भौतिकता का तिरस्कार व सादगी तथा सदाचर के स्वीकार बल देती है। इसी कारण वह भौतिक तत्त्वों की नश्वरता को रेखांकित करती है। कबीर कहते हैं :

रहना नहीं देश वीराना है।

....

'साईं इतना दीजिए जामै कुटुम्ब समाय
मैं भी भूखा ना रहूँ साधु न भूखा जाय।।'

6. समन्वयात्मक जीवन-दृष्टि

समूचा भक्तिकाव्य समन्वय की चेतना का विराट काव्य है। यह परस्पर विरोधी प्रवृत्तियों एवं दृष्टियों के समाहार का काव्य है। समन्वयशीलता सहनशीलता को जन्म देती है। यह सामाजिक सन्तुलन का काम करती है तथा विविधता को आदर देती है। इस तरह यह उदार सामाजिकता की स्थापना करती है। भक्ति कविता में अद्भुत समन्वयशीलता के दर्शन होते हैं। इसके सबसे बड़े कवि तुलसीदास हैं। उनके रामराज्य का सपना समन्वय पर आधारित समाज का सपना है। इसीलिए यह गांधी का स्वप्न भी है। आधुनिक भारत के संविधान में भी इस समन्वय पर बल है। मूल्य के स्तर पर हिन्दुस्तान का आधार वही समन्वय का स्वप्न है जो भक्त कवियों ने देखा था।

7. लोक-कल्याण की चेतना

लोक-कल्याण मनुष्य के सुसंस्कृत होने के मूल आधारों में से एक है। आधुनिक सांस्कृतिक चिन्तन में लोक-कल्याण का दर्शन शामिल है। भक्तिकाव्य में सगुण पन्थ में अवतारवाद की संकल्पना लोक-कल्याण से ही संचालित है। निर्गुणवाद में लोक कल्याण की यह प्रवृत्ति समतामूलक समाज के स्वप्न में है।

भक्तिकाल का रीतिकाल में रूपान्तरण

भक्ति-काव्य के अवसान के कुछ कारणों की तलाश की जा सकती है। भक्ति-आन्दोलन सामन्तवाद की बढ़ती हुई शक्ति और उसके प्रभावों की भेंट चढ़ा। यह प्रभाव था – भोग-विलास और शृंगारिकता। भक्ति काव्य में शृंगार का तत्त्व पहले ही बहुत प्रबल था।

उस शृंगार के केन्द्र में ईश्वर था। कालान्तर में शृंगार या प्रेम भोगपरक होता गया और भक्ति के आध्यात्मिक प्रसंगों और अनुभवों को हटाकर जीवन और कविता की मूल वस्तु बन गया। मार्क्सवाद के एक बहुत संवेदशील विचारक मुक्तिबोध ने भक्ति काव्य के अवसान के कारणों की बहुत विस्तार से चर्चा की है। उन्होंने कहा कि भक्ति आन्दोलन निम्न वर्णों के द्वारा शुरू हुआ था। कालान्तर में इस भक्ति आन्दोलन का सवर्णों द्वारा अपहरण किया गया। सवर्णों के द्वारा अपरहण कर लिए जाने के कारण भक्ति आन्दोलन की ऊर्जा और उसकी मानवीय दिशा दिग्भ्रमित हो गई।

एक अन्य कारण यह कहा जा सकता है कि किसी भी आन्दोलन या जीवन-दृष्टि की एक उम्र होती है। यह इतिहास की नियतिवादी व्याख्या है। स्पैंगलर ने 'डिक्लाइन आफ द वैस्ट' में कहा है कि आन्दोलन, संस्कृति और सभ्यता लहर की तरह होते हैं। एक लहर अपनी समूची ऊंचाई प्राप्त करने के बाद ढल जाती है, फिर दूसरी लहर आती है। यह क्रम चलता रहता है। इतिहास लहरों का क्रम है। अतः यह कहा जा सकता है कि जिन मूल्यों को लेकर भक्ति काव्य की लहर उठी उसने अपनी भूमिका निभाने के बाद इतिहास की दूसरी शक्ति को स्थान दिया। धीरे-धीरे भक्तिकाल के अंतिम दिनों में शृंगारिकता प्रबल हुई और मर्यादा पुरुषोत्तम राम की कथा में भी रसिकता का प्रवेश हुआ। इसलिए संघर्ष का रास्ता छोड़कर राम भी अनेक प्रकार की शृंगारिक गतिविधियों में संलिप्त दिखाये गए।

रीति का अभिप्राय

भारतीय काव्यशास्त्र में रीति एक सम्प्रदाय है जिसके संस्थापक नवीं शताब्दी के आचार्य वामन हैं। वामन ने रीति शब्द का अर्थ स्पष्ट करते हुए कहा कि रीति 'विशिष्ट पद-रचना' है। पद का अर्थ यहाँ कविता नहीं है। वाक्य में प्रयुक्त शब्द को पद कहते हैं। शब्द और पद में व्याकरण की दृष्टि से यह फर्क है कि शब्द जब स्वतन्त्र रहता है तब उसे शब्द कहेंगे लेकिन जैसे ही वह वाक्य के भीतर आयेगा और व्याकरण की नियति से अनुशासित होने लगेगा वैसे ही वह पद बन जाएगा।

अपने ग्रन्थ 'काव्यालंकार-सूत्र' में वामन ने दो अत्यन्त चर्चित स्थापनाएं दीं, पहली '**रीतिरात्माकाव्यस्य**' अर्थात् रीति काव्य की आत्मा है। दूसरी, विशिष्ट पद-रचना रीति है। इस प्रकार रीति सम्प्रदाय की स्थापना के द्वारा वामन ने कविता की सार्थकता और कविता की अर्थवत्ता के केन्द्र में उसे स्थापित किया, लेकिन वामन से पूर्व रीति शब्द का प्रयोग विभिन्न अर्थों में होता था। जैसे धारा, गति, परम्परा, प्रवृत्ति आदि अर्थों में।

हिन्दी काव्यशास्त्रीय आचार्यों ने रीति का प्रयोग मार्ग के सन्दर्भ में किया है। इन आचार्यों में भामह, दण्डी, कुन्तक और भोज का नाम मुख्य है। मम्मट और विश्वनाथ ने रीति का अर्थ किया काव्य-संघटन।

सारांशतः यह कहा जा सकता है कि रीति अभिव्यक्ति की एक विशिष्ट प्रणाली है जो अनुभव की गति के स्थान पर पद्धति की व्यवस्था को महत्त्व देती है। अगर हम भक्ति काव्य के सन्दर्भ में देखें तो भक्ति काव्य कविता की पद्धति के प्रति नहीं बल्कि कवि के अनुभव के प्रति उत्तरदायी है, जबकि रीतिकाल की कविता पद्धति को महत्त्व देती है। मानवीय अनुभव से निरपेक्ष रहकर रीतिकालीन कवियों ने कविता को साहित्य के रूप में नहीं बल्कि कला के रूप में विकसित किया।

रीतिकाल की काव्य-धाराएं

रीतिकाल के काव्य को तीन धाराओं में रखा गया है। पहली धारा है रीतिबद्ध, दूसरी है रीतिसिद्ध और तीसरी है रीतिमुक्त अथवा रीति स्वच्छन्द।

रीतिबद्ध कविता शास्त्र का उल्लेख भी करती है और शास्त्र के अनुसार काव्य की रचना भी। लक्षण-लक्ष्य ग्रन्थ की परम्परा का सूत्रपात रीतिबद्ध काव्यधारा में होता है। जैसे नायिका-भेद में कामशास्त्र में जिन नायिकाओं की चर्चा की गई है, रीतिबद्ध कवि पहले उसे परिभाषित करेगा फिर उन शर्तों के उदाहरण और प्रमाण के लिए कविता की रचना भी करेगा। रीतिबद्ध कवि कवि भी हैं और आचार्य भी हैं। आचार्य के रूप में वे शास्त्र के ज्ञाता हैं और कवि के रूप में कविता के रचयिता।

शास्त्रीयता और काव्यात्मकता का एक अपूर्व संगम रीतिबद्ध काव्यधारा में दिखाई देता है।

इस धारा के महत्त्वपूर्ण कवियों में **केशवदास, चिन्तामणि, भिखारीदास, मतिराम, देव और पद्माकर** का नाम आदर के साथ लिया जाता है। दूसरी धारा है रीतिसिद्ध।

रीतिसिद्ध वह काव्यधारा है जिसकी रचना में नियमों का अलग से उल्लेख नहीं होता बल्कि जहाँ नियम उदाहरण में ही समाये हुए होते हैं। इसलिए रीति को जहाँ सिद्ध कर लिया गया है उसे रीतिसिद्ध कहा जाता है। इस धारा के शिखर कवि हैं **बिहारी**।

तीसरी धारा है **रीतिमुक्त काव्यधारा** या रीति स्वच्छन्द काव्यधारा। रीतिबद्ध और रीतिसिद्ध कवियों की काव्य रचना का मूल स्रोत शास्त्र है। रीतिमुक्त अथवा रीति स्वच्छन्द धारा के कवियों की कविता के स्रोत हैं अनुभव। स्रोत का केन्द्र बदल जाने के कारण कविता की प्रकृति बदल जाती है। रीतिमुक्त इसलिए कहा गया कि स्रोत के स्तर पर रीतिमुक्त कविता अपने क्षेत्र को अलग कर लेती है। रीतिमुक्त कवियों ने बेहद प्रखरता और आक्रामकता के साथ रीतिबद्ध और सिद्ध दोनों कवियों पर आरोप लगाया कि इन लोगों ने कविता को खिलवाड़ के रूप में परिवर्तित कर दिया है। कविता खिलवाड़ नहीं है बल्कि वह एक गम्भीर जवाबदेही है, वह आदमी की परिस्थितियों और कला के बीच एक रिश्ता है। शब्द को एक मदारी की तरह नहीं बल्कि प्रामाणिक और दायित्वशील मनुष्य की तरह कवि धारण करता है। रीतिमुक्त कवियों ने कवि–कर्म के प्रति एक बेहद गम्भीर रुख अपनाया।

रीतिबद्धता औ रीतिसिद्धता से मुक्त होने के बावजूद भी इन्हें रीतिकाल में ही रखा गया। इसके तीन कारण हैं। पहला कारण यह है कि रीतिस्वच्छन्द कवियों का मूल विषय भी शृंगार है। अतः कविता की अन्तर्वस्तु वही है जो रीतिबद्ध और रीतिसिद्ध कवियों की है। दूसरा, संगठन के स्तर पर कोई परिवर्तन नहीं है। इन्होंने भी ब्रजभाषा का ही प्रयोग किया है। इसलिए कविता की अन्तर्वस्तु, कविता की बनावट और कविता की भाषा के स्तर पर समानता के कारण रीतिमुक्त कवियों को रीतिकाल का ही एक हिस्सा माना गया है। लेकिन मुक्त इसलिए हैं क्योंकि वे उस ढांचे को अस्वीकार कर देते हैं जिसे ढांचे को रीतिबद्ध और रीतिसिद्ध कवियों के द्वारा अन्तिम और प्रामाणिक मान लिया गया था।

रीतिकाल का पहला कवि

रीतिकाल के पहले कवि को लेकर विवाद है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल 'हिन्दी

साहित्य का इतिहास' में रीतिकाल का प्रकरण इसी विवाद से शुरू करते हैं। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के अनुसार कालक्रम की दृष्टि से केशवदास वरिष्ठ हैं लेकिन वे केशवदास को रीतिकाल के प्रवर्तन का श्रेय नहीं देते। उनकी मान्यता है कि रीतिकाव्य की शुरुआत चिन्तामणि से होती है। उन्होंने कारण यह बताया कि केशवदास और चिन्तामणि के बीच में लगभग 60-65 वर्षों का अन्तराल है। केशवदास में रीतिकाव्य के पर्याप्त तत्त्व तो हैं लेकिन उनसे कोई परंपरा नहीं फूटती। जिस कवि से रीति परम्परा का सीधा रिश्ता जुड़ता है वे चिन्तामणि हैं। इसलिए अखंड परम्परा चलाने की दृष्टि के आधार पर आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने चिन्तामणि को, जिनका समय 1643 ई० के आस-पास है, रीतिकाल का प्रवर्तक कहा है। केशव का समय 1555 से 1617 के बीच में है।

लेकिन आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की स्थापना से असहमति व्यक्त की गई है और केशव को ही रीतिकाल का प्रवर्तक कवि अनेक तर्कों के आधार पर माना गया है। कई काव्यशास्त्रीय पक्षों और प्रबन्ध तथा मुक्तक शैलियों का प्रतिनिधित्व करने के कारण तथा भक्ति से कविता को रीति में रूपान्तरित करने के आधार पर अधिकतर शुक्लोत्तर विद्वानों ने रीतिकाल के प्रवर्तन का श्रेय केशवदास को दिया है। केशव वह कवि हैं जो हिन्दी कविता को दरबार में ले गये। इनसे पहले कोई दरबारी कवि नहीं है। इसलिए कविता को दरबार से जोड़ने, कविता में रीतिबद्धता पैदा करने और रीतिकाल की जितनी महत्त्वपूर्ण प्रवृत्तियां हो सकती हैं उन सभी का प्रतिनिधित्व करने के कारण कालान्तर में स्वीकृति यह है कि केशवदास रीतिकाल के प्रवर्तक कवि हैं।

रीतिकाव्य की विशेषताएं

हिन्दी कविता की विकास प्रक्रिया में सत्रहवीं शताब्दी के मध्य तक आते--आते भक्ति का आवेश कम होने लगा और धीरे-धीरे देह और जगत का निषेध करने वाली तथा सामाजिक मर्यादा को वहन करने वाली महान भक्ति काव्यधारा के बाद कविता देह और काम की दुनिया में चली गई। विद्वानों ने इस काव्यधारा को सामान्यत: रीतिकाल की संज्ञा दी है। शास्त्र और राज दरबार के दबाव में रची जाने वाली इस रीतिकाल की निम्नांकित विशेषताएं लक्षित होती हैं–

1. काव्यतत्त्व और आचार्यत्व का मिश्रण

शास्त्र और रचना में एक समानान्तर पार्थक्य रहा। लेकिन रीतिकाल में शास्त्रीयता और रचनात्मकता का यह समानान्तर पार्थक्य खत्म हो जाता है और कविता और

शास्त्र एक ही व्यक्ति में अन्तर्भूत हो जाते हैं। केशवदास, चिन्तामणि, भिखारीदास और पद्माकर जैसे रचनाकारों की मूल चिन्ता संस्कृत काव्यशास्त्र के नियमों के आधार पर रचना करना और उस शास्त्र को लोकभाषा में रूपान्तरित करना है। इसलिए इन कवियों को आचार्य कवि भी कहा गया है।

इस विशेषता का एक उदारहण द्रष्टव्य है। भारतीय काव्यशास्त्र में शृंगार को रसराज कहा गया है। देव की उक्ति है–

'रसनि ससार सिंगार रस प्रेम सार सिंगार।'

रीतिकाल में शास्त्र और रचनात्मकता का अपूर्व अन्तर्लयन दिखाई देता है। आचार्य शुक्ल और आचार्य द्विवेदी जैसे विद्वानों की धारणा है कि ये मूलतः रचनाधर्मी थे। आचार्यत्व उनके समय और आजीविका की मांग से उत्पन्न हुआ था। इसमें सन्देह नहीं कि उन्होंने संस्कृत काव्यशास्त्र की परम्परा को लोकभाषा में रूपान्तरित किया लेकिन उनका योगदान उनकी रचनात्मक कृतियां ही हैं।

2. अन्तर्वस्तु के रूप में शृंगार का चयन

शृंगारिकता रीतिकाल की केन्द्रीय धारा है। शृंगारिकता की यह चेतना रीतिकाल में सामन्ती परिवेश और शास्त्र द्वारा समर्थित है। शृंगार के अन्तर्गत रीति कवियों ने प्रेम के अनेक रूपों, हाव-भावों एवं चेष्टाओं का वर्णन किया है। रीतिकाल की शृंगारिकता में कामशास्त्र, नायिका-भेद और गार्हस्थिक सम्बन्धों की दिनचर्या का फुलाव है। शृंगार के दोनों ही पक्षों की विस्तृत चर्चा कविता और शास्त्र को मिलाकर रीति कवियों ने की है।

संयोग के अन्तर्गत मिलन के नाना चित्रों एवं अनुभवों के साथ इन कवियों ने काव्यशास्त्र में वर्णित विरह के सभी प्रकारों का निर्वाह भी अपनी कविता में किया है।

3. आलंकारिता के प्रति अत्यधिक सजगता

रीतिकाल में कविता कवि का लक्ष्य हो गई क्योंकि वह इस काल में रचनाकार की आजीविका का आधार बनी। सामन्ती बाजार तन्त्र में कविता एक वस्तु के रूप में परिणत हुई। इसलिए कविता की अन्तर्वस्तु की तुलना में उसका रूप महत्त्वपूर्ण हो गया। रूप का सीधा सम्बन्ध अलंकृति से है, इसलिए कवियों ने अलंकार को कविता के शोभाकारक धर्म के रूप में नहीं बल्कि उसमें चमत्कार और चकाचौंध उत्पन्न करने के लिए अपनाना।

यद्यपि रीतिकाल में शब्दालंकारों के प्रति अत्यधिक मोह दिखाई पड़ता है लेकिन अर्थालंकारों के प्रति भी इनकी आसक्ति कम नहीं है। बिहारी का निम्नांकित

दोहा श्लेष का उपयुक्त उदाहरण है–

> कनक-कनक ते सौगुनी मादकता अधिकाय।
> ऐहि पाय बौराय जग, उहि खाय बौराय।।

वस्तुतः अलंकरण रीतिकाव्य की एक शक्ति भी है और सीमा भी। जहाँ भी कवि ने अलंकारों के माध्यम से कविता में गति और चित्र उत्पन्न करने की कोशिश की है वहाँ कविता का प्रभाव बढ़ा है, लेकिन भावपूर्ण प्रसंगों में अलंकारों के अनावश्यक प्रयोग से कविता की प्रभावान्विति क्षतिग्रस्त भी हुई है।

4. चित्रात्मकता और नाद सौन्दर्य

सामाजिकता और कविता के रिश्ते को लेकर रीतिकाव्य आधुनिक हिन्दी आलोचना का कोप पात्र रहा है, लेकिन प्रायः सभी आलोचकों ने उनकी चित्रात्मकता के महत्त्व को स्वीकर किया है। चित्रात्मकता रीतिकाव्य की अनेक सीमाओं के बीच एक ऐसी शक्ति है जो उसे समाज और उसकी रुचियों में परिवर्तन के बावजूद उसके वजूद को जीवित रखती है। रीतिकाव्य में सिर्फ दृश्य-बिम्बों की ही नहीं बल्कि ध्वनि और घ्राण बिम्बों की भी अद्‌भुत सृष्टि की गई है। उदाहरणार्थ –

> 'छाजति छबीली छिति छहर-छरा को छोड़
> भोर उठि आनी केलि मंदिर के द्वार पर।
> एक पग भीतर सो एक दोहरी पर धरै।
> एक करकंज एक कर है किवार पर।।

5. प्रकृति-चित्रण

रीतिकवियों का प्रकृति-चित्रण सामान्यतः उद्दीपन विभाव के रूप में ही हुआ। बादल, चाँदनी, मलय-समीर, नदी और वसन्त जैसे प्राकृतिक उपादानों को रीति कवियों ने अपना विषय बनाया है। रीतिकाव्य में प्रकृति सामान्यतः प्रेम-व्यापारों के प्रसंग में ही चित्रित की गई है, इसलिए अपवादों को छोड़कर इन कविताओं में प्रकृति का स्वतन्त्र व्यक्तित्व विलुप्त हो गया है।

6. भाव-सौंदर्य के प्रसंगों की मार्मिक पहचान

यह सामान्य धारणा रही है कि रीतिकालीन कवि अभिव्यक्ति के चमत्कार में ही अपनी सम्पूर्ण ऊर्जा का प्रयोग करता है और इस प्रक्रिया में अनूभूति की मार्मिकता उसकी दृष्टि से ओझल हो जाती है। लेकिन सम्पूर्ण रीतिकाव्य के अध्ययन से प्रतीत होता है कि यह धारणा एकांगी है। शास्त्र और परम्परा का अनुपालन करते हुए भी

इन कवियों ने अपने काव्य में अनुभव की मार्मिकता को कलात्मक उत्कृष्टता के आविष्टन में व्यक्त किया। विरह, सौन्दर्य या मिलन के अनेक ऐसे प्रसंग हैं, जो इस काल के कवि की सहृदयता एवं अनुभूतिशीलता का ठोस प्रमाण देते हैं।

7. प्रेमानुभूति की मांसलता

प्रेम रीतिकाव्य का केन्द्रीय विषय है। लेकिन सामन्ती वातावरण के दबाव और रुचियों के कारण इन कवियों ने प्रेम के नितान्त दैहिक और उत्तेजक प्रसंगों एवं चित्रों को ही अपनी कविता में व्यक्त किया। आचार्य द्विवेदी की यह धारणा उचित प्रतीत होती है – ''यह प्रेम शुरू से अन्त तक महत्त्वाकांक्षा से शून्य, सामाजिक मंगल के मनोभावों से प्राय: अस्पष्ट, पिंड-नारी के आकर्षण से हततेज और स्थूल प्रेम-व्यंजना से परिलक्षित है।''

8. शृंगार और भक्ति का गठजोड़

रीतिकाव्य, भक्तिकाव्य का उत्तराधिकारी है, इसलिए अनिवार्यत: उसमें भक्ति के तत्त्व विद्यमान हैं। शृंगार रीतिकाव्य का मुख्य उपजीव्य है लेकिन उसके साथ-साथ इस काल के कवियों ने राधा-कृष्ण के बहाने अपनी भक्ति-भावना को भी स्थान दिया है। विद्वानों की धारणा है कि भक्ति रीतिकवियों का बहाना है। रीति कवि भक्ति-भावना को गम्भीर, प्रगाढ़ और आन्तरिक रूप से अपनाने में समर्थ नहीं हो सका है।

9. वीरता और राज प्रशस्ति तथा नीति

रीतिकाव्य के कुछ कवियों ने अपने आश्रयदाता की वीरता का भी प्रभावपूर्ण अंकन किया है। भूषण इस वीरगाथात्मक परम्परा के मूर्धन्य कवि हैं। भूषण का 'शिवराज भूषण' और पद्माकर का 'हिम्मतबहादुर विरुदावली' रीतिकाव्य परम्परा में वीर-भावना की अभिव्यक्ति की महत्त्वपूर्ण रचनाएं हैं। इस दृष्टि से भूषण की निम्नांकित पंक्तियां उल्लेखनीय हैं–

'इंद्र जिमि जंभ पर बाड़व सुअंभ पर।
त्यों मलेच्छ वंश पर सेर सिवराज है।'

किन्तु वीरता रीतिकाल के कवि की एक आर्थिक जरूरत है क्योंकि इसके चित्रण के द्वारा कवि न सिर्फ अपने आश्रयदाता को प्रसन्न करता है बल्कि वह अपनी रचना के द्वारा अपार धन को भी प्राप्त करता है।

वीरता के साथ इस काल में कुछ कवियों ने नीति सम्बन्धी रचनाएं भी कीं।

रहीम और वृन्द ये दो महत्त्वपूर्ण कवि सही मायनों में नीतिकाव्य के समर्थ रचनाकार हैं क्योंकि इनके नीति-वचनों में जीवन का गहरा अनुभव समाहित है। इस सन्दर्भ में रहीम का यह दोहा द्रष्टव्य है–

'रहिमन चुप है बैठिए जान दिनन के फेर।
जब अच्छे दिन आएंगे, बनत न लगिहें देर।।

10. काव्य-संगठन

रीतिकाल की कविता आधुनिक आलोचना की शब्दावली में शुद्ध कलात्मक कविता है इसलिए इस कविता में कलात्मक कसाव और अभिव्यक्ति की लाघवता का अपूर्व मेल है। आधुनिक चिन्तक-आलोचक विजयदेव नारायण साही की यह धारणा विचारणीय है कि 'रीतिकाल' की कविता आज के पाठकों को चाहे कुछ न दे लेकिन वह आज के रचनाकारों को कहने के सलीके का ज्ञान और संस्कार दे सकती है।'

रीतिकाव्य की भाषा में ब्रजभाषा के अतिरिक्त अरबी, फारसी और देशज शब्दों का भी भरपूर इस्तेमाल हुआ है। उस समय दरबारों की शिष्ट भाषा में अरबी, फारसी के शब्दों का प्रचलन बढ़ गया था और यह स्वाभाविक ही है कि ये कवि अपने परिवेश में प्रचलित भाषा का प्रयोग अपने काव्य में करें।

नाद और चित्र रीतिकालीन भाषा की महत्त्वपूर्ण विशेषता है जो इस कविता को सहज ग्राह्य और लोकप्रिय बनाती है।

काव्य-शैली के रूप में इन कवियों ने मुक्तक को ही अपनाया है। दोहा, सवैया और कवित्त इस काल के प्रधान छन्द हैं तथा गौण रूप से रोला, सोरठा, बरवै और छप्पय आदि का भी प्रयोग हुआ है। सवैया रीतिकाल का मधुरतम छन्द है। देव, मतिराम, पद्माकर इत्यादि कवियों ने सवैयों में वर्णनात्मकता और नीतितत्त्व दोनों का सुन्दर समावेश किया है।

रीतिकाव्य हिन्दी काव्य-परम्परा का एक स्वाभाविक चरण है। भक्ति आन्दोलन से उपजे महान भक्ति काव्य के उतार पर इस कविता का उन्मेष हुआ था। यह कविता भक्तिकाल के क्रोड में क्षयग्रस्त सामन्ती रसिकता के बीज का ही पल्लवन है। निष्क्रिय और निश्चिन्त सामन्ती परिवेश के चन्दन-परिवेश में उगने वाली यह कविता देह-उत्सवों एवं रूपासक्ति के जादू से अभिमन्त्रित है। अपनी सीमित विषय-वस्तु एवं तत्कालीन समाज एवं इतिहास के प्रति उदासीनता के कारण आधुनिक हिन्दी आलोचना में इस कविता का घोर तिरस्कार हुआ। द्विवेदी युग की नैतिक दृष्टि ने इस कविता को फूहड़ता और अश्लीलता के खाते में डाला और

प्रगतिशील आलोचना ने इसे बुर्जुवा-संस्कृति की बीमार रचना के रूप में परिभाषित कर इस पर प्रतिक्रियावादी होने का लांछन लगाया। यह सच है कि रीतिकाल की कविता एक विराट स्वप्न और लोकमंगल की साधना से कटी हुई कविता है लेकिन इसमें सन्देह नहीं कि इस कविता ने हिन्दी काव्य-परम्परा को अभिव्यक्ति का एक पुष्ट आधार दिया और शृंगार के प्रसंग में सौन्दर्य मनभावन प्रसंगों की भरपूर उद्भावना की। इस दृष्टि से अपनी तमाम सीमाओं के बावजूद यह कविता हिन्दी काव्यधारा में जगह पाने का हक रखती है। किन्हीं निश्चित प्रतिमानों के आधार पर इस सम्पूर्ण काव्य को किसी लावारिस खाते में नहीं डाला जा सकता।

रीतिमुक्त काव्य की विशेषताएं

रीतिमुक्त काव्यधारा रीतिकाल में रीतिबद्ध काव्यधारा के समानान्तर विकसित होने वाली ऐसी काव्यधारा है जो रीतिबद्ध कविता की प्रतिक्रिया में उठ खड़ी हुई थी। रीतिमुक्त कवियों ने एक निश्चित परिपाटी या रूढ़ि में बंधकर काव्य-सृजन का निषेध किया तथा अपने मनोभावों के अनुरूप काव्य-रचना कर स्वच्छन्द काव्यधारा का प्रवर्तन किया। भाव और शिल्प, दोनों क्षेत्रों में स्वच्छन्दता को अपनाते हुए इस धारा के कवियों ने साहित्य लिखा। काव्यशास्त्र को सामने रखकर उसमें वर्णित अलंकार, नायक-नायिका भेद, रस, रीति आदि के अनुरूप उदाहरण लिखकर काव्य रचने वालों की जकड़न से कविता को मुक्त करने वाली तथा कविता में अनुभूति की प्रतिष्ठा करने वाली इस काव्यधारा की विशेषताएं निम्नांकित हैं :

स्वच्छन्दता रीतिमुक्त काव्यधारा की केन्द्रीय विशेषता है। जिस प्रकार यूरोप में क्लासिकल काव्यधारा के विरोध में स्वच्छन्दतावादी काव्य प्रकट हुआ था उसी प्रकार रीतिकाव्य की प्रतिक्रिया में रीतिमुक्त काव्य का उदय हुआ। इस धारा के कवियों ने रीतिबद्ध कवियों के सामने अपने को काव्यशास्त्रीय परम्परा में आबद्ध नहीं रखा। जो कविता रीति, अलंकार, नायक-नायिका भेद आदि के बन्द कमरे में घुट रही थी, उसे एक खुला आकाश दिया।

रीतिमुक्त काव्यधारा के कवियों ने सिर्फ स्वच्छन्दता को ही नहीं अपनाया बल्कि इसे अपनाते हुए अत्यन्त सजग रूप से और खुले शब्दों में **रीतिबद्धता का निषेध** किया। इन्होंने किसी भी रीति या परिपाटी पर चलकर तथा काव्यशास्त्र के नियमों को आधार बनाकर काव्य रचने वालों को कवि तथा उनकी कविता को रचना मानने से इनकार किया। ठाकुर ने रीतिकालीन कविता के पारम्परित उपमान विधान की आलोचना करते हुए कहा—

'डेर सो बनाय, आय मेलत सभा के बीच,
लोगन कवित्त कीवो खेल करि जानो है।'

रीतिमुक्त कवियों ने अपनी आन्तरिक अनुभूतियों की अभिव्यक्ति अपनी कविताओं में की है। उसमें बनावटीपन नहीं है बल्कि एक सहज स्वाभाविकता है। वह आत्मप्रदर्शन का साधन न होकर आत्माभिव्यक्ति का साधन है। इन कविताओं में भावावेग की तीव्रता है। कवियों ने अपनी कसक, पीड़ा को मार्मिक शब्दों में अभिव्यक्त किया है।

वैयक्तिकता रीतिमुक्त कविता की महत्त्वपूर्ण प्रवृत्ति है। आन्तरिक अनुभूतियों की अभिव्यक्ति के कारण यह कविता रीतिबद्ध कविता के समान वस्तुपरक न होकर व्यक्तिपरक है। इस वैयक्तिकता का प्रभाव कविता के भाव और शिल्प दोनों पर है। घनानन्द, ठाकुर, बोधा, आलम आदि की कृतियां रचनाकार की वैयक्तिक विशिष्टताओं के कारण सहज ही पहचान में आ जाती हैं।

प्रेमानुभूति रीतिमुक्त कवियों की मूल संवेदना है, जो उनके सम्पूर्ण काव्य में स्पन्दित है। यह प्रेम इन कवियों का अनुभूत है। रीतिकवियों के समान आरोपित नहीं है। अत: उन्होंने प्रेम का गहन एवं स्वाभाविक चित्रण किया है जिसमें जीवन की ताजगी, तीव्रता तथा ऊर्जा मिलती है। इनके प्रेम में छल-कपट, दुराव-छिपाव, कृत्रिमता तथा चातुरी की तनिक भी गुंजाइश नहीं है। घनानन्द के शब्दों में –

'अति सूधो सनेह को मारग है,जहाँ नैकु सयानप बाँक नहीं।
तहाँ सांचे चलै तजि आपुनपौ, झिझकै कपटी जे निसाँक नहीं।।'

रीतिमुक्त कवियों की **प्रेम-भावना में उदात्तता** के दर्शन सर्वत्र होते हैं। रीतिबद्ध कवियों के समान कवि मांसल रूप-सौन्दर्य, कामभाव की व्यंजक शारीरिक चेष्टाओं के वर्णन में उलझकर नहीं रह जाता है बल्कि प्रेम की अनन्यता, व्यापकता तथा समर्पण का चित्रण करता है। इसमें रीतिबद्ध कविता की स्थूलता कहीं नहीं है बल्कि सूक्ष्मता और गहनता है।

प्रेम में विरह की प्रधानता तथा नारी की जगह पुरुष के विरह की अभिव्यक्ति रीतिमुक्त काव्यधारा की विशेषता है। रीतिमुक्त कवियों का प्रेम विरह और पीड़ा में ही अपनी सार्थकता मानता है, मिलन और भोग में नहीं। संयोग के समय भी इन्हें वियोग की आशंका सताती रहती है–'यह कैसो संजोग न बूझि परै कि वियोग न क्यौंहू बिछोहत है।' रीतिमुक्त कवियों के वियोग-वर्णन में ऊहात्मकता एवं दुरागूढ़ कल्पना का अभाव है। इस विरह-वर्णन की एक खास विशेषता यह है कि यहाँ विरह नारी का न होकर पुरुष का है। घनानन्द, आलम, बोधा, ठाकुर आदि कवियों ने अपने लौकिक प्रेम-विरह की अभिव्यक्ति की है।

रीतिमुक्त काव्यधारा के कवियों में **दरबारीपन का नितान्त अभाव** है। उनमें रीतिसिद्ध कवियों की तरह यश, पद और धन की लिप्सा नहीं थी। अतः उन्होंने दरबारों की सेवा नहीं की। परिस्थिति की विवशता से जिन्होंने दरबार की शरण ली थी, वे भी अपनी स्वाभिमानी तथा स्वच्छन्द वृत्ति के कारण ज्यादा दिन तक टिक नहीं सके।

लोकसंस्कृति का चित्रण—होली, तीज, कृष्ण जन्मोत्सव, वसन्त, फाग, विवाह

प्रकृति-चित्रण—केवल बाह्य स्वरूप नहीं अपितु आन्तरिक प्रभाव का भी चित्रण।

अरबी-फारसी का प्रभाव

अभिनव अभिव्यंजना शिल्प का विकास भी रीतिमुक्त कविता की विशेषता है। शिल्प के क्षेत्र में भी ये परम्परागत बन्धनों से नितान्त मुक्त होकर नूतन भंगिमा का अन्वेषण करते हैं। रीतिकारों की अतिशय अलंकरण वृत्ति की अस्वीकृति इनकी अभिव्यंजना का प्रमुख गुण है। अलंकारिक चमत्कार की जगह सहजता और नैसर्गिकता का दर्शन इनके काव्यों में होता है। इन कवियों ने भाषा की शक्ति का विकास कर उसे सौन्दर्यपूर्ण तथा समृद्ध बनाने का स्तुत्य प्रयास किया है। संस्कृत, अरबी, फारसी आदि विभिन्न भाषाओं से शब्दों का निस्संकोच ग्रहण उनकी उदार भाषा-दृष्टि का परिचायक है। मुहावरे और लोकोक्तियों का प्रसंगानुकूल प्रयोग उनकी लोक-सम्पृक्ति का प्रमाण है। लक्षणा और व्यंजना शब्द-शक्ति के योग से उन्होंने भाषा को समृद्ध किया है।

वस्तुतः उपर्युक्त विशेषताओं को धारण करते हुए रीतिमुक्त कवियों ने अपने को रीति परिपाटी तथा दरबार दोनों से मुक्त रखा। अपनी स्वच्छन्दता के सहारे उन्होंने उस काल में एक ऐतिहासिक कार्य किया। पूरे रीतिकालीन समाज और साहित्य में एक खास तरीके का ठहराव दिखाई देता है। जहाँ एक ओर समाज विलासिता में डूबा हुआ है वहीं दूसरी ओर साहित्य भी इस विलास का एक साधन बन जाता है। कविता बंध जाती है—रीति और रुग्ण विलासमय शृंगारिकता के बन्धन में। रीतिमुक्त काव्यधारा के कवियों ने साहित्य को इस रीतिवादिता और विलासमय शृंगारिकता से निकालकर स्वच्छन्दता और निश्चल प्रेम की जमीन पर खड़ा किया तथा भाव एवं अभिव्यक्ति की नई दिशा की खोज की।

रीतिकाल का नामकरण

रीतिकाल का नामकरण यद्यपि आदिकाल की तरह बहुत विवादास्पद नहीं है

लेकिन अनेक विद्वानों ने इस काल को विभिन्न नामों से पुकारा है। उन नामों के औचित्य पर विचार करते हुए रीतिकाल नाम की सार्थकता का विवेचन अपेक्षित है।

1. मिश्रबन्धु—अलंकृत काल

रीतिकाल के लिए मिश्रबन्धुओं ने अलंकृत काल नाम सुझाया था। मिश्रबन्धुओं का तर्क यह है कि सम्पूर्ण रीतिकाल, कविता की अन्तर्वस्तु की तुलना में अभिव्यक्ति के अलंकरण पर बल देता है। अलंकरण की प्रवृत्ति समूचे रीतिकाल की केन्द्रीय प्रवृत्ति है। इसलिए 'अलंकृत काल' इस कविता की एक सर्वमान्य संज्ञा हो सकती है। निश्चित रूप से अलंकरण की प्रवृत्ति इस काल की एक आधारभूत विशेषता है, लेकिन विद्वानों ने मिश्रबन्धुओं के इस नामकरण को स्वीकार नहीं किया। इसका मूल कारण रामचन्द्र शुक्ल द्वारा सुझाया गया 'रीतिकाल' नाम था। मिश्रबन्धुओं की यह संज्ञा रचना की प्रवृत्ति के धरातल पर तो सार्थक प्रतीत होती है लेकिन वह अलंकृति की मूल प्रेरणा का कोई संकेत नहीं दे पाती। इसलिए इस संज्ञा को अपर्याप्त माना गया।

2. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल – रीतिकाल

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने इस काल के लिए रीति का प्रयोग किया। रीति का प्रयोग सबसे पहले नवीं शताब्दी में वामन ने किया। रीति का प्रयोग करते हुए वामन ने 'रीतिरात्मा काव्यस्य' कहकर रीति को कविता की आत्मा के रूप में प्रतिष्ठित किया। वामन के अनुसार रीति का सम्बन्ध पदावली की संघटना से है। रीतिकाल में प्रयुक्त रीति शब्द वामन के रीति शब्द के व्यापक अभिप्राय के अनुरूप नहीं है। यहाँ रीति का अर्थ है – मार्ग, पद्धति। इसलिए शुक्ल जी द्वारा प्रयुक्त रीतिकाल का अर्थ है – ऐसी कविता जो अलंकार शास्त्र और रसशास्त्र के नियमों के अनुसार लिखी गई हो। इस प्रकार रीति से इस काव्य की मूल प्रेरणा का भी पता चलता है और इस कविता की आधारभूत प्रवृत्ति श्रृंगार का भी बोध होता है। इस प्रकार यह संज्ञा अपनी व्यापकता के कारण सही अर्थों में इस काव्य की विशेषताओं और प्रवृत्तियों का निर्वहन करती है।

3. विश्वनाथ प्रसाद मिश्र – श्रृंगार काल

विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने रीतिकाल को श्रृंगारकाल के नाम से अभिहित किया है। श्रृंगार इस काल की व्यापक प्रवृत्ति है और यह इस काल के सभी कवियों पर लागू होती है। ऊपर से देखने पर यह संज्ञा रीति की तुलना में अधिक स्वाभाविक दिखाई

देती है। क्योंकि इसके अन्तर्गत वे कवि भी आ जाते हैं जिन्हें रीतिमुक्त कवि कहा गया है। आचार्य शुक्ल रीतिकाव्य में श्रृंगार चेतना की व्यापकता से सहमत हैं और अपने इतिहास में उन्होंने इसे श्रृंगारकाल कहने की छूट का संकेत भी दिया है – 'वास्तव में श्रृंगार और वीर इन्हीं दो रसों की कविता इस काल में हुई। प्रधानता श्रृंगार की ही रही। इससे इस काल को रस के विचार से कोई श्रृंगारकाल कहे तो कह सकता है।'

लेकिन दो कारणों से श्रृंगारकाल संज्ञा रीतिकाल की तुलना में कम उचित प्रतीत होती है। रीतिकाव्य का श्रृंगार भी सामान्यत: रीतिबद्ध है इसलिए रीति संज्ञा स्वयं इस श्रृंगार के संकेत के लिए पर्याप्त है। दूसरा कारण यह है कि श्रृंगारकाव्य के नाम से अभिहित करने पर इस काव्य की अन्य काव्य प्रवृत्तियों भक्ति, नीति, वीर इत्यादि उपेक्षित हो जाती हैं। अत: रीतिकाल नाम ही सर्वथा उपयुक्त है।

4. रमांशकर शुक्ल 'रसाल' – कला काल

रमाशंकर शुक्ल 'रसाल' ने इस काल के लिए 'कला काल' नाम प्रस्तावित किया। एक स्तर पर यह मिश्रबन्धुओं के 'अलंकृत काल' से मिलता-जुलता नाम है। नि:सन्देह कलात्मकता के प्रति एक दुर्निवार आग्रह इस काल की कविता में दिखाई देता है लेकिन इस संज्ञा में कविता के नाम पर कलाबाजी करने की जो ध्वनि आती है वह कविता की रसिकता के साथ न्याय नहीं करती और चूंकि यह कला भी रीति से नियन्त्रित है, इसलिए विद्वानों ने अलंकरण और श्रृंगार की तरह ही इस संज्ञा को भी रीति में ही अन्तर्भूत कर दिया।

समग्रत: आचार्य शुक्ल द्वारा सुझाया गया रीतिकाल नाम इस काल के लिए सर्वमान्य है। रीति शब्द जहाँ इस काल की कविता के प्रेरणा बिन्दुओं की तरफ संकेत करती है, वहीं दूसरी तरफ अभिव्यक्ति और अन्तर्वस्तु की एक निश्चित पद्धति की सूचना भी देती है। इसलिए रीतिकाल नाम सभी दृष्टियों से उचित भी है और मान्य भी।

रीतिकाल की उपलब्धियां

काव्यशास्त्र

रीति-आचार्यों के दोष पहले सामने आते हैं और गुण बाद में। इनका पहला दोष है – सिद्धान्त-प्रतिपादन में मौलिकता का अभाव। काव्यशास्त्र के क्षेत्र में मौलिकता की दो कोटियां हैं : एक के अन्तर्गत नवीन सिद्धान्तों की उद्‌भावना और दूसरी के

अन्तर्गत प्राचीन सिद्धान्तों का पुनराख्यान आता है। हिन्दी के रीति- आचार्य निश्चय ही किसी नवीन सिद्धान्त का आविष्कार नहीं कर सके। किसी ऐसे व्यापक आधारभूत सिद्धान्त का प्रतिपादन, जो काव्य-चिन्तन को नवीन दिशा प्रदान करता, सम्पूर्ण रीतिकाल में सम्भव नहीं हुआ। इन कवियों ने काव्य के सूक्ष्म अवयवों के वर्णन में कहीं-कहीं नवीनता का प्रदर्शन किया, परन्तु उन तथाकथित उद्भावनाओं का भी आधार-स्रोत किसी-न-किसी संस्कृत-ग्रन्थ में मिल जाता है। जहाँ ऐसा नहीं है वहां भी यह कल्पना करना असंगत प्रतीत नहीं होता कि कदाचित किसी लुप्तप्राय संस्कृत-ग्रन्थ में इस प्रकार का वर्णन रहा होगा। इनके अतिरिक्त भी जो कुछ नवीन तथ्य शेष रह जाते हैं उनके पीछे विवेक का पुष्ट आधार नहीं मिलता, अर्थात् वहाँ नवीनता-प्रदर्शन केवल नवीनता या विस्तार-मोह के कारण किया गया है काव्य के मर्म से उसका कोई सम्बन्ध नहीं है। कहीं-कहीं रीतिकवियों की उद्भावनाएं अकाव्योचित भी हो गयी हैं। जैसे – खर, काक आदि के अंशों से युक्त नायिका-भेदों का विस्तार, अथवा प्रमाण आदि के भेदों के आधार पर कल्पित अलंकारों का विस्तार। वास्तव में हिन्दी के रीतिकवियों ने आरम्भ से ही गलत रास्ता अपनाया। उन्होंने मौलिकता का विकास विस्तार के द्वारा ही करने का प्रयास किया। परन्तु संस्कृत के काव्यशास्त्र की प्रवृत्ति तो भेद-विस्तार की ओर पहले से ही इतनी अधिक थी कि अब उस क्षेत्र में कोई विशेष अवकाश नहीं रह गया था। जिन क्षेत्रों में अवकाश था उनकी ओर रीतिकवियों ने उचित ध्यान नहीं दिया। उदाहरण के लिए संस्कृत-काव्यशास्त्र में कवि-कर्म के बाह्य रूप का जितना पूर्ण विवेचन है उतना उसके आन्तरिक रूप का नहीं है, अर्थात् कवि-मानस की सृजन-प्रक्रिया का विवेचन यहाँ व्यवस्थित रूप से नहीं मिलता। हिन्दी का रीति-आचार्य इस उपेक्षित अंग को ग्रहण कर सकता था। यहाँ मौलिक विवेचन के लिए बड़ा अवकाश था, परन्तु परम्परा का अतिक्रमण करने का साहस वह नहीं कर सका। सामान्यतः उस युग में इतना साहस कोई कर भी नहीं सकता था।

दूसरा क्षेत्र था – व्यवस्था का, रीतिकाल तथा संस्कृत-काव्यशास्त्र का भेद-विस्तार इतना अधिक हो चुका था कि कई क्षेत्रों में एक प्रकार की अव्यवस्था सी उत्पन्न हो गयी थी। उदाहरण के लिए ध्वनि का भेद- विस्तार हजारों तक, नायिका भेद की संख्या भी सैकड़ों तक पहुंच चुकी थी। अलंकार वर्णन-शैली को छोड़ वर्ण्य विषय के क्षेत्रों में प्रवेश करने लगे गये थे, लक्षणा और दोषादि के सूक्ष्म भेद एक-दूसरे की सीमा का उल्लंघन कर रहे थे। परिणामतः भारतीय काव्यशास्त्र की वह स्वच्छ व्यवस्था, जो मम्मट के समय में स्थिर हो चुकी थी, अस्त-व्यस्त-सी हो गयी थी। पंडितराज जगन्नाथ जैसे मेधावी आचार्य ने उसे फिर से स्थापित करने का

प्रयत्न किया, किन्तु उस युग की प्रवृत्ति-विवेचन की अपेक्षा वर्णन की ओर ही अधिक थी, अत: शास्त्रार्थ की अपेक्षा कवि-शिक्षा उसके अधिक अनुकूल पड़ती थी। हिन्दी का आचार्य भी उसी प्रवाह में बह गया, अपने समसामयिक पंडितराज का मार्ग ग्रहण न कर वह भानुदत्त और केशव मिश्र की परिपाटी का ही अनुसरण करने लगा। हमारे कवि-आचार्य पर एक और बड़ा दायित्व था, और वह था—हिन्दी की विशाल काव्य-राशि का अनुगम विधि से विश्लेषण कर उसके आधार पर एक स्वतन्त्र विधान की कल्पना करना। किन्तु उसने हिन्दी के साहित्य की तो लगभग उपेक्षा ही कर दी। लक्षणों के लिए उसने संस्कृत-काव्यशास्त्र का अवलम्बन लिया और उदाहरणों का स्वयं ही नूतन निर्माण किया, इस प्रकार हिन्दी के समृद्ध काव्य का उसके लिए जैसे कोई अस्तित्व ही नहीं रहा। वास्तव में इस प्रकार अपने पूर्ववर्ती एवं समसामयिक काव्य की उपेक्षा कर लक्षणों का अनुवाद और नूतन उदाहरणों की सृष्टि करते रहना आलोचक के मौलिक कर्तव्य-कर्म का निषेध करना था। आलोचना-शास्त्र मूलत: एक सापेक्षिक शास्त्र है, उसका आलोच्य साहित्य के साथ अत्यन्त अन्तरंग सम्बन्ध है। अत: न तो केवल हजारों वर्ष पुराने लक्षणों और उदाहरणों का अनुवाद अभीष्ट था और न नये उदाहरणों की सृष्टि से ही उद्देश्य की सिद्धि सम्भव थी। संस्कृत के आचार्यों ने जहाँ प्राय: आचार्यत्व और कवि-कर्म को पृथक रखा था, वहाँ हिन्दी के आचार्य-कवियों ने दोनों को मिला दिया। इसमें काव्य की वृद्धि तो निश्चय ही हुई, किन्तु काव्यशास्त्र का विकास न हो सका।

रीति-आचार्यों का दूसरा प्रमुख दोष यह था कि उनका विवेचन अस्पष्ट और उलझा हुआ था, फलत: उनके ग्रन्थों पर आधृत शास्त्रज्ञान कच्चा और अधूरा ही रहता है। इस अभाव के दो कारण थे—एक तो कुछ कवियों का शास्त्रज्ञान अपने-आपमें निर्भ्रान्त नहीं था, दूसरे, पद्य में साहित्य के सूक्ष्म-गम्भीर प्रश्नों का समाधान सम्भव नहीं था। प्रतापसाहि-जैसे प्रमुख आचार्य ने संस्कृत-आचार्यों के मत सर्वथा अशुद्ध रूप में उद्धृत किये हैं, मम्मट और विश्वनाथ के काव्य-लक्षण उनके शब्दों में इस प्रकार हैं :

साहित्यदर्पण सम्मत काव्यलक्षण—

रसयुत व्यंग्य-प्रधान जहं, शब्द अर्थ शुचि होइ।
उक्त युक्ति भूषण सहित, काव्य कहावै सोइ।।

काव्य प्रकाश सम्मत काव्यलक्षण–

अलंकार अरु गुन सहित, दोष रहित पुनि कृत्य।
उक्त रीति पद के सहित, रसयुत वचन प्रवृत्य।।

वास्तव में इसी प्रकार का अज्ञान अक्षम्य है, परन्तु इन कवियों की अपनी परिसीमाएं थीं।

उपर्युक्त दोषों के लिए अनेक परिस्थितियाँ उत्तरदायी थीं। एक तो संस्कृत-काव्यशास्त्र की परंपरा ही रीतिकाल तक आते-आते प्रायः निर्जीव हो चुकी थी। उस समय पंडितराज को छोड़ कोई आचार्य मौलिक चिन्तन का प्रमाण नहीं दे सका। उस युग में कवि-शिक्षा का ही प्रचार अधिक रह गया था – जिसके लिए न मौलिक सिद्धान्त-प्रतिपादन अपेक्षित था, न खंडन-मंडन अथवा पुनराख्यान। कवि-शिक्षा का लक्ष्य था। रसिकों को सामान्यकाव्य-रीति की शिक्षा देना, जिज्ञासु मर्मज्ञ के लिए कवि-कर्म अथवा काव्यास्वाद के रहस्यों का व्याख्यान करना नहीं। रीतिकाव्य जिस वातावरण में विकसित हो रहा था, उसमें रसिकता का ही प्राधान्य था। इन रसिक श्रीमन्तों को अपने व्यक्तित्व के परिष्कार के लिए केवल सामान्य काव्य-ज्ञान अपेक्षित था, गहन प्रश्नों पर विचार करने की न उनमें शक्ति थी और न धैर्य ही। अतः उनके आश्रित कवि लक्षणादि की रचना द्वारा उनका शिक्षण और सरस शृंगारिक उदाहरणों की सृष्टि द्वारा मनोरंजन करते रहे, सूक्ष्म शास्त्र-चिन्तन न उनके लिए ग्राह्य था और न इनके लिए आवश्यक। इसके अतिरिक्त हिन्दी में गद्य का भाव भी एक बहुत बड़ी परिसीमा थी, तर्क और विचार विश्लेषण का माध्यम गद्य ही हो सकता था, छन्द के बन्धन में बंधा हुआ पद्य नहीं। हिन्दी के सर्वांग-निरूपक आचार्य ने, जो अपने शास्त्र-कर्म के प्रति जागरूक थे, वृत्तियों में गद्य का सहारा लिया है, किन्तु ब्रजभाषा का यह असमर्थ गद्य उनके मन्तव्य को सुलझाने की अपेक्षा अधिक उलझाने में ही सफल हुआ।

अतः रीति-आचार्यों के योगदान का मूल्यांकन उपर्युक्त पृष्ठभूमि को ध्यान में रखकर ही करना चाहिए। वे कवि वस्तुतः शास्त्रकार नहीं थे, रीतिकार थे और इसी रूप में इनका विचार होना चाहिए। काव्यशास्त्र के क्षेत्र में आचार्यों के सामान्यतः तीन वर्ग हैं :

1. **उद्भावक आचार्य** : जिन्हें मौलिक सिद्धान्त-प्रतिपादन का श्रेय प्राप्त है; जैसे भरत, वामन, आनन्दवर्धन, भट्टनायक, अभिनवगुप्त, कुन्तक आदि। ये शास्त्रकारों की कोटि में आते हैं।

2. **व्याख्यात आचार्य** : जो नवीन सिद्धान्तों की उद्भावना न कर प्राचीन सिद्धान्तों का आख्यान करते हैं। इनका कर्तव्य-कर्म होता है – मूल सिद्धान्तों को

स्पष्ट और विशद करना। मम्मट, विश्वनाथ और पंडितराज जगन्नाथ प्रतिभा-भेद से इसी वर्ग के अन्तर्गत आयेंगे।

3. तीसरा वर्ग है—कवि शिक्षकों का, जिनका लक्ष्य अपने स्वच्छ व्यावहारिक ज्ञान के आधार पर सरस-सुबोध पाठ्यग्रन्थ प्रस्तुत करना होता है। इस प्रकार के आचार्यों को मौलिक उद्‌भावना करने अथवा शास्त्र की गहन गुत्थियों को खंडन-मंडन द्वारा सुलझाने की कोई महत्त्वाकांक्षा नहीं होती। जयदेव, अप्पय दीक्षित, केशव मिश्र, भानुदत्त आदि की भी गणना इसी वर्ग के अन्तर्गत की जाती है।

हिन्दी के रीति-आचार्य स्पष्टतः प्रथम श्रेणी में नहीं आते। उन्होंने किसी व्यापक आधारभूत काव्य-सिद्धान्त का प्रवर्तन नहीं किया, उनमें से किसी में इतनी प्रतिभा नहीं थी। दूसरी श्रेणी में सर्वांग-निरूपक आचार्यों की गणना की जा सकती थी, किन्तु खंडन-मंडन तथा स्पष्ट और विशद व्याख्यान के अभाव में, केवल प्रमुख काव्यांगों के संक्षिप्त निरूपण के आधार पर, वे इस स्थान के अधिकारी भी नहीं हो सकते। अन्ततः वे तृतीय वर्ग के अन्तर्गत ही स्थान प्राप्त कर सकते हैं। वे न शास्त्रकार थे और न शास्त्र के भाष्यकार, उनका काम तो शास्त्र की परम्परा को सरस रूप में हिन्दी में अवतरित करना था और इसमें वे निश्चिय ही कृतकार्य हुए। उनके कृतित्व का मूल्यांकन इसी आधार पर होना चाहिए।

अतएव **हिन्दी के रीति-आचार्यों का प्रमुख योगदान यह है कि उन्होंने भारतीय काव्यशास्त्र की परम्परा को हिन्दी में सरस रूप में अवतरित किया। इस प्रकार हिन्दी काव्य को शास्त्र-चिन्तन की प्रौढ़ि प्राप्ति हुई और शास्त्रीय विचार सरस रूप में प्रस्तुत हुए।** भारतीय भाषाओं में हिन्दी को छोड़ अन्यत्र कहीं भी यह प्रवृत्ति नहीं मिलती। इसके अपने दोष हो सकते हैं, परन्तु वर्तमान हिन्दी-आलोचना पर इसका सत्प्रभाव भी स्पष्ट है। अन्य भाषाओं में जहाँ संस्कृत-आलोचना से वर्तमान आलोचना का सम्बन्ध उच्छिन्न हो गया है, वहाँ हिन्दी और मराठी में यह अन्तःसूत्र टूटा नहीं है। फलतः हमारी वर्तमान आलोचना की समृद्धि में इन रीतिकारों का स्पष्ट योगदान है। बौद्धिक ह्रास के उस अन्धकार-युग में काव्य के बुद्धि पक्ष को जाने-अनजाने पोषण देकर इन्होंने अपने ढंग से बड़ा काम किया।

भारतीय काव्यशास्त्र की परम्परा में व्यापक रूप से इनका दूसरा महत्त्वपूर्ण योगदान यह है कि **इन्होंने रस को ध्वनि के प्रभुत्व से मुक्त कर रसवाद की पूर्ण प्रतिष्ठा की।** इतिहास साक्षी है कि संस्कृत-काव्यशास्त्र का सर्वमान्य सिद्धान्त ध्वनिवाद ही रहा है। रस का स्थान मूर्धन्य होते हुए भी उसका विवेचन प्रायः असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य-ध्वनि के अन्तर्गत अंग-रूप में ही होता रहा है। हिन्दी के रीतिकार आचार्यों ने रस को परतन्त्रता से मुक्त किया और पूरी दो शताब्दियों तक

रसराज शृंगार की ऐसी अविच्छिन्न धारा प्रवाहित की कि यहाँ 'शृंगारवाद' एक प्रकार से स्वतन्त्र सिद्धान्त के रूप में ही प्रतिष्ठित हो गया। मधुरा भक्ति से सम्प्रेषित शृंगार भाव में जीवन के समस्त कटु भावों को निमग्न कर इन आचार्यों ने भारतीय काव्यशास्त्र के प्राण तत्त्व आनन्द की पुनः प्रतिष्ठा का अभूतपूर्व प्रयत्न किया। रीति-युग के अधिकांश आचार्यों द्वारा ध्वनि की उपेक्षा और नायिका-भेद के प्रति उत्कट आग्रह इसी प्रवृत्ति का द्योतक है। देव-जैसे कवियों ने अत्यन्त प्रबल शब्दों में रसकुटिल, अधम व्यंजना पर आश्रित ध्वनि का तिरस्कार का रसवाद का पोषण किया और रामसिंह ने रस के आधार पर काव्य के उत्तम, मध्यम और अधम भेद करते हुए रस-सिद्धान्त के सार्वभौम प्रभुत्व का प्रतिपादन किया। 'संयोग', शास्त्र का अपरिपक्व ज्ञान', 'युग की दूषित प्रवृत्ति' आदि कहकर इन स्थापनाओं की उपेक्षा करना न्याय नहीं है, इनके पीछे गहरी आस्था का बल था।

रीतिकाव्य : भारतीय इतिहास में 'रीतिकाल' की भांति हिन्दी-साहित्य के इतिहास में 'रीतिकाव्य' भी अत्यन्त अभिशप्त काव्य है। आलोचना के आरम्भ से ही इस पर आलोचकों की वक्रदृष्टि रही है। द्विवेदी-युग ने सदाचार-विरोधी कहकर नैतिक आधार पर इसका तिरस्कार किया, छायावाद की सूक्ष्म सौन्दर्य-दृष्टि रीतिकाव्य के स्थूल सौन्दर्य-बोध के प्रति हीन भाव रखती थी, प्रगतिवाद ने इस पर समाजविरोधी और प्रतिक्रियावादी होने का आरोप लगाया और प्रयोगवाद ने इसकी रूढ़ विषय-वस्तु एवं अभिव्यंजना-प्रणाली को एकदम 'बासी' घोषित कर दिया। इस प्रकार की आलोचनाएं निश्चय ही पूर्वाग्रह से दूषित हैं—इनमें बाह्य मूल्यों का रीतिकाव्य पर आरोप करते हुए काव्यालोचन के इस आधारभूत सिद्धान्त का निषेध किया गया है कि आलोचक को आलोच्य काव्य में से ही दृष्टि प्राप्त करनी चाहिए। इस पद्धति को ग्रहण करने से रीतिकाव्य के साथ अन्याय होने की आशंका नहीं रह जायेगी।

व्यापक स्तर पर विचार करने से काव्य की दो प्रतिनिधि परिभाषाएं प्राप्त होती हैं, जो काव्य के प्रति दो भिन्न दृष्टिकोणों को अभिव्यक्त करती हैं : एक 'वाक्य रसात्मक काव्यम्' और दूसरी 'काव्य जीवन की समीक्षा' है। इसमें से पहली शुक्ल जी की शब्दावली में 'आनन्द की सिद्धावस्था' और दूसरी 'साधनावस्था' को महत्त्व देती है। केवल भारतीय वाङमय में ही नहीं, विश्व-भर के वाङमय में काव्य के ये दो पृथक रूप स्पष्ट दृष्टिगत होते हैं। इसमें सन्देह नहीं कि इस भेद के मूल में आन्तरिक अभेद की सत्ता भी उतनी ही स्पष्ट है, फिर भी ये दोनों और इनका आख्यान करने वाली उपर्युक्त दोनों परिभाषाएं दो विभिन्न दृष्टिकोणों की द्योतक तो हैं ही। किसी भी काव्य की समीक्षा करते समय इस दृष्टि-भेद को सामने रख लेना

आवश्यक है — एक ही मानक से दोनों तो तोलने से किसी-न-किसी के प्रति भारी अन्याय होने की आशंका रहती है। उदाहरण के लिए, वाल्मीकी और जयदेव अथवा तुलसी और सूर की काव्य-दृष्टि में, तथा पाश्चात्य साहित्य से उदाहरण लें तो होमर या शेक्सपियर और शेली की काव्य-दृष्टि में उपर्युक्त भेद स्पष्ट हैं : फिर भी आचार्य शुक्ल और मैथ्यू आर्नल्ड जैसे प्रौढ़ आलोचक उसे भूल बैठे। इसका उल्टा भी हो सकता है — बिहारी की आलोचना करते हुए पंडित पद्मसिंह शर्मा ने यही किया और बिहारी की प्रतिभा से 'सूर और चाँद को भी ग्रहन लगने' की आशंका होने लगी। यद्यपि कवित्व और रस में मौलिक अखंडता है — किन्तु यह अखंडता तो अन्तिम स्थिति में ही प्राप्त होती है, उससे पहले बहुत दूर तक उपर्युक्त भेद की सत्ता स्पष्ट विद्यमान रहती है। रीतिकाल का उचित मूल्यांकन करने के लिए इसका ध्यान रखना आवश्यक होगा।

'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्' या 'रमणीयार्थप्रतिपादक: शब्द: काव्यम्' की कसौटी पर परखने से रीतिकाव्य का तिरस्कार नहीं किया जा सकता। इसमें सन्देह नहीं कि जीवन की उदात्त साधना और कदाचित सिद्धियों का भी निरूपण इस काव्य में उपलब्ध नहीं होता। किन्तु जीवन में सरसता का मूल्य नगण्य नहीं है — जीवन के मार्ग में धीर और प्रबुद्ध गति से निरन्तर आगे बढ़ना तो श्रेयस्कर है ही, किन्तु कुछ क्षणों के लिए किनारे पर लगे वृक्षों की शीतल छांह में विश्राम करने का भी अपना मूल्य है। कला अथवा काव्य के कम-से-कम एक रूप का आविष्कार मनुष्य ने इसी मधुर आवश्यकता की पूर्ति के लिए किया था और वह आवश्यकता अभी नि:शेष नहीं हुई — कभी हो भी नहीं सकती। रीतिकाव्य मानव-मन की इसी वृत्ति का परितोष करता है और इस दृष्टि से इन रससिद्ध कवियों और इनके सरस काव्य का अवमूल्यन नहीं किया जा सकता।

व्यापक सामाजिक स्तर पर भी रीतिकाव्य का यह योगदान इतना ही मान्य है। **घोर पराभव के उस युग में समाज के अभिशप्त जीवन में सरसता का संचार कर इन कवियों ने अपने ढंग से समाज का उपकार किया था।** इनमें सन्देह नहीं कि इनके काव्य का विषय उदात्त नहीं था — उसमें जीवन के भव्य मूल्यों की प्रतिष्ठा नहीं थी, अत: उसके द्वारा प्राप्त आनन्द भी उतना उदात्त नहीं था। काव्यवस्तु के नैतिक मूल्य का काव्य-रस के नैतिक मूल्य पर प्रभाव निश्चय ही पड़ता है, और इस दृष्टि से रीतिकाव्य का नैतिक मूल्य निश्चय ही कम है। फिर भी अपने युग की आत्मघाती निराशा को उच्छिन्न करने में उसने स्तुत्य योगदान किया, इसमें सन्देह नहीं, इस सत्य को अस्वीकार करना कृतघ्नता होगी। यहाँ इस सत्य का फिर से उद्घाटन आवश्यक है कि कला का एक अतर्क्य उद्देश्य मनोरंजन भी है : यह

मनोरंजन मानव-जीवन की जितनी अपरिहार्य आवश्यकता है इसकी पूर्ति करने वाली कला या काव्य-कला का अपना मूल्य भी निश्चय ही उतना ही असन्दिग्ध है। रीतिकाव्य का मूल्यांकन कला के इसी उद्देश्य को ध्यान में रखकर करना चाहिए – उसकी मूलवर्ती प्रेरणा यही थी और इसी की पूर्ति में उसकी सिद्धि निहित है। शुद्ध नैतिक दृष्टि से भी यह सिद्धि निर्मूल नहीं है क्योंकि कवि-शिक्षा से संयुक्त यह मनोरंजन तत्कालीन सहृदय समाज की रुचि परिष्कार का भी अत्यन्त उपादेय साधन था।

कला की दृष्टि से भी रीतिकाव्य की महत्त्व असन्दिग्ध है। वास्तव में हिन्दी-साहित्य के इतिहास में सर्वप्रथम रीतिकवियों ने ही **काव्यों को शुद्ध कला के रूप में** ग्रहण किया। अपने शुद्ध रूप में रीतिकविता न तो राजाओं और सैनिकों को उत्साहित करने का साधन थी, न धार्मिक प्रचार अथवा भक्ति का माध्यम थी, न सामाजिक सुधार तथा राजनीतिक सुधार की परिचायिका ही। काव्य-कला का अपना स्वतन्त्र महत्त्व था – उसकी साधना उसी के अपने निमित्त की जाती थी, वह अपना माध्यम आप थी।

कला के क्षेत्र में व्यावहारिक रूप से भी रीतिकवियों की उपलब्धि कम नहीं है। **ब्रजभाषा के काव्य-रूप का पूर्ण विकास इन्होंने ही किया। वह कान्ति, माधुर्य और मसृणता आदि गुणों से जगमग हो उठी – शब्दों को जैसे खराद पर उतारकर कोमल और चिक्कण रूप प्रदान किया गया।** सवैया और कवित्त की रेशमी जमीन पर रंग-बिरंगे शब्द माणिक-मोती की तरह ढुलकने लगे। इन दोनों छन्दों की लय में अभूतपूर्व मार्दव और लोच आ गया। स्थूल दृष्टि से देखने पर ऐसा प्रतीत होता है कि रीतिकवियों का छन्द-विधान एक बंधी लीक पर ही चलता है : उसमें स्वर और लय की सूक्ष्म संयोजनाओं के लिए अवकाश नहीं है। परन्तु यह दृष्टि-दोष है : सवैया और कवित्त के विधान के अन्तर्गत अनेक प्रकार के सूक्ष्म लय-परिवर्तन कर रीतिकवियों ने अपनी कोमल संगीत-रुचि का परिचय दिया है। रीतिपूर्व-युग के तुलसी और गंग-जैसे समर्थ कवियों और उधर रीतिमुक्त कवियों में घनानन्द-जैसे प्रवीण कलाकारों के छन्द-विधान के साथ तुलना करने पर स्वतः स्पष्ट हो जाता है – ये कवि अपने सम्पूर्ण काव्य-वैभव के होते हुए भी रीतिकवियों के छन्द-संगीत की सृष्टि करने में नितान्त असफल रहे हैं। इसी प्रकार अभिव्यंजना की साज-सज्जा और अलंकृति की दृष्टि से रीतिकाव्य का वैभव अपूर्व है। यह ठीक है कि उसमें अलंकरण-सामग्री का वैसा वैविध्य नहीं है जैसा सूर और तुलसी में मिलता है –वैसा सूक्ष्म संयोजन भी नहीं है जैसा कि पन्त में मिलता है, परन्तु विलास-युग के रंगोज्ज्वल उपमानों और प्रतीकों के प्रचुर प्रयोग से रीतिकाव्य की अभिव्यंजना दीपावली की तरह जगमगाती है। अतः

इस कविता का कलात्मक रूप अपने-आपमें विशेष मूल्यवान है – और इसी रूप में इसके महत्त्व का आकलन होना चाहिए। इसमें सन्देह नहीं कि रीतिकाव्य में सूर, मीरा और घनानन्द-जैसी आत्मा की पुकार नहीं मिलेगी, न जायसी, तुलसी अथवा आधुनिक युग के विशिष्ट महाकाव्यों के समान व्यापक जीवन-समीक्षा और छायावादी कवियों का सूक्ष्म-सौन्दर्य-बोध ही यहाँ उपलब्ध होगा. परन्तु मुक्तक-परम्परा की गोष्ठीमंडन कविता का जैसा उत्कर्ष-रीतिकाव्य में हुआ वैसा न उसके पूर्ववर्ती काव्य में और न परवर्ती काव्य में ही सम्भव हो सका।

इस प्रकार हिन्दी-साहित्य के इतिहास में रीतिकाव्य का अपना विशिष्ट स्थान है। सैद्धान्तिक दृष्टि से भारतीय काव्यशास्त्र की परम्परा को हिन्दी में अवतरित करते हुए विवेचन एवं प्रयोग दोनों के द्वारा रसवाद की पूर्ण प्रतिष्ठा कर और उधर सर्जना के क्षेत्र में कविता के कला-रूप की सिद्धि करते हुए भारतीय मुक्तक-परम्परा का अपूर्व विकास कर ब्रजभाषा के कला-प्रसाधनों के सम्यक् परिष्कार प्रसाधन द्वारा रीतिकवियों ने हिन्दी-काव्य की समृद्धि में महत्त्वपूर्ण योगदान किया है। एकान्त वैशिष्ट्य की दृष्टि से भारतीय वाङ्मय में ही नहीं, सम्पूर्ण विश्व के वाङ्मय में आलोचना और सर्जना के संयोग से निर्मित यह काव्य विधा अपना उदाहरण आप ही है : किसी भी भाषा में इस प्रकार का काव्य इतने प्रचुर परिमाण में नहीं रचा गया।

रीतिमुक्त काव्य : इस युग की तीसरी प्रवृत्ति है – रीतिमुक्त काव्य। परिमाण में कम होने पर भी काव्य-गुण की दृष्टि से इसका विशेष महत्त्व है। जैसा कि आचार्य शुक्ल ने संकेत किया है, यह काव्य हिन्दी में स्वच्छन्दतावाद की पूर्वाभास है। इन कवियों ने **काव्य के प्रति अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में आत्मपरक दृष्टिकोण की प्रतिष्ठा की और जीवन तथा काव्य में रीति-रूढ़ियों का तिरस्कार कर** स्वच्छन्द मार्ग को ग्रहण किया। कविता के लिए सायास शिल्प-विधान का कोई महत्त्व नहीं है, वह आवेश – प्रेम के आवेग–का सहज उच्छलन है :

समुझि समुझि बातैं छोलिबो न काम आवै
छावै घनआनन्द न जौ लौं नेह बौरई।।

इस प्रकार काव्य में अन्त:प्रेरणा – 'नेह बौरई' अथवा 'लोकोत्तर विक्षेप' की महत्त्व-प्रतिष्ठा हुई और उसी को कवित्व का उद्गम-स्रोत माना गया। इन कवियों का भी मुख्य विषय प्रेम या श्रृंगार ही है। किन्तु यह स्वच्छन्द प्रेम है, जो एक ओर भक्ति की साम्प्रदायिकता से मुक्त है और दूसरी ओर समाज के रीति-नियमों से। इसमें न रीति-श्रृंगार की रूढ़ियों – विभाव-अनुभव-संचारी का प्रपंच है और न शास्त्र का कृत्रिम विधान। यह प्रेम प्राय: एकनिष्ठ और एकांगी है और फिर भी रसाभास के अन्तर्गत नहीं आता। इन कवियों ने रीतिभाषा की उपेक्षा कर टकसाली ब्रजभाषा को

अपने काव्य का माध्यम बनाया जिसमें जनभाषा की ताजगी है। उसमें आयास-सिद्ध-माधुर्य, कोमलता, मसृणता, कान्ति आदि गुणों के स्थान पर भाव की मिठास से उत्पन्न माधुर्य और तीव्रता से उत्पन्न कान्ति मिलती है। यहाँ अलंकारों का प्रयोग सजावट के लिए नहीं किया गया, भाव की दीप्ति से वाणी अनायास की दीपित हो उठी है। इसीलिए रीतिमुक्त काव्य में लक्षणा और व्यंजना से चमत्कृत आलंकारिक उद्भावनाओं का प्राधान्य है। वक्रता का ऐसा वैभव अन्यत्र दुर्लभ है। हिन्दी-साहित्य के इतिहास में 'शुद्ध कविता' की खोज का यह पहला सफल प्रयास था।

अन्य काव्य-प्रवृत्तियां : रीति और शृंगार के वृत्त से बाहर वीरकाव्य, भक्तिकाव्य, नीतिकाव्य तथा गद्य के क्षेत्रों में भी रीतिकाल का योगदान स्तुत्य है। वीरकाव्य के क्षेत्र में भूषण और लाल-जैसे समर्थ कवि उत्पन्न हुए जिन्होंने युगीन काव्य-प्रवृत्ति के प्रतिकूल लोकनायकों के शौर्य का ओजस्वी वाणी में वर्णन कर नये कीर्तिमान स्थापित किए। हिन्दी में अब तक वीरकाव्य की जो परम्परा विद्यमान थी, उसमें या तो देवताओं के पराक्रम का वर्णन था या आश्रयदाताओं या यशोगान। भूषण और लाल के राष्ट्रीय अथवा जातीय अभिमान के साथ वीर-भावना का सम्बन्ध स्थापित कर उसे एक नवीन आयाम प्रदान किया। उधर गुरु गोविन्द सिंह ने इसी भावना को चण्डी तथा महाकाल के प्रतीकों के द्वारा अत्यन्त प्रबल स्वर में प्रबन्धकाव्य के रूप में व्यक्त किया। भक्तिकाल की धारा भी इस युग में पूरे वेग से प्रवाहित थी – मधुरा भक्ति का विस्तार कृष्णकाव्य की सीमाओं को पार कर रामकाव्य तक हो चुका था और रामभक्ति में रसिक भावना का पूर्णतः सन्निवेश हो गया था। भक्तिकाव्य के क्षेत्र में गेय पदों और लीलाओं की रचना प्रभूत मात्रा में हुई। किन्तु रसार्द्रता होने पर भी इन रचनाओं में प्रायः मौलिक प्रतिभा का अभाव है, अधिकांश कवियों ने प्रायः पूर्ववर्ती काव्य की पुनरावृत्ति ही की है। कविता के क्षेत्र में इस युग की एक विशेष घटना है – 'महाभारत' का अनुवाद। सबलसिंह चौहान का अनुवाद तो प्रायः इतिवृत्तात्मक ही है, परन्तु गोकुलनाथ, गोपीनाथ आदि के अनुवादों में काव्य-गुण का भी पूर्ण सद्भाव है।

हिन्दी-गद्य का आविर्भाव रीतिकाल की अन्य महत्त्वपूर्ण उपलब्धि है। खड़ी बोली गद्य के आरम्भिक निर्माता-इंशाअल्ला खां, सदासुखलाल, सदल मिश्र और लल्लूजी लाल और उनके पूर्ववर्ती रामप्रसाद निरंजनी का आविर्भाव-काल यही है अर्थात् इसी युग में आधुनिक हिन्दी-गद्य के विविध रूपों का प्रस्फुटन हुआ।

इस प्रकार रीतिकाल हिन्दी-साहित्य के बहुविध विकास-विस्तार का युग है। इसकी सर्जनात्मक प्रतिभा का उत्कर्ष-बिन्दु देव, बिहारी, मतिराम के काव्य तक ही पहुंच पाया – तुलसी और सूर के कीर्तिमान अप्राप्य ही रहे, परन्तु 'शुद्ध कविता' अथवा काव्य-कला के प्रतिमानों से आंकने पर इसका योगदान कम महत्त्वपूर्ण नहीं है।

5

आधुनिक काल

आधुनिकता, नवजागरण, भारतेंदु युग एवं द्विवेदी युग

किसी भी समाज के आर्थिक और सामाजिक संबंध जब बदलते हैं, तब मनुष्य की चेतना में परिवर्तन घटित होता है। चेतना में परिवर्तन के प्रामाणिक आधार मनुष्य के सामाजिक-आर्थिक संबंध हैं। जब ये संबंध परिवर्तित होते हैं, तो उस परिवर्तन की छाया कविता की प्रकृति पर, उसकी भाषा पर, उसके स्वरूप पर पड़ती है।

मध्यकाल ईश्वर केंद्रित जीवनदर्शन से संचालित है। आधुनिक काल ईश्वर की केंद्रीयता का विकल्प खोजता है और ईश्वर के स्थान पर मनुष्य को प्रतिष्ठित करता है। इसलिए ईश्वर को अपदस्थ करके उसके स्थान पर मनुष्य की केंद्रीयता आधुनिकता का पहला अभिलक्षण है। भक्ति काव्य की जितनी भी धाराएँ हैं : सगुण, निर्गुण, ज्ञानाश्रयी, प्रेमाश्रयी, कृष्ण काव्यधारा, राम काव्यधारा; इन सभी काव्यधाराओं के केंद्र में ईश्वर है। उसकी प्रकृति में भिन्नता हो सकती है लेकिन ईश्वर केंद्र में है और मानवीय जीवन की सार्थकता को ईश्वर के संदर्भ में ही परिभाषित किया जा सकता है। आधुनिक युग ईश्वरोन्मुख सार्थकता की अवधारणा को अस्वीकार कर देता है। इसलिए मध्यकाल में जीवन का एक सूत्र अदृश्य से बँधा हुआ है। इस अदृश्य सूत्र को आधुनिकता समेट देती है और वह मानवीय अस्तित्व को सामाजिक, राजनीतिक संदर्भों में ही व्याख्यायित करती है। इस प्रकार ईश्वर की केंद्रीयता के अपदस्थ हो जाने के परिणामस्वरूप आधुनिकता या आधुनिक युग, अवतारवाद और लीलावाद के विश्वास को भी अस्वीकार कर देता है। मनुष्य केंद्रित जीवन-दृष्टि पर आधारित होने के कारण आधुनिकता समूचे लीलावाद और अवतारवाद को निरस्त करती है। मैथिलीशरण गुप्त की एक पंक्ति है : ''संदेश यहाँ पर नहीं स्वर्ग का लाया, धरती को ही स्वर्ग बनाने आया।'' स्वर्ग कहीं अलग नहीं

होता। मनुष्य के जीवन की वैयक्तिक अथवा सामाजिक सार्थकता इस बात में है कि वे धरती को स्वर्ग बना दें। इसलिए मोक्ष और मुक्ति की अवधारणा आधुनिक भावबोध में निरर्थक हो जाती है।

मध्यकाल या मध्यकालीन चिंतन में एक **तीसरी प्रवृत्ति या चेतना** सत्य की अवधारणा से जुड़ी हुई है। यह सत्य अज्ञात ही नहीं बल्कि अज्ञेय भी है। अज्ञेय का अर्थ होता है, जिसे जाना न जा सके। वह अस्तित्व में है और अस्तित्व से परे भी है। इसलिए सत्य की अवधारणा में एक विशेष प्रकार का अमूर्तन मध्यकाल में दिखाई देता है। आधुनिक काल में सत्य के स्थान पर **यथार्थ** शब्द के प्रयोग का प्रचलन शुरू होता है। सत्य में अमूर्तन का भाव ज़्यादा है। यथार्थ मनुष्य के राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक संबंधों का समुच्चय है। इसलिए रचनाकार की चिंता सत्य की नहीं, बल्कि यथार्थ की है। मनुष्य के जीवन के यथार्थ को आधुनिक काल चिंतन के अमूर्तन में नहीं, बल्कि उसके राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक प्रसंगों के माध्यम से समझता है। एक प्रसंग विशेष है। 1882 में अंग्रेज़ी ढंग का पहला उपन्यास प्रकाशित हुआ 'परीक्षा गुरु'। यह श्रीनिवास दास का उपन्यास है। इस उपन्यास में एक पात्र के द्वारा एक सवाल है—**प्रामाणिक मनुष्य किसे कहते हैं?** इसके दो उत्तर दिए गए हैं। प्रामाणिक मनुष्य वह है जो देशी और विदेशी का फ़र्क जानता है और जिसे अपनी आमदनी और खर्च के अनुपात का ज्ञान है। यहाँ देशी और विदेशी का जो संदर्भ है वह राजनीतिक है। धर्म में कोई देशी-विदेशी नहीं होता और आमदनी और खर्च का जो संदर्भ है, उसका अर्थ है अब प्रामाणिक मनुष्य की व्याख्या आर्थिक और राजनीतिक संदर्भ में ही संभव हो सकती है। समाज का कोई यथार्थ, व्यक्ति का कोई भी यथार्थ राजनीति और अर्थ के माध्यम से व्याख्यायित होगा।

मध्यकाल में मनुष्य की प्रामाणिकता की व्याख्या धर्म और दर्शन के आधार पर होती है। सत्य क्या है, जीवन की सार्थकता क्या है, मनुष्य होने का अर्थ क्या है; इन तमाम प्रश्नों के उत्तर या तो दर्शन में थे या धर्म में थे। धर्म और दर्शन जीवन को संचालित करने वाले अनुशासन थे। आधुनिक काल मानता है कि जीवन का संचालन अर्थ और राजनीति से होगा। इसलिए मार्क्स ने एक स्थान पर कहा कि 'राजनीति मनुष्य की नियति है।' इसलिए मनुष्य की मुक्ति और उसकी पराधीनता या दोनों स्थितियाँ राजनीतिक हैं। पराधीनता से मुक्ति की प्रक्रिया राजनीतिक प्रक्रिया होगी।

राजनीति सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है और समूची राजनीतिक प्रणाली समूचे विश्व की अर्थ संरचना पर आधारित होती है। इसलिए मार्क्सवाद में इसकी विशद व्याख्या है और इस स्थापना को बहुत गौर से देखने की ज़रूरत है, जिसमें मार्क्स ने कहा कि बेस स्ट्रक्चर पर ही सुपर स्ट्रक्चर आधारित होता है। बेस स्ट्रक्चर का अर्थ

बताया अधि-संरचना। मार्क्स ने कहा कि आर्थिक संरचना का अर्थ है उत्पादन संबंध। किसी भी व्यवस्था के उत्पन्न संबंधों से उसकी अर्थ संरचना के अनुसार समाज की सभी प्रणालियाँ और विश्वास निर्धारित होते हैं। इसलिए उत्पादन संबंध मानवीय श्रम निर्धारित कर रहा है, तो एक तरह की समाज व्यवस्था होगी, एक तरह की राजनीतिक प्रणाली होगी, एक तरह के धर्म और विश्वास होंगे और कल्पना कीजिए कि अगर उत्पादन संबंध को मानवीय श्रम के स्थान पर मशीन नियंत्रित करती है तो दूसरी तरह का समाज बनेगा, जिसे उसने कैप्टेलिज़्म कहा है। सामंतवाद और पूंजीवाद का बुनियादी फ़र्क है—सामंतवाद में श्रम पर मशीन का नहीं बल्कि श्रम पर मनुष्य का नियंत्रण है। मानवीय श्रम निर्णायक है। पूंजीवाद में मानवीय श्रम के स्थान पर मशीन की भूमिका निर्णायक हो जाती है। शायद मार्क्स ने यह कल्पना नहीं की होगी कि एक दिन कंप्यूटर भी आएगा, जिसमें मशीन भी पीछे छूटेगी और तब तीसरी तरह का आर्थिक संबंध बनेगा। यह मार्क्स से थोड़ा आगे की स्थिति है।

दुनिया में पूँजी उनके पास सबसे ज़्यादा है, जो किसी भी स्तर पर उत्पादन कार्य से जुड़े हुए नहीं हैं, जिनमें पास कोई मील नहीं है, जिनके पास कोई कारखाना नहीं है। बिल गेट्स के पास कोई कारखाना नहीं है। लेकिन वह सबसे ज़्यादा पैसे वाला है। यह एक तीसरी स्थिति है, जो उस समय सोची नहीं जा सकती थी। लेकिन जो बीच का कारपोरेट सेक्टर है, वह इतना अधिक निर्णायक हो गया कि पूँजी उसके पास है, जिनके पास कारखाना नहीं है, जो उत्पादन से भी जुड़े हुए नहीं हैं। इन स्थितियों की और इन पेचीदगियों की कल्पना हमने नहीं की होगी कि यहाँ पर टेक्नालॉजी इस स्तर पर आ सकती है। मानवीय श्रम और मशीनी श्रम से आगे भी एक तीसरी स्थिति पैदा हो जाएगी। इसलिए 'कौन बनेगा करोड़पति' में अगर आप एक करोड़ जीत लेते हैं, तो उस तंत्र में आप किसी का शोषण नहीं करते। बाज़ार की एक अजीब स्थिति है, जिसमें आप किन्हीं तीसरे कारण से बहुत समर्थ हो सकते हैं। लेकिन यह ऐसा भी नहीं है कि इसे मार्क्सवाद के द्वारा व्याख्यायित नहीं किया जा सका। इसके बहुत गहरे सूत्र हैं क्योंकि मार्क्सवाद ने कोई आप्त वाक्य नहीं कहा, उसके भीतर उसकी व्याख्या की बहुत संभावनाएँ मौजूद हैं। तो आधुनिकता इस बात की स्थापना करती है या इस बात को स्वीकार करती है कि आर्थिक और राजनीतिक व्यवस्था ही समाज के यथार्थ और मनुष्य को व्याख्यायित करने के माध्यम होंगे। इसलिए चाहे वह वैश्विक संबंध हों या राष्ट्रीय संबंध हों, एक राज्य और दूसरे राज्यों के संबंध हो, यहाँ तक कि पारिवारिक संबंधों को भी इसी संदर्भ में समझा जा सकता है। इस तरह से धर्म और दर्शन को हटाकर यथार्थ की व्याख्या के नए उपकरणों का आविष्कार आधुनिकता शुरू करती है और ये नए उपकरण हैं राजनीति और अर्थ।

आधुनिक भाव-बोध को संभव बनाने वाली **तीन विचारकों** की भूमिका निर्णायक मानी जाती है – डार्विन, मार्क्स और फ्रायड। इन तीनों के चिंतन ने ईश्वर, धर्म और दर्शन की भूमिका को निष्प्रभावी कर दिया।.........'द ओरिजिन ऑफ स्पसीज' डार्विन की किताब है। उसमें बहुत सारी स्थापनाएँ है, लेकिन उसकी मूल स्थापना यह है कि सृष्टि का निर्माण किसी एक घटना, एक व्यक्ति या एक सत्ता से जुड़ा हुआ नहीं है। समूची सृष्टि विकास का परिणाम है और अमीबा से भी पहले से शुरू करता है जहाँ धर्म का अस्तित्व नहीं है। धरती के अस्तित्व से लेकर और धरती पर प्राणियों के उत्पन्न होने की और फिर मनुष्य के उत्पन्न होने की एक पूरी प्राकृतिक प्रक्रिया का तथ्यपूर्ण विश्लेषण डार्विन प्रस्तुत करते हैं। उस विश्लेषण ने कुछ ऐसी स्थापनाएँ कीं जिन स्थापनाओं ने मध्यकाल की समूची संरचनाओं को लगभग ध्वस्त कर दिया। उसमें दो चीज़ें बहुत निर्णायक रहीं। पहला तो उसने 'आनुवंशिकता का सिद्धांत' दिया। यह एक जैविक अनुशासन है, जो वंश परंपरा में जीवित रहती है। इसमें कहीं ईश्वर की कोई भूमिका नहीं है। इसलिए बच्चे का रंग, उसकी आवाज़, उसकी बीमारी, उसका स्वभाव बहुत हद तक अपनी रक्त परंपरा से ग्रहण करता है। अब पता चलता है कि कई ऐसे रोग हैं जो जैनेटिक होते हैं।

दूसरा उसने 'सर्वाइवल ऑफ द फिटेस्ट' का सिद्धांत दिया। जो समर्थ है , परिवर्तन की प्रक्रिया में वही बचा रह सकता है। इसलिए पाप और पुण्य, ईश्वर, नैतिकता ये सभी शब्द खत्म हो गए और उसने कहा कि जीवित रहने के लिए जो शक्तिशाली है वह कमज़ोर को मार डालेगा। इसे 'मत्स्य न्याय' हमारे यहाँ कहा गया है। मत्स्य न्याय का एक ही अर्थ होता है कि अपने जीवन की सुरक्षा के लिए हम दूसरों पर आश्रित होते हैं, दूसरों को मार सकते हैं। इसलिए जो शक्तिशाली है वह दूसरों की कमज़ोरी पर जीवित रहता है। इसलिए मध्यकाल ने पूरी दुनिया में नैतिकता के और मूल्यों के जो ढाँचे बनाए थे, जिसमें ईश्वर और धर्म को शामिल किया गया था, डार्विन ने उसको तर्क से निरस्त कर दिया। मध्यकाल के विश्वासों को बड़ा झटका इस सिद्धांत से लगा। डार्विन ने कहा कि कहीं कोई ऐसी संचित ताकत नहीं होती, बल्कि प्रकृति का नियम है और उसी नियम के आधार पर विकास हो रहा है और परिवर्तन हो रहा है।

मार्क्स को वस्तुवादी चिंतक कहा जाता है। डार्विन की कई प्रेरणाएँ उसमें हैं लेकिन मार्क्स का ध्यान अलग है। मार्क्स ने कहा कि मनुष्य के जीवन को वैयक्तिक और सामाजिक स्तर पर उसकी आर्थिक, राजनीतिक व्यवस्थाओं से व्याख्यायित किया जा सकता है। इसलिए मनुष्य की परिस्थितियों की जवाबदेही आर्थिक सामाजिक व्यवस्था पर है तथा इसमें कोई और दूसरे तत्व शामिल नहीं हैं। उसने

कहा कि इतिहास में दो ही तत्व हमेशा से मौजूद रहे हैं, एक शोषक और एक शोषित।

इन दोनों में संघर्ष रहता है। यह संघर्ष ही इतिहास की गति और दिशा को निर्धारित करता है। इसलिए कम्यूनिस्ट मैनिफ़ेस्टो में जो बात लिखी वह काफ़ी चर्चित हुई कि मानव सभ्यता का इतिहास वर्ग-संघर्ष का इतिहास है। जो सभी तरह के विश्वास हैं, जीवन पद्धतियाँ हैं, वे वर्गीय होती हैं, कोई समष्टिगत और सार्वभौमिक चीज़ नहीं होती। इसलिए राजनीतिक और आर्थिक संदर्भों में मनुष्य के जीवन का समूचा इतिहास सुरक्षित है और मनुष्य की मुक्ति एक ऐसी सामाजिक व्यवस्था में है, जिसमें संपत्ति पर कोई वैयक्तिक अधिकार नहीं होगा। अगर संपत्ति पर वैयक्तिक अधिकार का कोई भी प्रावधान शेष है, तो मनुष्य की मुक्ति नहीं है। इसलिए आर्थिक समानता को उसने मनुष्य के मोक्ष के रूप में देखा और इस आर्थिक समानता वाली दशा को उसने साम्यवाद कहा, क्योंकि सोशलिज़्म, कम्यूनिज़्म की पृष्ठभूमि है।

तीसरे **फ्रायड** हैं। मार्क्स ने मनुष्य को बाहरी संरचना में समझने की कोशिश की और फ्रायड ने उसे नितांत आंतरिक संरचना में। पेशे से साइकैट्रिस्ट होने के नाते उसने अपने सभी प्रयोग मनोरोगियों पर किए और प्रयोगों के बाद उसने निष्कर्ष निकाले कि आदमी के मन की तीन परतें होती हैं। कौंसियस (चेतना), सबकौंसियस (उपचेतन) और अनकौंसियस (अवेचतन)। यह सिद्ध किया कि आदमी का जो अवचेतन है वह कुंठाओं से भरा हुआ है। इसलिए अवचेतन ही मनुष्य के जीवन को संचालित करता है। इसलिए मनुष्य के जीवन को धर्म नहीं, अर्थ नहीं, राजनीति नहीं, बल्कि अवचेतन संचालन करता है। वह अवचेतन अनेक प्रकार की कुंठाओं से भरा हुआ है और उसमें सबसे महत्त्वपूर्ण कुंठा है सेक्स। इसके कारण उसने बताए कि मनुष्य की आदिम प्रवृत्तियों में से सिर्फ़ सेक्स है जिसपर दुनिया के सभी समाजों ने प्रतिबंध लगाया है। बाकियों पर प्रतिबंध नहीं लगाया गया। इस प्रतिबंध के कारण सेक्स अंतर्मुखी हो गया और मनुष्य के बाहरी व्यवहारों और आंतरिक व्यवहारों में एक पर्दा पड़ गया। इसलिए मनुष्य की बाहरी व्यवस्था, जो बिल्कुल धार्मिक मनुष्य की तरह दिखाई पड़ रही थी, जिसे हम नैतिकता कहते हैं समाज के द्वारा दिया गया शब्द है।

आधुनिक काल में भी हम बहुत दिनों तक कहते थे कि 'उसका चरित्र खराब है' तो इसका अर्थ यह नहीं होता था कि वह बहुत घूस लेता है। चरित्र के अच्छा और खराब होने का संबंध उसके काम-संबंधों से जुड़ा होता था। कोई आदमी अच्छा है या बुरा, उसका एक ही पैमाना था काम-संबंधों को लेकर उसका व्यवहार किस तरह का है। फ्रायड ने कहा कि चूँकि बेहद बुनियादी प्रवृत्ति पर धर्म ने

बिल्कुल शुरू से प्रतिबंध लगाया, इसलिए, प्रतिबंध से चूँकि प्रवृत्ति खत्म नहीं हो सकती, अंतर्मुखी हो गई और इस अंतमुर्खता ने मनुष्य के जीवन में द्वैत पैदा किया। इसलिए जो दिखाई पड़ता था, वह कुछ और होता था और जो होता था वह कुछ और होता था। मनुष्य का व्यक्तित्व दो भागों में बँट गया। इसलिए मनुष्य का सच वह नहीं हो सकता, जो दिखाई देता है। मनुष्य के सच को जानने के लिए हमें उसके अवचेतन में उतरना पड़ेगा।

इसलिए रचना-कर्म के पीछे भी कोई-न-कोई काम की प्रेरणा है। फ्रायड की स्थापनाओं से सहमति, असहमति की एक लंबी परंपरा मनोविज्ञान में है, लेकिन ये बातें तहलका मचा देने वाली स्थापनाएँ थीं। उसने कहा कि रचना कामजनित अतृप्ति की पूर्ति का माध्यम है। एक तरफ़ से सृजनात्मकता काम-चेतना को उदात्त बनाने की एक प्रविधि है। ऐसी स्थिति में कम-से-कम काम-चेतना को लेकर जो मध्यकाल में निवृत्ति की अवधारणा थी, उस अवधारणा को फ्रायड के चिंतन से बहुत गहरा झटका लगा, क्योंकि उसने कहा कि कामचेतना किसी भी नैतिकता से बड़ी है।

हिंदी में जब यह प्रभाव आया तो मनोविज्ञान उपन्यासों की एक धारा चल पड़ी। उस दौर में बहुत चर्चित भगवती चरण वर्मा का एक उपन्यास आया था और उस पर फिल्म भी बनी थी 'चित्रलेखा'। उसमें एक संन्यासी है, जो स्त्री को देखना नहीं चाहता। स्त्री है, जो विश्वास करती है कि कितना भी सन्यासी हो, लेकिन एक यह काम की प्रवृत्ति उसके भीतर मौजूद है। स्त्री और पुरुष की इस लड़ाई में अंततः वह सच बाहर आता है और वह अपने को समर्पित कर देता है।

हालाँकि हमारी मीमाँस में ब्रह्मचर्य का जो मूल अर्थ है, वह सेक्स से जुड़ा हुआ नहीं है। यह भी हैरान करने वाली बात है। ब्रह्मचर्य का अर्थ होता है, ऐसा आचरण जो ब्रह्म की तरफ़ जाता हो। यानी बहुत बड़े विराट लक्ष्य के लिए जब आप अपने आचरण को निर्धारित करते हैं, तो उस जीवन-पद्धति को हम ब्रह्मचर्य कहते हैं। इस तरह से पवित्रता और नैतिकता की जिस अवधारणा को मध्यकाल ने निर्मित किया था फ्रायड के 'साइकोइनेलेसिस' (किताब का नाम) ने इसको पूरी तरह से ध्वस्त कर दिया।

अंतिम धक्का **नित्से** के इस कथन से लगा कि ईश्वर मर गया है। यह वह पृष्ठभूमि थी, जिसने आधुनिक भाव-बोध की चेतना और तर्क प्रणाली को एक ठोस आधार दिया है। इस आधुनिक भाव-बोध का विश्वव्यापी प्रसार हुआ। धीरे-धीरे और इस आधुनिक भाव-बोध की शुरुआत सामाजिक चिंतन में और साहित्य में 19वीं शताब्दी में होती है। इसलिए हिंदी साहित्य के आधुनिक काल पर जब हम बातचीत करते हैं, तो उसमें तिथि या एक समय निर्धारित कर देते हैं। क्योंकि इतिहास में समय का सगुण होना बहुत ज़रूरी है।

दरअसल जो इतिहास है वह स्वयं में सगुण की यात्रा में जीवित रहता है। इतिहासकारों ने कहा कि हिंदी में आधुनिक काल का सूत्रपात 1857 से माना जाना चाहिए। हालाँकि भारतेंदु का जन्म 1850 में हुआ है और भारतेंदु आधुनिक काल के सबसे प्रमुख रचनाकार, चिंतक और पत्रकार हैं। लेकिन कुछ कारणों से 1857 को मना गया। पहला कारण तो यह माना गया कि 1857 पूंजीवाद और साम्राज्यवाद बनाम सामंतवाद की मुठभेड़ का वर्ष है। सामंतवाद और पूंजीवाद के इस संघर्ष में सामंतवाद की पराजय होती है और पूंजीवाद साम्राज्यवाद के माध्यम से अपनी सत्ता को स्थापित करता है। इसलिए एक पूंजीवादी व्यवस्था के प्रस्थान का वर्ष होने के नाते 1857 आधुनिक काल का प्रस्थान बिंदु मान लिया गया है। लेकिन आधुनिकता की यह प्रक्रिया 1857 से पहले से शुरू हो गई थी।

इसलिए आधुनिक भाव-बोध की संगठित अभिव्यक्ति **नवजागरण** के माध्यम से हुई। दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि विश्व-चिंतन के माध्यम से जो आधुनिक स्थापनाएँ अस्तित्व में आईं, उनकी पहली अभिव्यक्ति 19वीं शताब्दी में नवजागरण के माध्यम से हुई। इसलिए भारतीय आधुनिकता को नवजागरण की चेतना अभिव्यक्ति देती है। जो पूरा आधुनिक भाव-बोध है, आधुनिक विचार सारणियाँ हैं वे नवजागरण के माध्यम से व्यक्त हुई हैं। इसलिए नवजागरण भारतीय चिंतन के आधुनिक मोड़ की अभिव्यक्ति है। यहीं से भारतीय चिंतन में आधुनिक भाव-बोध के दर्शन शुरू होते हैं।

नवजागरण परंपरा और संस्कृति को वैज्ञानिक तर्क-विधान और सामाजिक राजनीतिक अभिप्रायों से जोड़ने वाली चेतना है। शायद यही कारण है कि नवजागरण में एक भी ऐसा चिंतक नहीं है, जो अवतारवाद और मूर्ति पूजा का समर्थन करता हो। दयानंद सरस्वती ने जब वेदों की व्याख्या की तो, उसपर वैज्ञानिक तर्कवाद का निर्णायक प्रभाव दिखाई देता है। आस्था के स्थान पर तार्किकता को अधिक विश्वसनीय मानते हुए उन्होंने वेदों की वैज्ञानिक व्याख्या की। नवजागरण का समूचा बल राजनीतिक अभिप्रायों पर है। दयानंद सरस्वती का भी जो समूचा बल है वह हमारी परंपरा, सामाजिक संरचना के संशोधन पर उसके ढाँचे के बदलावों पर एक नई प्रकार की प्रक्रिया के निर्माण पर है।

वरिष्ठतम चिंतक राजाराम मोहन राय माने जाते हैं। ब्रह्म समाज की स्थापना के द्वारा उन्होंने सामाजिक विश्वासों में भी एक प्रकार से हस्तक्षेप किया। सती प्रथा पर प्रतिबंध लगवाया। इसलिए नवजागरण की जो मूल चिंता है वह धार्मिक नहीं है। नवजागरण की मूल चिंता सामाजिक है और यह सामाजिकता अमूर्त नहीं है। इस सामाजिकता को परंपरा, स्त्री-पुरुष संबंधों, वर्ण-व्यवस्था इत्यादि में देखा जा

सकता है। यह नवजागरण की चेतना क्यों उत्पन्न हुई? नवजागरण की चेतना की उत्पत्ति का कारण भी ईश्वरीय नहीं है। हिंदी के इतिहास में नवजागरण के उत्पन्न होने के कारणों की अलग-अलग व्याख्या मिलती ज़रूर है, लेकिन ये सभी कारण लौकिक भाव-बोध से जुड़े हुए हैं।

पश्चिमी चिंतकों की धारणा है कि नवजागरण की चेतना का सूत्रपात सीधे-सीधे पश्चिम के प्रभाव का परिणाम है। क्योंकि पश्चिम का ज्ञान-विज्ञान, उसके चिंतन, उसकी तर्क प्रणाली से जब हिंदुस्तान के लोग अवगत हुए, तो उन्होंने अंधविश्वास, जड़ता और यथास्थितिवाद में डूबे हुए समाज को बाहर निकालने की कोशिश की, रोशनी देने की कोशिश की। लेकिन भारतीय चिंतकों की यह मान्यता है कि नवजागरण वस्तुतः पश्चिम और पूर्व की टकराहट का परिणाम था और ज्ञान और विवेक के नए आलोक में अपनी सांस्कृतिक और जातीय अस्मिता की व्याख्या थी नवजागरण की चेतना। इसलिए नवजागरण वस्तुतः दो तरह की संस्कृतियों के टकराव का परिणाम था।

नवजागरण की प्रक्रिया के तीन क्षेत्र तो बहुत स्पष्ट हैं – बंगाल का नवजागरण, महाराष्ट्र का नवजागरण और फिर हिंदी क्षेत्र का। हिन्दी क्षेत्र का जो नवजागरण है, उस नवजागरण में जातीय अस्मिता के साथ-साथ इतिहास की पुनर्व्याख्या का प्रश्न भी बहुत महत्त्वपूर्ण है। इसलिए तीन बातें साफ़ तौर पर नवजागरण के संदर्भ में देखी जा सकती हैं। इसमें पहली है, **इतिहास की पुनर्व्याख्या**। इतिहास की पुनर्व्याख्या के दबाव के परिणामस्वरूप भारतेंदु काल में अनेक ऐसे नाटकों की रचना हुई, जिनका विषय इतिहास है।

नीलदेवी इसमें सबसे महत्त्वपूर्ण नाटक माना जाता है। इस नवजागरण में इतिहास को कैसे ग्रहण किया गया है, यह प्रश्न महत्त्वपूर्ण है। इसमें इतिहास के प्रति एक भाववादी दृष्टि है। इतिहास भारतीय अस्मिता के गौरव का पर्याय है। इसलिए इतिहास ऊर्जा का स्रोत है और अपनी श्रेष्ठता के बोध का भी। इसलिए इतिहास के माध्यम से ही एक पूरे समाज और जाति को हीनता की ग्रंथि से मुक्त किया जा सकता है। ऐसा विश्वास नवजागरण के बोध में दिखाई देता है।

इतिहास को लेकर जो आधुनिक काल में आधुनिक सजगता दिखाई पड़ती है, वह अकारण नहीं है, क्योंकि साम्राज्यवाद यह मानकर चल रहा था कि इतिहास की मनचाही व्याख्या के द्वारा ही एक उपनिवेश की स्मृति को और उसके आत्मविश्वास को ध्वस्त किया जा सकता है। दूसरी तरफ़ जो भारतीय चिंतन परंपरा के लोग थे वे कह रहे थे कि इतिहास की सुरक्षा, स्मृति की सुरक्षा है, संस्कृति की सुरक्षा है। इतिहासबोध ही हमें स्वाधीनता या स्वतंत्रता की तरफ़ ले जा सकता है, हमें संघर्ष की ताकत दे सकता है। इसलिए बंकिम चंद्र चट्टोपाध्याय ने एक स्थान पर लिखा

है कि 'इतिहास का ज्ञान ही किसी जाति का आत्म-ज्ञान है।' इसलिए इतिहास की सुरक्षा अनिवार्य है। जाति की स्मृति को और उसकी अस्मिता को बचाए रखना है।

इतिहास की पुनर्व्याख्या के प्रसंग में ही बहुत सारे ऐतिहासिक नाटकों का सूत्रपात भारतेंदु युग में संभव हो पाता है और यह प्रक्रिया यहीं तक थमती नहीं है, यह सीधे प्रसाद युग तक जाती है। प्रसाद के सभी नाटक ऐतिहासिक हैं और इन नाटकों के आधार पर ही प्रसाद यह कह सकते थे 'जीएँ तो सदा उसी के लिए, यही अभिमान रहे यह हर्ष। निछावर कर दें हम सर्वस्व, हमारा प्यारा भारतवर्ष।' और यह प्यारा भारतवर्ष कैसा है? 'चंद्रगुप्त' में कारनेलिया एक गीत गाती है 'अरुण यह मधुमय देश हमारा, जहाँ पहुँच अनजान क्षितिज को मिलता एक सहारा।' स्कंदगुप्त में – 'हिमालय के आंगन में प्रथम किरणों का दे उपहार, उषा ने हँसी अभिनंदन किया और पहनाया हिरक हार।' धूप की पहली किरण, ज्ञान की पहली किरण, जिसके आंगन में उतरती है वह देश भारत है। 'जगे हम लगे जगाने विश्व, लोक में फैला फिर आलोक।' पहले हम जगे और इस तरह से हमने दुनिया को जगाया। प्रकाश को बाँधकर सीमित नहीं रखा, नींद में डूबी हुई समूची दुनिया को जगाने का हमने काम किया। अपने वर्तमान की बेहद त्रासद दुर्दशा से इतिहास के गौरव के माध्यम से ही लड़ा जा सकता था। इसलिए प्रसाद के नाटक भारतीय इतिहास के स्वर्ण काल को अपनी रचना का विषय बनाते हैं।

तुलसीदास कई बार इतिहास का प्रयोग तो करते हैं, लेकिन इतिहास से कोई ऐसी रचना बनाई हो, यह प्रवृत्ति कहीं भी दिखाई नहीं देती। यह नवजागरण की चेतना या आधुनिक भाव-बोध का प्रभाव है कि इतिहास इतना महत्त्वपूर्ण हो उठता है। इतिहास को ऊर्जा के स्रोत के रूप में नवजागरण और इस समय का साहित्य ग्रहण करता है। इसलिए ऐसे व्यक्तित्वों की परिकल्पना की गई जिस पर कोई भी समाज और जाति गर्व कर सकता हो। उसमें बड़ा महत्त्वपूर्ण चरित्र है चाणक्य। इसलिए एक समग्र राष्ट्र की अवधारणा की परिकल्पना प्रसाद चंद्रगुप्त में करते हैं। चंद्रगुप्त की वास्तविक चिंता प्रांतों, जातियों और क्षेत्रों में बँटा हुआ जो देश है, उसको एक में जोड़ने की है। इसलिए इतिहास राष्ट्रीय चेतना का वाहक बना।

फिर एक इतिहास के साथ **सामाजिक, आत्मिक मंथन** की चेतना भी, जो नवजागरण की विशेषता कही जा सकती है। यानी परंपरा के अंधकार पक्ष से मुठभेड़। कोई भी जाति अथवा कोई समाज अगर अपनी नकारात्मक स्थिति को देखने की शक्ति और क्षमता खो देता है, तो वह जड़ और पतनशील हो जाता है।

कुछ विचारकों की यह मान्यता है कि आधुनिक भाव-बोध के केंद्र में वर्तमान है और वर्तमान है भारत दुर्दशा। आत्ममंथन, यानी अपनी सीमाओं, अपनी सामाजिक

विसंगतियों और विडंबनाओं की पहचान। यह नवजागरण की चेतना का दूसरा प्रभाव है, जो हिंदी साहित्य के आधुनिक काल के प्रस्थान बिंदु पर दिखाई देता है। इसलिए भारतीय समाज-व्यवस्था की जो विसंगतियाँ और कमियाँ हैं, उन विसंगतियों और कमियों की तरफ़ रचनाकारों का ध्यान गया और यही कारण है कि अधिकतर सामाजिक साहित्य के केंद्र में स्त्री है।

हिंदू परंपरा और हिंदी संस्कृति की अनेक विसंगतियाँ हैं। स्त्री को लेकर भारतीय समाज की जो सोच है और भारतीय समाज की जो स्थापनाएँ हैं, मान्यताएँ और संस्कार हैं, उन मान्यताओं, संस्कारों और विचारों पर पुनर्विचार की प्रक्रिया का आरंभ नवजागरण में भी और साहित्य में भी होता है। इसलिए 'दुखनी बाला' 'विधवा विलाप' जैसी रचनाओं की सृष्टि संभव हुई। भारत की धार्मिक परंपरा में, जो उपलब्ध विकृतियाँ हैं, इन विकृतियों पर भारतेंदु ने एक नाटक लिखा 'विषस्य विषमौषधम्' और एक दूसरा नाटक उन्होंने लिखा 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति।' धर्म के नाम पर चलने वाले पाखंड या प्रभु वर्ग के साथ जो धर्म की अभिसंधि है, धर्म को वह परिभाषित करता है, जो शक्तिशाली है। जो शक्तिशाली है वह मांस खाकर भी पुण्यात्मा हो सकता है, क्योंकि धर्म में इस तरह की व्यवस्था कर दी गई है।

अगर कोई कमज़ोर ऐसा कृत्य करेगा, तो उस कृत्य को अधार्मिक कहा जा सकता है और अगर वही कृत्य शक्तिशाली करे, तो धार्मिक कहा जा सकता है। इसकी चर्चा सामान्यत. इस युग के रचनाकारों ने की। इसलिए स्त्री और शूद्र को सामाजिक पुनर्विचार के पाठ्यक्रम में जैसे शामिल कर लिया गया। कोई भी समाज अपनी परिवर्तन की प्रक्रिया को स्त्री और शूद्र को शामिल किए बिना, प्रामाणिकता के साथ संपन्न नहीं कर सकता। इसलिए वर्ण व्यवस्था और स्त्री के प्रति स्थापित परंपरागत दृष्टिकोण पर इस युग की रचनाओं में प्रश्नचिह्न लग गया। इस तरह से आधुनिक हिंदी साहित्य के आधुनिक काल और हिंदी में आधुनिक काल की चेतना के निर्माण का पहला कारक है नवजागरण।

लेकिन इसके साथ-साथ कुछ दूसरे कारण भी हैं, जिनसे हिंदी की आधुनिक चेतना का निर्माण होता है। उन दूसरे कारणों में है **गद्य का उदय**। निराला ने गद्य को जीवन संग्राम की भाषा कहा है। कविता मनुष्य की आकांक्षाओं और सपनों की भाषा है। कविता भावनाओं, सपनों, आकांक्षाओं, कल्पनाओं की अभिव्यक्ति का माध्यम है। गद्य में मनुष्य और समाज के विचार, उसके जीवन का यथार्थ, उसकी परिस्थितियाँ, उसके संघर्ष इत्यादि अभिव्यक्ति पाते हैं। आधुनिक विश्वासों के सूत्रपात के कारण, बुद्धि महत्त्वपूर्ण हो गई, तर्क महत्त्वपूर्ण हो गया। विश्वासों के स्थान पर विवेक ने जगह ली।

इसलिए आधुनिक परिस्थितियों के अवतरण के कारण कविता का अनुशासन जीवन की अभिव्यक्ति के लिए अपर्याप्त पड़ने लगा। यह अकारण नहीं है कि इस देश की परंपरा में हज़ारों वर्षों से जो कविता समाज और कवि के सपनों और रचनात्मकता का केंद्रीय माध्यम थी, वह एकाएक कम पड़ने लगी। क्योंकि जीवन अब वैसा नहीं रह गया था, जैसा एक ठहरे हुए स्थितिशील समाज में था। जीवन में गतियाँ शुरू हुईं। संस्कृतियों का संघात 19वीं शताब्दी में विकसित हुई और जब एक बाहर की संस्कृति आई, जो वस्तुतोन्मुखी थी, तो उसके साथ-साथ एक जीवन प्रणाली भी आई। इस जीवन प्रणाली को अध्यात्मवादी संस्कृति निरस्त नहीं कर सकी, उसे पराजित नहीं कर सकी। इसलिए वस्तुवादी संस्कृति के प्रभाव का अध्याय शुरू हुआ और पुरानी चीज़ों के टूटने का सिलसिला भी। पश्चिम की या इंग्लैंड की पूँजीवादी संस्कृति का प्रभाव समाज में किस रूप में पड़ना शुरू हुआ और प्रभाव के परिणाम क्या हुए, इस संदर्भ में बहुत महत्त्वपूर्ण औपन्यासिक कृतियाँ हैं, जो देखी जानी चाहिए।

एक कृति ताराशंकर बंदोपाध्याय की है 'गणदेवता' और दूसरी रवींद्रनाथ ठाकुर की 'गोरा'। जीवन झील की तरह ठहरा हुआ है। पश्चिम संस्कृति के प्रभाव से किसी तरह हलचलों से जुड़ता है। यह बहुत आश्चर्यजनक दिखाई देता है। 'गणदेवता' में गाँव के लोगों की प्रक्रिया देखें, एक बढ़ई कहता है कि अब मैं हल दूँगा नहीं, बेचूँगा। और वह एक नुक्कड़ पर जाकर बैठ जाता है। नाई कहता है कि मैं पैसे लेकर हजामत बनाऊँगा और लुहार पैसे के बदले में कृषि के औज़ार देने की बात करता है। भारतीय समाज के लिए ये स्थितियाँ बहुत स्तंभित कर देने वाली स्थितियाँ हैं। चूँकि पूँजीवाद बाज़ार को लागू करता है। ये बाजार के बिल्कुल प्रारंभिक रूप होंगे। जो शताब्दियों से बनी हुई व्यवस्था धीरे-धीरे टूटनी शुरू होती है।

यह जो टूटता हुआ जीवन है, इस जीवन को हलचल की कविता के माध्यम से व्यक्त नहीं किया जा सकता था। इसलिए कविता की अपर्याप्तता का संबंध उसकी विधा की सीमाओं से नहीं है। ऐसा नहीं है कि कविता की शक्ति छोटी पड़ गई है। सच यह था कि जीवन बदल रहा था और इस बदलते हुए जीवन को बुद्धि की भाषा से ही व्यक्त किया जा सकता था, भावना की भाषा से नहीं। इसलिए गद्य अपरिहार्य हो गया।

ऐसा नहीं है कि गद्य था नहीं। लोग कविता में बात नहीं करते थे, बात तो गद्य में ही होती थी। लेकिन गद्य रचना का माध्यम नहीं था। गद्य को रचना के माध्यम के रूप में ग्रहण किया गया और यह अकारण नहीं है कि आधुनिक परिस्थितियों को जिस भाषा में रचना का विषय बनाया गया, वह भाषा गद्य की थी।

इसलिए नाटकों की शुरुआत गद्य में होती है। आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने ठीक लिखा है कि यह विलक्षण बात है कि हिंदी गद्य की शुरुआत नाटकों के माध्यम से हुई।' नाटक में जो विषय उठाए गए थे वे वर्तमान जीवन के थे। समस्याएँ वर्तमान जीवन की थीं। इसलिए एक बनते हुए नए समाज और टूटते हुए पुराने समाज का जो संक्रमण है, उसकी हलचल को थामने की ताकत कविता में नहीं रह गई थी। इसलिए गद्य आया। तो गद्य का उदय भी आधुनिक भाव-बोध के विकास में बहुत सहायक सिद्ध हुआ।

भाषा के बिना किसी भी प्रकार के भाव-बोध की अभिव्यक्ति संभव नहीं होती। बोध तो हो सकता है, अभिव्यक्ति संभव नहीं है। इसलिए बच्चे को क्रोध आता है लेकिन वह गाली नहीं देता, क्योंकि उसे अभी भाषा नहीं आती। वह अभिव्यक्ति रोने से कर सकता है। गद्य ने आधुनिक भाव-बोध की अभिव्यक्ति को संभव बनाया। इसलिए गद्य का उदय आधुनिक भाव-बोध और परिस्थितियों की अपेक्षाओं के दबाव से हुआ।

गद्य में अभिव्यक्ति की जो प्रणालियाँ विकसित हुईं, जिसे हम आधुनिकता का अभिलक्षण कह सकते हैं, उसमें से एक अनुशासन पत्र-पत्रिकाएँ हैं। अगर गद्य न होता, तो पत्र-पत्रिकाएँ नहीं होतीं, अखबार नहीं हो सकता था। 19वीं शताब्दी में पत्रकारिता का आरंभ होता है। इसका कारण यह था कि समाज की राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक परिस्थितियों को तर्क और वैचारिक अनुशासन में व्यक्त करने की ज़रूरत थी। इस आधुनिक भाव-बोध और उसके दबाव से उत्पन्न हुए गद्य के लिए इतिहास में नई विधाओं का सूत्रपात हुआ और उसमें से जो बहुत सशक्त था, वैचारिक अभिव्यक्ति के माध्यम के रूप में, वह थी पत्रकारिता। इसलिए पत्रकारिता ने हिंदी गद्य को विचार और जीवन की हलचलों से जोड़ा। यह अकारण नहीं है कि भारतेंदु युग के जितने रचनाकार हैं, वे अनिवार्यतः सभी पत्रकार भी हैं।

19वीं शताब्दी में किसी ऐसे रचनाकार की कल्पना असंभव है, जो पत्रकार न हो क्योंकि पत्रकारिता जीवन के साथ प्रत्यक्ष संवाद का प्रमाण था। आधुनिकता और नवजागरण की जो मुख्य चिंता थी-समाज को विचार के स्तर पर परिवर्तित करना, इस परिवर्तन का माध्यम गद्य और गद्य को ढोने वाली पत्रिकाएँ ही हो सकती थीं। इसलिए हम गद्य को आधुनिक भाव-बोध के विकास का, नवजागरण के बाद, दूसरा प्रेरक तत्व कह सकते हैं।

इस प्रक्रिया में गद्य की चेतना को अथवा गद्य की भाषा को तीव्र करने में कुछ संस्थाओं के योगदान को भी स्वीकार किया गया है जिसमें फोर्ट विलियम कालेज का नाम सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। गद्य की चेतना को तीव्रतर करने और गद्य को

अधिक समर्थ बनाने में फोर्ट विलियम कॉलेज का योगदान सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। 'जॉन गिल क्राइस्ट' इसके भाषा विभाग के निदेशक थे। बड़े पैमाने पर ज्ञान-विज्ञान की पुस्तकों का अनुवाद हुआ। स्कूल में पढ़ाई जाने वाली पुस्तकों का पाठ भी हिंदी में तैयार कराया गया और कुछ दिनों के लिए हिंदी को शिक्षा के माध्यम के रूप में लागू किया गया। इस तरह से फोर्ट विलियम कॉलेज ने अनुवादों के माध्यम से हिंदी गद्य को विकसित करने में अपनी ऐतिहासिक भूमिका निभाई और प्रकारांतर से आधुनिकता को भी विकसित करने में। इस तरह से आधुनिक भाव-बोध को हिंदी क्षेत्र में विकसित करने में गद्य का विकास और गद्य की चेतना तथा ऊर्जा को तीव्रतर बनाने में फोर्ट विलियम कॉलेज का नाम आदर के साथ लिया जाता है। इसमें ईसाई मिशनरियाँ भी थीं, जिन्होंने बाइबिल का अनुवाद किया और बड़े पैमाने पर छापा तथा वितरित किया। ये वे तमाम कारण थे, जिनके कारण एक भाषा मिली।

गद्य आधुनिकता की भाषा है। एक ऐसी भाषा, जो ब्रजभाषा से भिन्न थी। इस तरह से 19वीं शताब्दी में दो समानांतर धाराएँ साहित्य से शुरू हुईं। पहली धारा मध्यकालीनता की थी, जो कविता में जीवित थी, दूसरी धारा आधुनिकता की थी, जो गद्य में विकसित हुई। इस तरह से हिंदी साहित्य के संदर्भ में आधुनिकता की प्रारंभिक स्थिति बहुत संश्लिष्ट है। वह निर्णायक रूप से विशिष्ट नहीं दिखाई देती। आधुनिकता और मध्यकालीनता 19वीं शताब्दी के हिंदी साहित्य में एक-दूसरे से उलझी हुई दिखाई देती है। विचारों और संस्कारों का संक्रमण दिखाई दे रहा है। इसलिए हिंदी साहित्य के प्रस्थान काल, यानी भारतेंदु काल में, आधुनिकता और मध्यकालीनता एक-दूसरे से लिपटी हुई दिखाई देती हैं। इसलिए हिंदी साहित्य के संदर्भ में हम कह सकते हैं कि भारतीय आधुनिकता और मध्यकालीनता की संश्लिष्टता दिखाई देती है।

धीरे-धीरे विकसित होती हुई आधुनिकता द्विवेदी युग तक आते-आते ब्रजभाषा से मुक्त होती है और परंपरा के कई प्रसंगों का निषेध कर देती है। मसलन रीतिकाल की कविता ही द्विवेदी युग की चुनौती है। महावीर प्रसाद द्विवेदी ने लिखा कि यदि हिंदी कविता को आधुनिक और सामाजिक बनाना है, तो उसे रीतिकाल के प्रभावों से पूरी तरह मुक्त करना होगा। जबकि भारतेंदु युग की कविता पर रीतिकाल का ही प्रभाव है। तो आप देखते हैं कि भारतेंदु युग, जो आधुनिकता का प्रस्थान काल है, उस पर मध्यकाल का प्रभाव है और आधुनिक स्थितियों की मुठभेड़ भी है। कविता आगे चलकर मध्यकालीनता को छोड़ती है और छायावाद में जाकर कविता थोड़ी और सूक्ष्म होती है।

इस तरह से आधुनिक काल साहित्य में एक ऐसी पृष्ठभूमि का निर्माण करता है, जिसके केंद्र में मनुष्य, उसका समाज, उसकी लौकिक परिस्थितियाँ रचना का

विषय बनती हैं। इसलिए मध्यकालीन प्रभावों के परिणाम स्वरूप ईश्वर की चर्चा तो है, लेकिन आध्यात्मिक संदर्भ में नहीं है। '*कहाँ करुणानिधि केशव सोये।*' देश में इतना दुख है, पराधीनता है, दीनता है और अभी भी तुम सोये हुए हो। '*जागहु भारतनाथ, बेगि जागहु अब जागहु।*' ईश्वर के लिए पहली बार नए संबोधन का प्रयोग है। दीनानाथ हैं, दीनबंधु हैं, दयासागर हैं, ये सब पुराने हैं। लेकिन भारतनाथ जैसे राजनीतिक शब्द का इस्तेमाल ईश्वर के साथ किया गया। इससे पता चलता है कि एक नई तरह की चेतना उस मध्यकालीनता के केंचुल को फाड़कर निकल रही है। एक और पंक्ति है-'हम आरत भारतवासिन पे, अब दीनदयाल दया करिए।' तो आप देखेंगे कि संबोधन का पूरा लहजा बदल गया हे, उसका परिप्रेक्ष्य बदल गया है। लेकिन ईश्वर की चर्चा कहीं-न-कहीं है।

यह चर्चा आधुनिकता के दूसरे चरण द्विवेदी युग में दिखाई देती है। लेकिन यहाँ पर ईश्वर को मनुष्य होने पर बाध्य कर दिया गया है। 'साकेत' की भूमिका में मैथिलीशरण गुप्त ने लिखा कि राम यदि तुम ईश्वर हो, तब मैं तुम्हारी कथा कहने की कोशिश नहीं कर सकता। तुम्हारी कथा इसलिए कह रहा हूँ क्योंकि तुम मनुष्य हो। ईश्वर का मानवीकरण किया गया, ईश्वर की चर्चा हुई, लेकिन ईश्वरत्व को छोड़कर। उसकी व्याख्या आधुनिक संदर्भों में संभव हो पाई। तो इस तरह से आधुनिक काल अनेक चरणों से गुज़रता हुआ, चुनौतियों के हिसाब से अपने को परिवर्तित करता हुआ, अंततः नई कविता और उसके बाद तक आता है। यह आधुनिक काल की वह पृष्ठभूमि है, जिसके संदर्भ में हम सब इसके विभिन्न कालों की प्रवृत्तियों पर विचार करेंगे। इस संदर्भ में पहला काल होगा **भारतेंदु युग**।

1. भारतेंदु युग का नामकरण
2. भारतेंदु युगीन काव्य का स्वरूप

क्या भारतेंदु युगीन काव्य अपनी पूर्ववर्ती धारा का परिवर्द्धित और विकसित रूप है या सर्वथा नवीन रूप?

भारतेंदु युगीन काव्य धारा अपनी पूर्ववर्ती का ही सहज विकास है। वह नितांत नई नहीं है, किंतु उस पर आधुनिक जीवन-परिस्थितियों का गहरा प्रभाव है। प्राचीन काव्यधारा अपनी प्रवणता के कारण आधुनिक धारा को अपने भीतर आत्मसात कर लेती है-भारतेंदु युग में। क्या भारतेंदु युग में पुरानी धाराओं ने नई धाराओं को आत्मसात किया या नई धाराओं ने पुरानी धारा को अपने भीतर विगलित कर लिया?

भारतेंदु युग से पूर्व रीतिकाल था और उससे पूर्व भक्तिकाल था। भक्तिकाल की धारा रीतिकाल से होकर क्षीण रूप में भारतेंदु युग तक पहुँचती है। भारतेदु युग में भक्ति के तीन स्वरूप मिलते हैं –

1. निर्गुण भक्ति धारा-(संत + सूफी)

सूफी काव्य भारतेंदु युग में नहीं मिलते, किंतु संतों की निर्गुण धारा का अस्तित्व इस युग में मिलता है।

2. वैष्णव-भक्ति की काव्य धारा-(रामकाव्य और कृष्णकाव्य)

भारतेंदु युग में कृष्ण भक्ति-काव्य की प्रमुखता है। इस युग में, अपवादों को छोड़कर, रामकाव्य नहीं लिखा गया। विचारणीय प्रश्न है कि भारतेंदु युग में केवल कृष्णकाव्य को ही प्रमुखता मिली, रामकाव्य को नहीं – क्यों? रीतिकाल तक आते आते राम-भक्ति काव्य लुप्तप्राय हो गया था। राम-भक्ति मर्यादा और शील पर आधारित थी। उसमें शृंगार भी मर्यादित है। राग-तत्व संयमित है। राम भक्ति में स्वकीया प्रेम है। यानी राम काव्य मर्यादा और शील का काव्य है।

रीतिकाल की परिस्थितियाँ सामंती और दरबारी थीं। ऐसे वातावरण में मर्यादित राम भक्ति का कोई अवकाश नहीं था। रीतिकाल में यद्यपि राम-काव्य लिखा गया, लेकिन उसका स्वरूप बदला हुआ था। रीतिकाल में माधुर्य भक्ति को प्रधानता मिली।

कृष्ण-भक्ति काव्य प्रेम-काव्य है। उसमें राग और आवेश की प्रधानता है। उसमें परकीया प्रेम की प्रधानता है। स्वकीया से परकीया प्रेम में अधिक आकर्षण है। माधुर्य, भक्ति का प्रभाव रीतिकाल में राम-काव्य पर भी पड़ा। राधा-कृष्ण के पीछे रीतिकाल के सामान्य नायक-नायिका हैं। राम-भक्ति काव्य प्रबंध काव्य है और रीतिकाव्य मुक्तक। अत: काव्य रूप की दृष्टि से मनोवैज्ञानिक, सामाजिक और ऐतिहासिक दृष्टि से रीतिकाल में रामकाव्य का निर्वाह संभव नहीं था। भारतेंदु युग ने विरासत में कृष्ण-काव्य को प्राप्त किया। उसकी काव्य संवेदना पर रीतिकालीन चेतना का गहरा प्रभाव लक्षित होता है और यह स्वाभाविक ही है।

3. **ईश्वर और देश-प्रेम की समन्वित भक्ति**-यह धारा सर्वथा नई है। इस धारा में भक्तिकालीन स्वर की प्रधानता नहीं थी। भारतेंदु कालीन कवि ईश्वर का आह्वान अपने लिए नहीं, देश और समाज के लिए करता है। देश और समाज की चिंता पुनर्जागरण का प्रतिफलन है।

भारतेंदु युगीन काव्य में ऐहिकता और सांसारिकता पर अधिक ध्यान है, पारमार्थिकता का नहीं। यही संदर्भ पूर्ववर्ती धारा से भारतेंदु युगीन काव्य को अलग करती है।

परिवेश

राजनीतिक—ब्रिटिश शासन की नींवें मजबूत हो गईं और मुगल-शासन पूरी

तरह ध्वस्त हो गया। इस परिवर्तन के प्रति मिश्रित प्रतिक्रिया तत्कालीन साहित्यकारों में हुई। ब्रिटिश सत्ता का दृढ़ होना-एक महत्त्वपूर्ण घटना बनी। लार्ड बेंटिक और डलहौजी ने कई प्रकार के सुधार किए।

ब्रिटिश शासन ने आपसी झगड़े की जड़ें उखाड़ दीं। इस कदम से सामान्य जनता को चैन मिला।

भारतेंदु युग में **राजभक्ति और राष्ट्र भक्ति का विचित्र समन्वय** है। एक ही कवि महारानी विक्टोरिया की वंदना भी करता है और कहीं-कहीं ब्रिटिश सत्ता की आलोचना भी करता है। क्यों? क्योंकि तत्कालीन साहित्यकारों ने अंग्रेज़ी शासन से प्राप्त शांति और सुव्यवस्था की प्रशंसा की, तो दूसरी तरफ़ उनके आर्थिक शोषण का विरोध भी किया। उस समय जो भीषण अकाल पड़े, उन अकालों में ब्रिटिश भूमिका की अमानवीयता को देखकर साहित्यकारों ने उसकी भर्त्सना भी की। भारतेंदु ने 'भारत-दुर्दशा' नामक पुस्तक लिखी। राजभक्ति और राष्ट्रभक्ति का काव्य एक नवीन स्वर था।

यातायात के साधनों एवं संचार-साधनों का विकास हुआ तथा एक केंद्रीय सत्ता की स्थापना हुई। अंग्रेज़ों से पूर्ण भारत की जनता में सांस्कृतिक एकता के बावजूद राजनीतिक एकीकरण का सर्वथा अभाव था। पहले क्षेत्रीय भावना है। अंग्रेज़ों द्वारा भारत का राजनीतिक एकीकरण के फलस्वरूप पहली समग्र राष्ट्रीयता की भावना का संचार हुआ और साहित्यकारों ने अपनी रचनाओं में राष्ट्रबोध और देश-प्रेम को अभिव्यक्ति दी – 'हमारो उत्तम भारत देश।'

भारतेंदु युगीन काव्य-धारा में राष्ट्रभक्ति और राजभक्ति का स्वर इतना प्रबल है कि भक्ति की अन्य धाराएँ गौण प्रतीत होने लगती हैं।

भारतेंदु युगीन कवियों का व्यंग्य चुटीला है। इस युग में मुकरियों के द्वारा हास्य-व्यंग्य किया गया है। 'भीतर-भीतर सब रस चूसै....

भारतेंदु युग की नवीनता

1. देश की अखंड चेतना
2. देश प्रेम-ईश्वर प्रेम
3. अंग्रेज़ों के प्रति आक्रोश
4. ऐहिकता की प्रधानता।

मध्ययुग और आधुनिक युग की विभाजक रेखा है – युग चेतना।

भारतेंदु युग की सामाजिक चेतना एवं शिल्पगत नवीनताएँ।

सामाजिक चेतना की पृष्ठभूमि नवजागरण इसका प्रेरणा स्रोत था। पाश्चा

शिक्षा, पत्र-पत्रिकाएँ और धार्मिक आंदोलनों (आर्य समाज, ब्रह्म समाज) ने इस नवजागरण का सूत्रपात किया। इस नवजागरण का प्रभाव साहित्यकारों पर पड़ा। किंतु कुछ कवि इस सामाजिक चेतना से प्रभावित नहीं हुए।

आर्य समाजियों ने अस्पृश्यता और वर्णाश्रम-व्यवस्था का विरोध किया था। अंबिका दत्त व्यास और राधा चरण गोस्वामी ने इस सामाजिक नवजागरण से प्रभाव ग्रहण नहीं किया। इन्होंने अपनी कविताओं में वर्णाश्रम का समर्थन किया।

भारतेंदु ने बाल-विवाह और वर्णाश्रम का विरोध करते हुए विधवा-विवाह का समर्थन किया-"बहुत फैलाए हमने धर्म, बढ़ाया, छुआछूत का कर्म।" भारतेंदु युग में नई चेतना जागने के बावजूद समानांतर दिशा में दो परस्पर विरोधी प्रवृत्तियां चलती रहीं। यही विरोध राजनीतिक चेतना में भी लक्षित होता है-राष्ट्र भक्ति और राजभक्ति के रूप में।

अंतर्विरोधों की यह प्रवृत्ति भाषा, शैली और छंद में भी लक्षित होती है।

भाषा-ब्रजभाषा और खड़ी बोली का संघर्ष आरंभ हुआ। द्विवेदी युग में खड़ी बोली को काव्य में मान्यता मिली।

छंद-मध्यकालीन छंदों (दोहा, सोरठा, कवित्त, पद आदि) का प्रयोग होता रहा, तो दूसरी ओर नए-नए छंदों का भी प्रयोग किया। इन्होंने बंगला के पयार और उर्दू के छंदों, शेर और वसीदा तथा लोकसंगीत की शैली-कजरी आदि छंदों को अपनाया। इन कवियों की प्रयोगधर्मिता को देखकर आश्चर्य होता है।

भारतेंदु युग का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण योगदान हास्य-व्यंग्य विनोद है। भारतीय साहित्य में हास्य की कमी की परंपरा रही। गोपाल प्रसाद व्यास (पत्नीवाद के प्रवर्तक), काका हाथरसी आदि व्यंग्यकार या हास्यकार हुए हैं, लेकिन इनका स्तर परिष्कृत नहीं है। भारतेंदु युगीन हास्य का स्तर बहुत परिष्कृत और विशाल था।

'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' (कटाक्ष), भारत-दुर्दशा-भारतेंदु के नाटक।

कविता में तीन काव्य रूपों के अंतर्गत हास्य-व्यंग्य का प्रणयन हुआ-

1. मुकरियाँ-भीतर-भीतर सब रस चूसे
2. स्यापा (उर्दू का प्रभाव) 'उर्दू का स्यापा (व्यंग्य और क्रोध)'
3. मर्शिया (शोकगीत-उर्दू)

काव्य-विषय और काव्य-शिल्प दोनों दृष्टियों से एक नया रूख अपनाया।

योगदान

- **प्रकृति-चित्रण**-प्रकृति-चित्रण में षडऋतु वर्णन उद्दीपन रूप में प्रकृति का वर्णन - यह प्रकृति वर्णन का परंपरागत रूप था। आलंबन रूप में प्रकृति चित्रण

भारतेंदु युग की मौलिकता है। भारतेंदु ने अपने नाटकों एवं कविताओं में गंगा-यमुना का आलंबनात्मक वर्णन किया।

- **रीति निरूपण**—रीतिकालीन पद्धति। मुरारी दीन नामक कवि रीतिकालीन पद्धति का अनुसरण किया।

- **समस्यापूर्ति**—प्राचीन कालीन परंपरा रही और यह द्विवेदी युग तक चलती रही। भारतेंदु युग में भी इस प्रवृत्ति का निर्वाह हुआ।

वस्तुतः यह काल भाषा, विषय और काव्य-शिल्प की दृष्टि से प्राचीन और नवीन का संगम है।

भारतेंदु युगीन कविता नवजागरण की कविता है—क्यों?

—परिमाण और संख्या

—गुण

—वैशिष्ट्य, निर्णय की तीन कसौटियां हैं।

इस तीन कसौटियों पर इस काल के पुनर्जागरण की परीक्षा करनी होगी।

- भक्ति—राम, कृष्ण की भक्ति, पर्वों-त्यौहारों से संबद्ध गीत, कविताएँ।

भक्ति में देश—भक्ति का पुट नवजागरण का संदर्भ है।

परंपरागत भक्ति की तुलना में देशभक्ति का स्वर अधिक प्रखर है।

- सामाजिक चेतना—भारतेंदु युग की नितांत ताज़ी मौलिकता थी। अतः सामाजिक चेतना की दृष्टि से इस काल का काव्य पर्याप्त समृद्ध है।

- प्रगतिशील धर्म की प्रधानता—नारी-शिक्षा, नारी अधिकार, वर्णाश्रम व्यवस्था का विरोध – जैसे विषयों पर काफ़ी कुछ लिखा गया है।

सामाजिक, राजनीतिक और धार्मिक – इन तीनों क्षेत्रों में भारतेंदुयुगीन काव्य पुनर्जागरण की गहराई से प्रभावित है।

- भारतेंदु युगीन काव्य का प्रभाव—भारतेंदुयुगीन काव्य का सामान्य जनता पर प्रभाव पड़ा। इस युग के कवियों ने अपनी रचना से दूसरे कवियों को भी प्रभावित किया। इस रूप में भी भारतेंदु युगीन कवियों का प्रभाव।

द्विवेदी युग

कोलकाता (कलकत्ता) विश्वविद्यालय के दीक्षांत समारोह में लार्ड कर्ज़न ने मंच पर कहा था कि एशिया का इतना बड़ा देश अंधकार में डूबा हुआ है। इस देश के पास न तो कोई सभ्यता है न कोई संस्कृति है, न इतिहास है, न परंपरा है। यह भालुओं, मदारियों और संन्यासियों का देश है और हम सभ्य लोगों पर इसकी जिम्मेदारी है कि जिस देश में इतने सारे मनुष्य आदिम युग में जी रहे हों, उन्हें

सभ्यता की रोशनी दें। तो यह पता चल रहा था कि इस देश के बारे में साम्राज्यवाद का केंद्र क्या सोच रहा है। तिलक के आने के बाद नरम दल हाशिए में था और एक उग्रता बढ़ रही थी, इसलिए जो सामाजिक माहौल भारतेंदु युग में था, वह राजनीतिक चेतना के प्रसार के कारण बदल रहा था। इसलिए इस समय की द्विवेदी युग की राजनीतिक चेतना में अंग्रेज़ों के प्रति सहानुभूति का भाव उनके प्रति श्रेष्ठता बोध का भाव पूरी तरह से खत्म हो गया। उस राजनीतिक चेतना का पहला बिंदु है–राष्ट्र। गौरवमय अतीत का स्मरण किया गया है। इस गौरवमय अतीत के स्मरण के कुछ मनोवैज्ञानिक कारण हैं। वर्तमान बहुत दुर्दशाग्रस्त है, देश पराधीन है। कवि, समाज चिंतक, राजनेता अनुभव करते हैं कि यूरोप के तेजस्वी ज्ञान की तुलना में हम बहुत पिछड़े हुए हैं। हमारे सामाजिक संबंधों, रीति-रिवाज़ों में, स्त्री के प्रति दृष्टिकोण में बहुत पिछड़ापन है। इसलिए एक पिछड़े हुए समाज में आत्मगौरव का स्रोत इतिहास ही हो सकता है। वर्तमान की बेहद दुर्दशा और अंधकार में इन कवियों को इतिहास से ही उम्मीदें दिखाई दे रही थीं।

इसलिए यह युग बार-बार पीछे की तरफ़ लौटता है। विद्वानों का यह कहना है कि जब एक समाज या एक देश वर्तमान के बिंदु पर पूरी तरह से जर्ज़र, स्खलित और संभावनाशून्य हो जाता है, तब वह इतिहास का स्मरण करता है। इतिहास एक मनोवैज्ञानिक सांत्वना देता है। इस मनोवैज्ञानिक सांत्वना के रूप में ही राष्ट्र गौरव की भावना को देखा जाना चाहिए। उसका आधार मनावैज्ञानिक सांत्वना है। 'भारत- भारती' इस युग की बहुत महत्त्वपूर्ण कृति है, जिसमें राष्ट्र गौरव का भाव दिखाई देता है। 'सभी देशों से अधिक किस देश का उत्कर्ष है, उसका जो ऋषियों की भूमि है, वह भारतवर्ष है।' भारत को ऋषियों की भूमि और सभी देशों की सभ्यता से उत्तम सभ्यता वाला देश कहा गया है। ईश्वर द्विवेदी युग में बार-बार दिखाई देगा। इसकी शुरुआत भारतेंदु युग में दिखाई देती है। राधाचरण गोस्वामी उस ज़माने में लिख रहे थे—हमारो उत्तम भातर देश।' लेकिन यह कहीं-कहीं अपवाद रूप में है। इसलिए सभी रचनाकारों ने लगभग इस देश के अतीत गौरव को विषय बनाया है। इसके साथ-साथ इस देश की प्राकृतिक संपदा, सांस्कृतिक संपदा है, इस देश के मूल्य और चिंतन का जो वैशिष्ट्य है, उसको रेखांकित करने की कोशिश की गई है। इकबाल की बहुत चर्चित कविता है 'सारे जहाँ से अच्छा हिन्दुस्ताँ हमारा'। इसमें दो चीज़ें आप ध्यान से देख सकते हैं—एक तो जो हमारी विशिष्टता है, इस देश में – 'मज़हब नहीं सिखाता आपस में बैर रखना, हिंदी है हम, वतन है हिंदोस्ताँ हमारा।'

यह श्रेष्ठता बोध, यह विशिष्टता बोध इस युग की राष्ट्रीय भावना का एक बहुत मर्मस्पर्शी संदर्भ कहा जा सकता है। इसलिए हिंदुस्तान की परिकल्पना क्योंकि

भारत माता के रूप में आई थी। हिंदुस्तान को जब भी इस युग का रचनाकार याद करता है, तो माँ के रूप में या स्त्री के रूप में याद करता है। मैथिलीशरण गुप्त लिख रहे थे – 'नीलांबर परिधान, हरित पट पर सुंदर है।'

राष्ट्रीयता का प्रबल स्वर एक स्तर पर तो यह है कि बहुत गौरवमय अतीत है। कई जगह पर यह ज़िक्र भी आया है कि यूरोप को जब ठीक से छाल पहनना भी नहीं आ रहा था, तब हमारे यहाँ उपनिषदों की रचना हो रही थी। तो यह एक ढाँढ़स बँधाता है कि हम काफ़ी मज़बूत थे। लेकिन ढाँढ़स पर ही जैसे हिंदुस्तान ठहर गया। लेकिन उस युग में, उस राष्ट्रीय परिप्रेक्ष्य में, इतिहास के उस दौर में यह ज़रूरी था। इससे एक ऊर्जा देश को मिलती थी। भारत भारती के बारे में तो यह कहा जाता है कि हिंदुस्तान में यह अपने जमाने की सबसे लोकप्रिय कृति थी। रामचरितमानस से भी ज़्यादा। यह भारतीय मानस की जीभ पर चढ़ी हुई आधुनिक गीता थी। लोग इस किताब को जेल में भी साथ रखते थे और ऐसे लोगों की संख्या लाखों में थी, जिन्हें भारत भारती जबानी याद थी।

'पथिक', 'मिलन' दो चर्चित कृतियाँ हैं, राम नरेश त्रिपाठी की। इसमें देश की प्राकृतिक संपदा, उसकी सुषमा और उसके विराट सौंदर्य का चित्रण किया गया है। यह एक नए प्रकार की राष्ट्रीयता है और नए प्रकार की राजनीतिक चेतना भी। इस राष्ट्रीयता का एक और पक्ष है और वह है '**बलिदान भाव**'। देश के लिए मरा जा सकता है, बिना सैनिक हुए या अपना समूचा कैरियर और अपनी सभी सुविधाएँ किसी नेता के कहने पर छोड़ी जा सकती हैं, ये हमें कपोल कल्पना से भी अधिक कल्पित स्थिति लगती है। लेकिन राष्ट्र-प्रेम का अर्थ था कि बलिदान का भाव उस युग चेतना में मौजूद था और कविता में राष्ट्र-प्रेम का अर्थ था कि बलिदान की भावना को प्रोत्साहित किया जाए। तो इस संदर्भ में 'स्नेही' की एक कविता है –

'देश भक्त वीरों, मरने से नेक नहीं डरना होगा।
प्राणों का बलिदान देश की वेदी पर करना होगा।

इसी परंपरा में आगे चलकर माखन लाल चतुर्वेदी ने 'पुष्प की अभिलाषा' लिखी :

'नहीं चाहता सुर बाला के गहनों में गूँथा जाऊँ
मुझे तोड़ लेना बनमाली, उस पथ पर देना तुम फेंक,
मातृभूमि पर शीश चढ़ाने, जिस पथ जाएँ वीर अनेक।।

यह तो बलिदान भावना है। यह उस समय की राष्ट्रीयता का एक बहुत ज़रूरी और अनिवार्य पक्ष है। राष्ट्रीयता किस तरह बदलती है आज़ादी के बाद राष्ट्रीयता का वही अर्थ नहीं है जो आजादी से पहले का है :

हरा रंग है हरी हमारी धरती की अंगड़ाई
कहता है यह चक्र हमारा कदम कभी न रुकेगा,
झंडा ऊँचा सदा रहेगा।

यह राष्ट्रीय आंदोलन और राष्ट्रीय भावना का गीत है। फिर धूमिल नेहरू के अवसान के बाद कविता लिख रहे थे : 'क्या आज़ादी तीन थके हुए रंगों का नाम है, जिसे एक पहिया ढोता है, या इसका कुछ खास मतलब होता है।' झंडा फहरा देना और राष्ट्र गीत गा देना यह राष्ट्रीयता नहीं है। पहले गांधी ने कहा था कि अगर एक अंतिम आदमी की आँख में भी आँसू हैं, तो यह आज़ादी अधूरी है। इस अधूरी आज़ादी वाले देश को राष्ट्रीयता पर गौरव करने का कोई कारण नहीं है। इसलिए बाद की जो राष्ट्रीय चेतना है, वह ढोंग है। आप देखते हैं कि राष्ट्रीयता की प्रकृति बदल जाती है।

इसलिए रघुबीर सहाय ने लिखा कि 'राष्ट्रगान में भला कौन वह भारत भाग्य विधाता है, फटा सुथन्ना पहने जिसका गुन हरचरना गाता है।' कौन है यह भारत भाग्य विधाता? कौन है जो 26 जनवरी को ढोल और मंजीरे बजवाता है और राष्ट्रीयता का आभास देता है? इस राष्ट्रीयता की परिकल्पना जो आज़ादी के बाद की है, इससे मिलाकर देखेंगे तो बड़ा अजीब-सा फाँक दिखाई देता है। इसका कारण यह है कि उस दौर में एक आवेश है, एक संवेदना है, एक स्वप्न है।

आज समाज के पाठ्यक्रम से बलिदान शब्द समाप्त हो गया है, इसलिए अब उसका कोई अर्थ नहीं है। राजेंद्र माथुर नवभारत टाइम्स के उस समय के संपादक थे। उन्होंने कहा कि कविता एक जलती हुई तिल्ली है। अगर इसे बारूद के ढेर पर फेंक दिया जाए, तो यह महाप्रलय मचा सकती और अगर पानी की बाल्टी में पड़ जाए, तो बिल्कुल साफ़ हो जाती है। समाज की ग्राह्यता बहुत महत्त्वपूर्ण है। समाज अगर उस कविता को ग्रहण करने की ऐतिहासिक परिस्थिति में है, तो कविता बहुत ताकतवर हो जाएगी और अगर नहीं, तो कविता बाल्टी और कटोरी में पड़ी हुई तिल्ली की तरह पूरी बुझ जाएगी, अर्थहीन हो जाएगी। तो यह स्वर बताता है कि बलिदान की भावना से जो कविताएँ लिखी जा रही थीं, उनमें राष्ट्रीयता थी और समाज पर उन कविताओं का बहुत जबरदस्त प्रभाव दिखाई दे रहा था।

इसके साथ-साथ इस संदर्भ में '**न्याय और स्वतंत्रता की माँग**' भी इस युग की राष्ट्रीय चेतना के कुछ वैचारिक बिंदु हैं। न्याय और स्वतंत्रता की माँग के बिना, न्याय और स्वतंत्रता की चेतना के बिना कोई भी राष्ट्रीयता मुकम्मल नहीं होगी। इसलिए पौराणिक घटनाओं पर लिखते हुए, इस राष्ट्रीय चेतना के दबाव के कारण और उसकी ज़रूरत के कारण न्याय और स्वतंत्रता की माँग कविता में बार-बार

उठाई गई है। 'जयद्रथ वध' में मैथिलीशरण गुप्त ने लिखा : 'अन्याय सहकर बैठ रहना यह महा दुष्कर्म है। न्यायार्थ अपने बंधु को भी दंड देना धर्म है।' अन्याय के लिए अपने भाई को भी दंड दिया जाना चाहिए, यह औचित्य है, यह धर्म है।

द्विवेदी युग के सामाजिक मूल्यों के केंद्र में एक परंपरागत नैतिक बोध विद्यमान है। परंपरागत नैतिक बोध से इस युग की मूल्य चेतना का निर्माण हुआ है और जो परंपरागत नैतिक बोध है, वह आचरण की पवित्रता, ईमानदारी, सेवा ऐसे प्रसंगों को तरजीह देता है। जैसे बाज़ारवादी व्यवस्था में सेवा का ही एक आर्थिक प्रयोजन है। लेकिन द्विवेदी युग में सेवा एक अहैतुक कर्म है, जिसका कोई आर्थिक प्रयोजन नहीं है और यह परंपरागत हिंदुस्तान की दृष्टि है। पश्चिमी विश्व इसे नहीं समझ पाएगा। इस नैतिक बोध के अनुसार मनुष्य के पास कोई-न-कोई महाउद्देश्य रहना चाहिए। इसलिए द्विवेदी युग का मानवीय और सामाजिक मूल्य सफलता पर नहीं बल्कि सार्थकता की नींव पर खड़ा है। यह भी कहा जा सकता है सोद्देश्यकता ही जीवन मूल्य है। दो बिंदुओं को मिला देने से रेखा का निर्माण होता है। हम जो चाहते हैं और हमें जहाँ पहुँचना है, अगर यह दिशा तय हो जाए, तो समाज और जीवन के भटकाव कम हो सकते हैं। फिर प्रसंगेतर बात है कि अगर आधुनिक राजनीतिक प्रणाली और आर्थिक प्रणाली में हम जहाँ हैं और जहाँ जाना चाहते हैं इसके बीच में कोई रेखा नहीं है। अंततः उदारीकरण किसलिए और कहाँ पहुँचना चाहती है, अगर इस पर गौर करें और छानबीन करें, तो पता चलेगा कि कोई रेखा नहीं है। इसलिए सोद्देश्यता अनिवार्य है क्योंकि सोद्देश्यता सामाजिक जीवन में अनुशासन और सार्थकता का बोध पैदा करती है। इसलिए कविता भी सोद्देश्य होनी चाहिए और सामाजिक जीवन भी। यह एक स्तर पर रीतिकालीन भाव बोध के साथ रचनात्मक मुठभेड़ है।

जो कविता का गुण-धर्म है वही समाज का गुण-धर्म हो सकता है। मैथिलीशरण गुप्त के शब्द हैं कि 'केवल मनोरंजन न कवि का कर्म होना चाहिए, उसमें उचित उपदेश का भी मर्म होना चाहिए।' यहाँ उपदेश नैतिक मूल्य है, नैतिक संस्कार है। यह इस युग की सामाजिक चेतना की बृहतर रूपरेखा है। इसमें स्त्री-पुरुष संबंध है। धर्म में मानवीय सरोकारों का समावेश, जीवन की सोद्देश्यता पर बल नवजागरण की चेतना के पास है। नवजागरण की चेतना आत्म-मंथन की चेतना है। नवजागरण आत्म-विश्लेषण की चेतना है और वर्तमान के बीच जो बहती हुई परंपरा है, उस परंपरा की शक्तियों और सीमाओं को जानने की चेतना नवजागरण की चेतना है। तो यह जो अतीत का मूल्याँकन है, परंपरा का मूल्याँकन है, नवजागरण की चेतना का एक स्वर है, वह द्विवेदी युगीन चेतना का भी प्रधान स्वर है। इस दृष्टि से भारत-

भारती की पंक्ति है 'हम कौन थे क्या हो गए और क्यो होंगे अभी, आओ मिलकर विचारें, यह समस्याएँ सभी।'

समग्रत: हिंदी कविता के इतिहास में द्विवेदी युग का महत्त्व जीवन और कविता में एक नए रिश्ते के सूत्रधार के रूप में है। यह कविता भारतीय नवजागरण के सुधारवादी आंदोलन को रचनात्मक स्तर पर प्रस्तुत करती है। वैष्णवी पवित्रता और सांस्कृतिक मूल्य-चेतना का निर्वाह करते हुए इस युग का कवि आधुनिक भाव-बोध के प्रति सजग दिखाई देता है। मूल्य-चेतना की तरफ़ विशुद्ध भारतीय दृष्टि और रीतिकाल के बहिष्कार में उसकी नई दायित्व-चेतना की झलक दिखाई देती है। यद्यपि इस कविता पर इतिवृत्तात्मकता और उपदेशात्मकता के आरोप लगाए गए हैं, लेकिन उन सीमाओं को पूर्वाग्रहों से नहीं, इतिहास के विवेक से देखा जाना चाहिए। साहित्य के क्षितिज का विस्तार और खड़ी बोली हिंदी की रचनात्मक संभावनाओं को साकार करने की दृष्टि से द्विवेदी युग का ऐतिहासिक और साहित्यिक महत्त्व है।

छायावाद

आधुनिक हिंदी कविता के तीसरे चरण को छायावाद के नाम से जाना जाता है। छायावाद को आधुनिक हिंदी कविता का भक्तिकाव्य भी कहा जाता है। भक्तिकाव्य की गहराई, व्याप्ति और औदात्य से यह कविता युक्त है। यह भी इतिहास का एक विचित्र विरोधाभास है कि अपने आरंभिक काल में छायावाद को हिंदी आलोचना के कोप का शिकार होना पड़ा। हिंदी आलोचना के शिखर पुरुष आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने छायावाद को उक्ति वैचित्र्यवाद, रहस्यवाद और अनुकरणमूलक कहा। इसलिए छायावाद को अपनी आरंभिकता में ही अपने अस्तित्व के लिए संघर्ष करना पड़ा।

मोटे तौर पर छायावाद का कालखंड सन् 1918 से 1936 के बीच माना जाता हैं। यह आधुनिक भारतीय इतिहास में नवजागरण का, स्वाधीनता आंदोलन का, विश्व युद्ध का और साहित्य के क्षेत्र में द्विवेदी युग के अवसान का समय है। इसलिए इस कविता की मानसिकता पर कहीं-न-कहीं नवजागरण और स्वाधीनता आंदोलन और विश्वयुद्ध की छाया देखी जा सकती है। लेकिन छायावाद के अन्य पक्षों पर विचार करने से पूर्व इस छायावाद में जो 'छाया' शब्द है, इसकी अवधारणा पर बात करनी चाहिए।

छाया की कई व्याख्याएँ की गई हैं। रामचंद्र शुक्ल ने छाया का अर्थ अनुकरण किया है, वाद का अर्थ होता है घेरा, सिद्धांत व मठ। जब हम प्रगतिवादी कहते हैं, तो मार्क्सवाद के आधार पर, उसका पंथ बनाकर, उसका संस्थान बनाकर, जो साहित्य

लिखा गया है उसे हम प्रगतिवाद कहते हैं। छायावाद में वाद का अर्थ तो स्थिर हो गया, घेरा, सिद्धांत, प्रतिबद्धता, ढाँचा। मूल शब्द रह गया छाया। इसलिए छाया का अर्थ स्पष्ट हो जाएगा, तो उसे वाद से जोड़ा जा सकता है। आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने छाया का अर्थ किया अनुकरण। छाया मौलिक नहीं होती, वह मूल का प्रतिबिंब होती है और आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने छायावादी कविता को अनुकरण-मूलक कहा है।

हिंदी साहित्य के इतिहास में उन्होंने लिखा कि पुराने ईसाई संतों की साधना में एक शब्द होता था, फैंटेसमाटा। यह एक प्रकार की रहस्यानुभूति थी। यह शब्द यूरोप से चलकर पहले बंगाल में पहुँचा और रवींद्रनाथ ठाकुर की कविताओं में दिखाई दिया। रवींद्रनाथ ठाकुर की कविताओं का अनुकरण हमारे नए कवियों ने किया, जिसे हिंदी में छायावादी कहते हैं। शुक्ल जी ने यह भी तथ्यात्मक कल्पना कर ली कि फैंटेसमाटा के आधार पर लिखी जाने के कारण ऐसी कविताओं को छायावाद कहने का प्रचलन चल पड़ा था। लेकिन शुक्ल जी ने एक बहुत तथ्यविहीन तथ्य दिया कि बंगाल में छायावाद शब्द प्रचलन में था, जो कि बिल्कुल नहीं था। उन्होंने कहा कि ऐसी कविताओं को बंगाल में छायावादी कहा जा रहा था, जबकि बंगाल की कविता के इतिहास में छायावाद नहीं कहा जाता, लेकिन शुक्ल जी ने कह दिया कि कहा जा रहा था। हम इतना कह सकते हैं कि ईसाई संतों की जो फैंटेसमाटा की अनुभूति थी, वह बंगाल में रवींद्रनाथ ठाकुर की कविताओं में दिखाई पड़ी। रवींद्रनाथ ठाकुर को जब नोबेल पुरस्कार दिया गया तो उनकी कविताओं की धूम मच गई और उन कविताओं के अनुकरण की एक प्रवृत्ति हिंदी में चल पड़ी, जिसे हम छायावाद के रूप में जानते हैं। इसलिए छायावाद को विशुद्ध रूप से उन्होंने एक अनुकरण-मूलक काव्य-प्रवृत्ति के रूप में स्वीकार किया।

उन्होंने इसके साथ-साथ दो और स्थापनाएँ कर डालीं कि अंतर्वस्तु के धरातल पर छायावद **रहस्यवाद** का पर्याय है और यह रहस्यवाद मध्यकालीन रहस्यवाद की परंपरा में है। आत्मा और परमात्मा के प्रणय संबंधों के आधार पर निर्मित किया गया रहस्यवाद। उन्होंने कहा कि कबीर इत्यादि संतों में जिस रहस्यवाद की चर्चा है, उसी रहस्यवाद का अंश छायावादी कविता में दिखाई देता है। तो कंटैंट के धरातल पर छायावाद को उन्होंने रहस्यवाद कहा है। फिर उन्होंने कहा कि अभिव्यक्ति के स्तर पर छायावाद एक विशेष प्रकार की शैली है, जिसका आधार है उक्तिवैचित्र्यवाद। उक्तिवैचित्र्य का अर्थ होता है, एक चौंकाने वाले ढंग से, विशिष्ट ढंग से, कहने की शैली। जैसे अगर छायावादी रचनाकार को प्रेम की अनुभूति को अभिव्यक्त करना है, प्रेयसी के बिना जीवन बिल्कुल अकेला और सूना है, तो छायावाद का रचनाकार इस तरह से नहीं कहेगा। उन्होंने प्रसाद को उद्धृत किया है –

'झंझा झकोर गर्जन था बिजली थी नीरद माला।
पाकर इस शून्य हृदय को सबने आ डेरा डाला।

इसमें दो-तीन चीज़ें दिखाई पड़ रही हैं, यह आँधी, तूफ़ान, बारिश का चित्र है। तुम्हारे जाने पर मेरा हृदय भी उसी तरह शून्य हो गया और तुम्हारी अनुपस्थिति में जो चीज़ें आ रही हैं, उसमें झंझा है, झकोर है, गर्जन है और बिजली है। झंझा का अर्थ है मानसिक विक्षोभ, गर्जन आह के लिए और बिजली का चमकना वेदना की टीस के लिए है। यानी तुम्हारी अनुपस्थिति में जो जीवन में सूनापन पैदा हुआ है, उस सूनेपन में मानसिक क्षोभ, कराह और आहें और इसके साथ-साथ वेदना की टीस पैदा हो रही है। एक सहज वेदना अनुभूति को एक बड़े रूपक के माध्यम से कहा गया है। इसी विशेष प्रकार की [illegible] में कहने की पद्धति को शुक्ल जी ने उक्तिवैचित्र्यवाद कहा और उन्हें लगा कि छायावाद का रचनाकार हर बात को एक खास शैली में व्यक्त करना चाहता है।

'उस फैली हरियाली में सज़ा हृदय की थाली में कौन अकेली खेल रही
माँ सजा हृदय की थाली।'

पंत पूछ रहे हैं कि उस फैली हुई नीली हरियाली में कौन है जो अपनी हथेलियों पर थाली सजाकर खेल रही है। यह खास तरह की अनुभूति है लेकिन उतनी ही विचित्र है। अर्थात् छायावाद अपनी अनुभूति और अंतर्वस्तु के स्तर पर रहस्यवाद है और इस रहस्यवाद का संबंध परंपरा से है और अभिव्यक्ति के स्तर पर वह एक खास प्रकार की काव्यशैली है; इसे आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने स्थापित किया। इसलिए परवर्ती हिंदी आलोचना की वास्तविक टकराहट शुक्ल जी की छायावाद संबंधी धारणा को लेकर ही होती है। आचार्य नंददुलारे वाजपेयी ने अपने गुरु आचार्य रामचंद्र शुक्ल से पहली टकराहट छायावाद को लेकर की। उन्होंने आचार्य रामचंद्र शुक्ल की स्थापनाओं को छायावाद के संदर्भ में निरस्त कर दिया।

छाया का दूसरा अर्थ किया गया **सूक्ष्मता**। स्थूल की तुलना में छाया हमेशा सूक्ष्म होती है। यह सूक्ष्म अनुभूतियों का काव्य है। इसलिए आगे चलकर डॉ० नगेंद्र ने छायावाद की परिभाषा करते हुए कहा कि छायावाद 'स्थूल के प्रति सूक्ष्म का विद्रोह है।' द्विवेदी युग में स्थूलता दिखाई देती है। द्विवेदी युग विचार को अनुभूति और कल्पना में रूपांतरित नहीं करता। वह विचार को ज्यों-का-त्यों कविता में विन्यस्त कर देता है :

केवल मनोरंजन न कवि का कर्म होना चाहिए।
उसमें उचित उपदेश का भी मर्म होना चाहिए।।

यह विचार है और इसमें कुछ भी जोड़ा-घटाया नहीं गया है। विचार को

कविता में कह दिया गया है और अधिकांशत: ऐसा ही हुआ है।

माँ कह एक कहानी,

बेटा समझ लिया क्या, तूने मुझको अपनी नानी।

यह यशोधरा ने राहुल को कहानी कहने की ज़िद करते समय कहा था, तो इसमें बहुत सपाटता है। मैथिलीशरण गुप्त ने लिखा है :

अहा ग्राम्य जीवन भी क्या है

थोड़े में निर्वाह जहाँ है, ऐसी सुविधा और कहाँ है?

इसलिए द्विवेदी युग में कहीं कल्पना और अनुभूति की गहराई और अमूर्तन नहीं है। नगेंद्र जी कह रहे थे कि छायावाद स्थूल के प्रति सूक्ष्म का व्रिदोह है इसलिए छायावाद में कुछ भी साफ़ नहीं आता।

मेरे प्रिय को भाता है तम के परदे में आना।।–महादेवी

महादेवी का प्रिय कभी भी दिन के उजाले में नहीं आता। हर जगह कुछ-न-कुछ छिपा हुआ है, कुछ है जो सतह पर दिखाई नहीं देता, बल्कि जिसका एक इतिहास है। निराला जब लिख रहे थे–

बाँधों न नाँव इस ठाँव बंधु, पूछेगा सारा गांव बंधु।

और फिर इस आठ लाइन की कविता में जीवन की पूरी कथा है। यह वही घाट है, जिस पर वह नहाती थी। संबंधों की एक बहुत त्रासद कथा है, इसलिए यहाँ पर मत बाँधो। हर जगह यह बात दिखाई देगी। इसमें सूक्ष्मता आ गई है। चीज़ें बिल्कुल स्पष्ट नहीं हैं। विचार के स्तर पर अनुभूति और मानसिकता का आग्रह बढ़ा, इसलिए जब प्रसाद 'आँसू' लिख रहे थे तो उन्होंने पंक्ति लिखी –

जो घनीभूत पीड़ा थी मस्तक में स्मृति-सी छायी।

दुर्दिन में आँसू बनकर वह आज बरसने आई।।

मस्तिष्क में, स्मृतियों में, जो संकलित पीड़ा थी, वह खराब दिनों में आँसुओं के रूप में बारिश बनकर आई। इसलिए छायावाद ने स्थूलता को छोड़ दिया, सूक्ष्मता पर आ गई और यह सूक्ष्मता स्थूलता के विरोध में है या स्थूलता की प्रतिक्रिया में है। इसलिए जो स्थूल की प्रतिक्रिया में लिखा गया, उसे छाया कहा गया।

1927 में आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी ने एक जगह लिखा कि छायावाद से लोगों का क्या अभिप्राय है, यह समझ में नहीं आता। उन्होंने कल्पना की कि शायद जिस कविता का अर्थ कविता के शब्दों में नहीं, बल्कि कहीं अन्यत्र हो, ऐसी कविताओं को हिंदी में छायावादी कविता कहा जा रहा है। जैसे पेड़ कहीं होता है और पेड़ की परछाईं कहीं होती है। इसलिए कविता के शब्द और अर्थ में छाया का संबंध है। द्विवेदी युग में कविता का अर्थ शब्द में है। छायावाद में कविता का अर्थ

शब्द में नहीं है। अगर शब्द में ढूँढ़ेगे तो केंद्र तक नहीं पहुँच पाएँगे। तो यह **छायाजनित सूक्ष्मता** की भी छाया के संदर्भ में एक व्याख्या की गई।

छाया की तीसरी व्याख्या की गई **वायवीयता** के अर्थ में। छायावाद में जीवन के सामाजिक पक्षों की तुलना में जीवन के व्यावहारिक अथवा यथार्थपरक संदर्भों को छोड़कर एक कल्पना प्रधान अमूर्त अनुभूति को प्रधानता दी गई थी। एक इतर प्रसंग है कि छायावाद के बिल्कुल आरंभिक दौर में जो किशोर मन की अवचेतन की कुंठाएँ हैं, उनको प्राथमिका दी गई थी। कहीं भी उसमें समाज, जीवन, परिवार, इतिहास और समय नहीं था। 'ग्रंथि' 1919 में प्रकाशित हुई थी, जो पंत की कविता है। उसमें अतृप्ति की अभिव्यक्ति ज़्यादा है, इसलिए सामाजिक, राजनीतिक और जीवन के जो ठोस संदर्भ हैं, वे कहीं भी दिखाई नहीं देते। इसलिए छायावाद को वायवीय कहा गया, जिसका जीवन के कोलाहल से कोई संबंध नहीं है। इस तरह से *अनुकरण*, *सूक्ष्म* और *वायवीय* इन तीन स्थितियों पर आधारित कविता के समूह को छायावाद के रूप में जाना गया।

प्रत्येक काव्य आंदोलन का कोई-न-कोई तरंग केंद्र होता है, जिसे हम मूल्य चेतना कहते हैं। जैसे भक्तिकाव्य में भक्ति केंद्र में है, रीतिकाल में रीति है, भारतेंदु में संक्रमण है, द्विवेदी युग सुधार है। छायावाद में यह मूल्य चेतना है '**स्वातंत्र्य**'। छायावाद की लगभग सभी विशेषताएँ इसी स्वातंत्र्य चेतना से निर्मित, संचालित और विकसित होती हैं। स्वातंत्र्य चेतना हमारे ऐतिहासिक समय और समाज की संरचनाओं द्वारा सत्यापित है। यानी दोनों ही स्थितियाँ राजनीतिक स्तर पर भी और सामाजिक संरचना के स्तर पर भी इस 'स्वातंत्र्य' चेतना के औचित्य को सिद्ध करती हैं।

राजनीतिक स्तर पर देश स्वाधीनता आंदोलन की लड़ाई लड़ रहा है और सामाजिक स्तर पर जो परंपरागत सामंतवादी ढाँचा है, उस ढाँचे की सीमाएँ और अपर्याप्तताएँ स्पष्ट होने लगी हैं। नई जीवन परिस्थितियों और शिक्षा-दीक्षा के परिणामस्वरूप एक नई सामाजिक ढाँचे की आकांक्षा 20वीं शताब्दी के दूसरे दशक में उभरती हुई देखी जा सकती है। इस तरह से एक परतंत्रता साम्राज्यवाद के द्वारा थोपी गई है और दूसरी परतंत्रता सामंती व्यवस्था की सामाजिकता से निर्मित है। राजनीतिक शब्दावली में सामंतवाद और साम्राज्यवाद की सम्मिलित परतंत्रताओं के बीच कवि खड़ा है और उससे मुक्ति की कोशिश करता है। इसलिए स्वतंत्रता उसकी मूल चेतना कही जा सकती है। इस कविता में आदि से अंत तक यह स्वातंत्र्य चेतना विभिन्न संदर्भों और रूपों में प्रकट होती है। इसलिए छायावाद के महत्त्वपूर्ण रचनाकार निराला ने जब प्रार्थना के लिए सरस्वती को देखा, तो उसमें मूल मंत्र के रूप में स्वतंत्रता का ज़िक्र किया –

प्रिय स्वतंत्र रव अमृत मंत्र नव भारत में भर दे।

यह स्वतंत्रता का जो मंत्र है यह अमृत का मंत्र है। मां सरस्वती तुम इसे समूचे हिंदुस्तान में भर दो। यह स्वतंत्रता कैसे अभिव्यक्त होगी? निराला ने इसे जो बिंब दिया वह उड़ान का बिंब है। क्योंकि स्वतंत्रता उड़ान है या झरने का प्रवाह है। गति और उड़ान ही स्वतंत्रता के अर्थ को मूर्तिमान करते हैं :

नवगति नवलय ताल छंद नव
नवल कंठ नव जलद मंत्र रव।
नव नभ के नव विहग बृंद नव पर नव स्वर दे
वर दे वीणा वादिनी, वर दे।

स्वतंत्रता की आकांक्षा है और यह आसमान में उड़ते हुए विहगों में और निर्झर की गतियों में देखी गई है। इसलिए कहा है कि स्वातंत्र्य वह मूल्य चेतना है, जिसे छायावाद की सभी प्रवृत्तियों में देखा जा सकता है।

छायावाद की पहली प्रवृत्ति है '**वैयक्तिकता**'। कुछ लोगों ने इसे व्यक्तिवाद कहा है। दरअसल स्वतंत्रता का पहला प्रतीक है व्यक्ति। स्वाधीनता की अनुभूति सबसे पहले व्यक्ति के स्तर पर घटित होती है। छायावाद को व्यक्तिनिष्ठ काव्य कहा गया है और ऐसा कहकर उसकी सीमाएँ तय की गई हैं। द्विवेदी युग सामाजिकता का काव्य है और छायावाद वैयक्तिकता का। थोड़ा विचार करने पर यह पाया गया कि छायावाद में स्वतंत्रता की पहली अभिव्यक्ति व्यक्ति की सामाजिक और मानसिक स्वतंत्रता में हुई है। लेकिन पंत ने व्यक्तिनिष्ठता को व्यक्तिवाद से अलग किया और कहा कि छायावाद में जो व्यक्ति है वह आत्मकेंद्रित नहीं है। बल्कि छायावाद का व्यक्ति स्वतंत्र चेतना की मूल्यनिष्ठा का वाहक है। छायावाद का व्यक्ति जिस नए मूल्य का प्रतीक है, वह मध्ययुगीन सामंती रूढ़ियों से मुक्त होकर अपने स्वतंत्र व्यक्तित्व के विकास का प्रयास था। इसलिए छायावाद इस वैयक्तिक चेतना के कारण विद्रोह का काव्य है और उसमें व्यक्ति अपने रूढ़िगत समाज और समय से मुक्ति चाहता है।

यह स्वाधीनता की बढ़ती हुई चेतना और उसके बढ़ते हुए महत्त्व का कारण है कि छायावाद में सबसे अधिक गतिशील प्रसंगों और संदर्भों का प्रयोग किया गया है। इसलिए छायावाद में संभवत: सबसे अधिक निर्झर हैं, पक्षी हैं और बादल हैं। ये तीनों ही स्वतंत्रता के प्रतीक हैं। छायावाद की वैयक्तिकता इन तीनों प्रतीकों के माध्यम से अभिव्यक्त होती है।

पहली तो है, मैं शैली। छायावाद 'मैं शैली' की कविता है। अगर इसकी तुलना द्विवेदी युग से करें, तो द्विवेदी युग में जो 'मैं' है वह व्यक्तिवादी नहीं है, बल्कि वह एक प्रकार की प्रतिनिधिकता है। द्विवेदी युग में जहाँ कहीं 'मैं' आता है, वह कवि

का 'मैं' नहीं है बल्कि वह पात्रों का 'मैं' है। छायावाद में 'मैं' न तो प्रतीक है, न प्रतिनिधि है बल्कि वहाँ स्वयं रचनाकार है। इसलिए छायावाद की प्रायः सभी रचनाएँ 'मैं' परक शैली में लिखी गई हैं। यहाँ तक कि प्रबंध या महाकाव्य समझी जाने वाली कामायनी में भी जो मनु के रूप में 'मैं' है उस पर प्रसाद की परिस्थितियों और व्यक्तित्व की छाया दिखाई देती है। लेकिन निराला, पंत, महादेवी में यह 'मैं' सीधे-साधे प्रकट होता है।

कुछ उदाहरण हैं। निराला की कविता है – 'मैंने मैं शैली अपनाई।' इस 'मैं' शैली के माध्यम से ही कविता और जीवन के बीच एक प्रामाणिक संबंध स्थापित किया जा सकता था। छायावाद की कविता दूसरों के लिए और दूसरों पर नहीं है। छायावादी कविता के केंद्र में कहीं-न-कहीं व्यक्ति का 'मैं' है। इस 'मैं' का रचनाकार विस्तार करता है। लेकिन यह दूसरों के लिए और दूसरों पर नहीं है, बल्कि अपने जीवन की परिस्थितियों से इस कविता का निर्माण हुआ है। निराला ने जब लिखा कि 'मैंने मैं शैली अपनाई' तो वे अपने लिए और समूचे छायावाद के लिए ऐसा कह रहे थे। महादेवी की पंक्ति लें–'मैं नीर भरी दुख की बदली।' यह अपने जीवन के बारे में है। कामायनी में एक स्थान पर मनु कहते हैं–

''वन गुहा गुंज मरु अंचल में हूँ खोज रहा अपना विकास।''

इससे भी मार्मिक प्रसंग वह है, जहाँ पर श्रद्धा के साथ मनु की बातचीत शुरू होती है, जहाँ श्रद्धा पूछती है कि कौन हो तुम? वहाँ पर मनु जो परिचय देते हैं, वह मनु का नहीं प्रसाद का परिचय है। तो शैली के स्तर पर मैं वैयक्तिकता का ही प्रतिनिधित्व करती है।

इस वैयक्तिकता की दूसरी अभिव्यक्ति **आत्मकथात्मकता** में होती है। इसलिए मैं से नियंत्रित होने के कारण या वैयक्तिकता से नियंत्रित होने के कारण छायावाद के सभी रचनाकारों ने आत्मकथात्मक कविताएँ, आत्म संदर्भों से जुड़ी हुई कविताओं की रचना की। यह अकारण नहीं है कि छायावाद ने शायद भक्तिकाल के बाद पहली बार इतने बड़े पैमाने पर आत्मकथात्मक कविताएँ लिखी गईं। निराला में चूँकि वैयक्तिकता का आग्रह बहुत प्रबल है, इसलिए निराला ने सबसे अधिक आत्मकथात्मक कविताएँ लिखीं। यहाँ तक कि प्रसाद जैसे संकोची रचनाकार भी अपनी कुछ कविताओं में आत्मकथात्मक अंशों का इस्तेमाल करते हैं। पहले प्रसाद की कविता है, जो 'हंस' के आत्मकथा विशेषांक में प्रकाशित हुई थी। शीर्षक है 'मधुप गुनगुना कर कह जाता कौन कहानी यह अपनी।' उस कविता में कुछ ऐसे प्रसंगों का ज़िक्र प्रसाद ने किया है, जो निजी हैं, बहुत वैयक्तिक हैं। उनमें दो अंश हैं:

मिला कहाँ वह सुख जिसका मैं स्वप्न देखकर जाग गया।
आलिंगन में आते-आते मुस्का कर जो भाग गया।।
उज्ज्वल गाथा कैसे गाऊँ उन मधुर चाँदनी रातों की।
अरे खिलखिला कर होने वाली उन बातों की।।

एक बहुत सघन निजी प्रेम प्रसंग है। चाँदनी रात है, हँसी की खिलखिलाहटें हैं, अधूरा और अतृप्त, हवा में टंगा हुआ एक आलिंगन है। ये बहुत निजी प्रसंग हैं, जिनका जिक्र कविता में हो रहा है। लेकिन निराला के यहाँ आत्माभिव्यक्ति या आत्मकथात्मकता सबसे प्रबल है। इसका उदाहरण यह है कि निराला ने एक पूरी लंबी आत्मकथात्मक कविता लिखी 'सरोज स्मृति।' अपनी बेटी की मृत्यु पर लिखी गई कविता है। उसमें निराला ने इस कविता को आत्मदास्तान के रूप में प्रस्तुत किया और इसमें निराला ने अपने संघर्ष, आर्थिक अभाव, जीवन की दरिद्रता, अकेलापन ये तमाम सारी चीज़ों को दिखाया है। लेकिन छोटी कविताओं में भी निराला सीधे-सीधे अपने को केंद्र में रखकर अपने जीवन का सारांश कह रहे थे। कुछ उदाहरण :

मैं अकेला, देखता हूँ आ रही मेरे जीवन की सांध्य बेला।

यह किसी दूसरी के लिए नहीं कहा गया है, अपना ही जीवन है :

पके आधे बाल मेरे, हुए निष्प्रभ गाल मेरे
चाँद मेरी मंद होती जा रही हट रहा मेला।

यह जीवन की ढलान पर उतरता हुआ बुढ़ापा है, जिसमें मेला खत्म हो रहा है, लोग किनारा कर रहे हैं और जीवन की स्थिति शिथिल हो रही है, गाल पिचक रहे हैं, बाल आधे पक गए हैं। यह वृद्धावस्था का एक मर्मांतक अनुभव है। फिर एक जगह उन्होंने लिखा—

स्नेह निर्झर बह गया है, रेत ज्यों तन रह गया है।

पानी बह गया है और जीवन रेत के टीले की तरह शेष रह गया है। फिर एक दूसरी जगह लिखा है—

दुखता रहता है अब जीवन जैसे पतझड़ का वन उपवन।

निराला का जीवन दरअसल एक बेहद लोमहर्षक संघर्ष में, एक नैतिक और निहत्थे मनुष्य की गाथा है। तो निराला प्रबंध कविता में 'राम की शक्ति पूजा' में भी और 'वन बेला' में भी कह रहे थे —

हो गया व्यर्थ जीवन, मैं रण में गया हार।

जीवन व्यर्थ हो गया।

मिला कहाँ वह सुख जिसका मैं स्वप्न देखकर जाग गया।
आलिंगन में आते-आते मुस्का कर जो भाग गया।।
उज्ज्वल गाथा कैसे गाऊँ उन मधुर चाँदनी रातों की।
अरे खिलखिला कर होने वाली उन बातों की।।

एक बहुत सघन निजी प्रेम प्रसंग है। चाँदनी रात है, हँसी की खिलखिलाहटें हैं, अधूरा और अतृप्त, हवा में टंगा हुआ एक आलिंगन है। ये बहुत निजी प्रसंग हैं, जिनका जिक्र कविता में हो रहा है। लेकिन निराला के यहाँ आत्माभिव्यक्ति या आत्मकथात्मकता सबसे प्रबल है। इसका उदाहरण यह है कि निराला ने एक पूरी लंबी आत्मकथात्मक कविता लिखी 'सरोज स्मृति।' अपनी बेटी की मृत्यु पर लिखी गई कविता है। उसमें निराला ने इस कविता को आत्मदास्तान के रूप में प्रस्तुत किया और इसमें निराला ने अपने संघर्ष, आर्थिक अभाव, जीवन की दरिद्रता, अकेलापन ये तमाम सारी चीज़ों को दिखाया है। लेकिन छोटी कविताओं में भी निराला सीधे-सीधे अपने को केंद्र में रखकर अपने जीवन का सारांश कह रहे थे। कुछ उदाहरण :

मैं अकेला, देखता हूँ आ रही मेरे जीवन की सांध्य बेला।

यह किसी दूसरी के लिए नहीं कहा गया है, अपना ही जीवन है :

पके आधे बाल मेरे, हुए निष्प्रभ गाल मेरे
चाँद मेरी मंद होती जा रही हट रहा मेला।

यह जीवन की ढलान पर उतरता हुआ बुढ़ापा है, जिसमें मेला खत्म हो रहा है, लोग किनारा कर रहे हैं और जीवन की स्थिति शिथिल हो रही है, गाल पिचक रहे हैं, बाल आधे पक गए हैं। यह वृद्धावस्था का एक मर्मांतक अनुभव है। फिर एक जगह उन्होंने लिखा–

स्नेह निर्झर बह गया है, रेत ज्यों तन रह गया है।

पानी बह गया है और जीवन रेत के टीले की तरह शेष रह गया है। फिर एक दूसरी जगह लिखा है–

दुखता रहता है अब जीवन जैसे पतझड़ का वन उपवन।

निराला का जीवन दरअसल एक बेहद लोमहर्षक संघर्ष में, एक नैतिक और निहत्थे मनुष्य की गाथा है। तो निराला प्रबंध कविता में 'राम की शक्ति पूजा' में भी और 'वन बेला' में भी कह रहे थे –

हो गया व्यर्थ जीवन, मैं रण में गया हार।

जीवन व्यर्थ हो गया।

छायावाद में **प्रकृति** व्यक्ति की स्वाधीन आकांक्षा के प्रतीक के रूप में आई। इस प्रकृति के माध्यम से छायावाद के रचनाकार ने संसार के साथ एक नया परिचय स्थापित किया।

'खुले पलक फैली सुवर्ण छवि
जगी सुरभि, डोले मधुबाल,
स्पंदन, कंपन औ नवजीवन सीखा जग ने अपनाना।'

जगत ने प्रकृति से जो सीखा, उसमें स्पंदन था, कंपन था, नवजीवन था, सुगंध थी, हवाएँ थीं और एक सुनहला प्रकाश था, जो धरती-आकाश और आँखों की सरहदों तक छाया हुआ था। यह एक नई दृष्टि और आलोक था। इस नई दृष्टि और आलोक के माध्यम से दुनिया का नया रूप देखा। इस तरह से प्रकृति जागरण के संदर्भ में स्वाधीनता की आकांक्षा के संदर्भ में, वैयक्तिक विकास की भावना के संदर्भ में छायावाद में प्रयुक्त हुई। इस तरह से छायावादी कवियों ने प्रकृति के साथ एक गहन रागात्मक संबंध जोड़ा। प्रकृति मात्र भावों की अभिव्यक्ति का माध्यम नहीं थी, बल्कि छायावादी कवियों ने उसके साथ एक संबंध स्थापित किया। इसलिए प्रकृति के कई रूप दिखाई देते हैं, छायावाद में। कहीं वह सहचरी है, कहीं सखी है, कहीं प्रेयसी है, कहीं माँ है। अनेक मानवीय संबंधों में प्रकृति को ग्रहण करने की प्रवृत्ति दिखाई देती है।

छायावादी कवियों ने प्रकृति के साथ इस गहरी तादात्मयता के आधार पर उसका मानवीयकरण किया। प्रकृति का मानवीयकरण तभी संभव है, जब उसके साथ एक बहुत गहरा भावात्मक संबंध प्रतीत हो। जो बोल नहीं सकते या जिनसे भाषा में बात नहीं हो सकती, उनसे भी बात तब संभव हो पाती है जब यदि उनके साथ बहुत गहरा भावात्मक संबंध पैदा हो जाए। क्योंकि संवाद संबंधों के बिना संभव नहीं होता और संबंध इतना प्रगाढ़ है कि प्रकृति बोलती नहीं है। लेकिन प्रकृति के साथ सुख-दुख बाँटने और उसे मनुष्य की तरह प्रस्तुत करने की प्रवृत्ति विकसित हुई। संवाद को मनुष्य के रूप में प्रस्तुत करना इस बात पर निर्भर करता है कि वह कितना गहरा संबंध महसूस करता है। इसलिए प्रकृति से सवाल भी पूछे गए हैं। पंत ने एक स्थान पर पूछा – 'उस फैली हरियाली में, कौन अकेली खेल रही मां, वह अपनी वय बाली में, सजा हृदय की थाली में।' 'माँ' यहाँ प्रकृति है। सवाल है, तो ऐसा सवाल है जो शिशु अपनी माँ से पूछ रहा है।

'संध्या सुंदरी' निराला की बहुत प्रसिद्ध कविता है-- 'मेघमय आसमान से उतर रही है संध्या सुंदरी परी-सी धीरे-धीरे'...बादलों से भरे हुए आसमान से साँझ की

परी उतर रही है, धीरे-धीरे। और उसके पैरों में पायल है. आँखों में काजल है. बाल खुले हुए हैं, सुंदर है, चेहर पर चाँद की चमक है।

वैसे ही सुमित्रतानंदन पंत, जिन्हें 'प्रकृति का सुकवि' कहा गया है. उनकी बहुत प्रसिद्ध कविता है 'नौका बिहार'। उसमें गंगा का चित्रण उन्होंने एक बाला के रूप में किया है— 'तापस बाला गंगा निर्मल' – 'गोरे अंगों पर सिहर-सिहर लहराता तार तरल सुंदर चंचल अंचल-सा नीलाम्बर।' गंगा के प्रवाह में उठती हुई जो लहरें हैं और उन लहरों पर पड़ती हुई जो आसमान की नीली छाया है उसकी कल्पना पंत ने लहराते हुए नीले आँचल से की है। गर्मी की गंगा है, जो दुबली पतली है, एक लड़की के रूप में गंगा की परिकल्पना की गई है। 'तापस बाला गंगा निर्मल लेटी है श्रांत क्लांत निश्चल।' शांत और क्लांत रत के बिस्तर पर लेटी हुई हैं। आप देख सकते हैं कि मानवीकरण की प्रवृत्ति बहुत प्रबल है और यह गहरे रागात्मक संबंधों के कारण है।

छायावाद में प्रकृति के दोनों रूपों का चित्रण प्रधानता से दिखाई देता है। एक प्रकृति वह है, जो फूल की हँसी के रूप में और झरनों के गीत के रूप में सुनाई देती है, अपने को अभिव्यक्त करती है। दूसरी प्रकृति विराटता वाली भी है। ये दोनों ही प्रकृति के रूप हो सकते हैं; उसके विध्वंसक रूप, उसके कठोर रूप और उसका बहुत काव्यात्मक, संगीतात्मक रूप। प्रकृति के बेहद कठोर पुरुष रूपों के चित्रण में, विशेष तौर पर निराला और प्रसाद अप्रतिम हैं। निराला की कविताओं में, खासतौर पर 'राम की शक्ति पूजा' और प्रसाद की कविताओं में, विशेष तौर पर 'कामायनी' में, **प्रकृति के प्रलयंकारी रूप** दिखाई देते हैं। पहले राम की शक्ति पूजा से– सतघात वर्त तरंग भंग उठते पहाड़।' यह समुद्र के बिल्कुल अशांत हो जाने का वर्णन है। 'जल राशि राशि जल पर चढ़ता खाता पछाड़।'

और प्रकृति के रौद्र रूपों के चित्रण की दृष्टि से कामायनी के चिंता सर्ग की वे पंक्तियाँ अविस्मरणीय हैं, जब प्रलय घटित हो रहा है और उस समय समुद्र की क्या दशा है, पानी की गति कैसी है, उसका चित्रण है – 'उधर गरजती सिंधु लहरियाँ कुटिल काल के जालों सी। चली आ रही फेन उगलती फन फैलाए व्यालों सी।' क्रुद्ध साँपों के समूह की तरह फेन उगलती लहरें साँपों की तरह बढ़ी आ रही हैं। यह बेहद अशांत और विध्वसंकारी चित्र है, समुद्र का, जो अंततः प्रलय में परिवर्तित हो गया। खासतौर पर बेहद अशांत समुद्र का चित्र ही छायावाद में बार-बार आता है, जब वे प्रकृति के ध्वंस का इस्तेमाल करते हैं।

इसी प्रकृति के कोमल रूप भी उसी 'राम की शक्ति पूजा' और 'कामायनी' में मौजूद हैं। कामायनी की 'आशा' सर्ग प्रकृति के बेहद कोमल और संवेदनशील रूप

से शुरू होता है। राम की शक्ति पूजा में – 'ऐसे क्षण अंधकार घन में जैसे विद्युत, जागी पृथ्वी तनयाकुमारिका छवि अच्युत।' गाते खग नवजीवन परिचय तरु मलय वलय, देह प्रपात स्वर्गीय...पक्षियों का गान, सुबह की धूप का उतरना, सुबह की धूप और हवा में हिलती हुई पत्तियाँ ये कोमल प्रसंग पृथ्वी के हैं। इस तरह से प्रकृति अनेक रूपों में छायावाद में दिखाई पड़ती है। उसके कुछ सामाजिक और मनोवैज्ञानिक कारण हैं। इस तरह से प्रकृति और कविता के बीच में एक नितांत नई संबंधी चेतना का सूत्रपात छायावादी कविता करती है। प्रकृति को इस रूप में छायावाद से पहले और बाद में नहीं देखा गया। यह प्रकृति का वैशिष्ट्य है, जिसमें वह एक से अधिक भूमिकाओं में मनुष्य और कविता की कल्पना में उपस्थित होती है।

अगला बिंदु है नारी। छायावाद में नारी की प्रधानता इतनी है कि बहुत दिनों तक छायावाद को स्त्रैण काव्य के रूप में जाना जाता रहा। यानी उसमें पुरुष-भाव की तुलना में स्त्री-भाव, स्त्री-मानसिकता, स्त्री-संवेदना की प्रधानता है। लेकिन छायावाद की पृष्ठभूमि में उपस्थित द्विवेदी युग का निषेध, अनुशासन, अनुशासन का आतंक, चूँकि संस्कार के रूप में मौजूद है, इसलिए छायावाद के आरंभिक चरण में स्त्री के साथ संबंध में एक संकोच भाव दिखाई देता है। छायावाद के बारे में यह ध्यान देने वाली बात है कि छायावाद एक विकासनशील काव्य है, वह परिस्थितियों के हिसाब से, संस्कारों के हिसाब से परिवर्तित होता हुआ चलता है। इसलिए आरंभिक छायावाद में और अंतिम चरण के छायावाद में बहुत फ़र्क दिखाई पड़ेगा। तो द्विवेदी के आतंक और निषेध के संस्कार से ग्रस्त होने के कारण आरंभ में स्त्री के प्रति एक संकोच का भाव दिखाई देता है और इस संकोच के कारण छायावादी रचनाकार स्त्री की तुलना में प्रकृति के साथ संबंध जोड़ने को अधिक श्रेयस्कर मानता है।

पंत की चर्चित कविता है–'छोड़ द्रुमों की मृदु छाया तोड़ प्रकृति से भी माया। बाले, तेरे बाल जाल में कैसे उलझा दूँ लोचन।' लड़की बताओ कि पेड़ों की छाया को छोड़कर और प्रकृति से संबंध तोड़कर मैं तुम्हारे बालों में अपनी आँखें कैसे उलझा दूँ। निर्णय आता है–'छोड़ अभी से इस जग को।' मैं इसे छोड़कर प्रकृति की स्वच्छंदता में विचरण करना चाहता हूँ। आप देख सकते हैं, छायावाद के आरंभ में स्त्री को लेकर थोड़ा संकोच की भावना है। यह संकोच भाव छायावाद के विकासक्रम में धीरे-धीरे कम होता है।

छायावाद की स्त्री मानसिक स्त्री है। उस स्त्री का संबंध सामाजिक व्यवस्था की इकाई से नहीं है। छायावादी रचनाकार स्त्री को सामाजिक संबंधों में नहीं, बल्कि उसे कल्पना और भावना के आइने में चित्रित करता है। उस **स्त्री में एक अमूर्तन** है। ध्यान

हैं तो इसी दौर में प्रेमचंद लिख रहे थे, प्रेमचंद की स्त्री वह स्त्री थी, जो सामाजिक व्यवस्था और उसके बंधनों में जकड़ी हुई थी, सभी प्रकार के आर्थिक और सामाजिक अधिकारों से वंचिता, पुरुष पर पूरी तरह आश्रित और पुरुष प्रधान सामाजिक व्यवस्था में तिल-तिल मरने के लिए अभिशप्त। प्रेमचंद के युग में ही छायावादी भी लिख रहे हैं, लेकिन छायावाद में स्त्री के पास कोई समस्या नहीं है, क्योंकि वह स्त्री समाज से नहीं उठाई गई है, बल्कि दिमाग की कल्पना से निर्मित की गई है।

इसलिए स्त्री के प्रति एक अक्षत पवित्रता का भाव दिखाई देता है, क्योंकि वह स्त्री पत्नी नहीं है। पंत ने लिखा है कि – 'तुम्हारे छूने में था प्राण।' लेकिन यह छूना कैसा है, यह अलग से कहना पड़ा, क्योंकि शायद देह की आकांक्षा या वासना से भी संपृक्त हो सकता है। लेकिन इन्होंने कहा है—'तुम्हारे छूने में था प्राण, संग में पावन गंगा स्नान।' जब तुम छूती थी, तो जीवन लौट आता था और ऐसा लगता था जैसे गंगा की पवित्र लहरों में जीवन ने स्नान कर लिया है। जीवन पवित्र हो जाता था। यानी छूने में प्राण और पवित्रता का बोध साथ-साथ है, इसलिए छायावाद की स्त्री सामाजिक व्यवस्था और धरती पर रहने वाली स्त्री नहीं है। पंत ने एक स्थान पर कहा कि 'तुम्हारे स्वभाव में चाँदनी रहती है, और तुम्हारी साँसों में बच्चे की साँसें घुली हुई हैं।' बच्चों की सांस की तरह निश्च्छल और चाँदनी की तरह पवित्र और पारदर्शी है स्त्री। छायावाद जिस स्त्री को हमारे सामने प्रस्तुत करता है, उसे सामाजिक अनुभवों के व्याकरण से नहीं समझा जा सकता।

दूसरी बात कि स्त्री के प्रति छायावादियों का दृष्टिकोण मध्यकालीन या सामंतवादी संस्कारों से प्रभावित है। इसलिए एक तरफ़ वह स्त्री को पवित्रता का, श्रद्धा का, जीवन का प्रतिमान मानता है, तो दूसरी तरफ़ इस बात पर भी बल देता है कि स्त्री की सार्थकता पुरुष के लिए समर्पित हो जाने में है। सामंतवादी दृष्टि का विरोधाभास यह है कि वह एक तरफ़ स्त्री को देवी के रूप में पूजता है और दूसरे स्थान पर वह स्त्री को सभी प्रकार के अधिकारों से वंचित रखना चाहता है। इसलिए यह देश दुर्गा की पूजा करता है और इसी देश की परंपरा में स्त्री के लिए एक विशेषण गढ़ा जाता है, जिसे 'अबला' कहा जाता है। इस विरोधाभास से आप निपट नहीं पाएँगे, दुर्गा भी है और अबला भी है। ये दोनों नहीं हो सकते। यह सामंतवादी दृष्टि का विरोधाभास है। इस सामंतवादी दृष्टि से प्रभावित होने के कारण छायावाद में स्त्री के प्रति यह अंतर्विरोधी दृष्टि दिखाई देती है।

जो आदर्श स्त्री के प्रति है, उस भाव में बहुत हद तक सामंती मूल्यों की प्रधानता और दबाव दिखाई देते हैं। स्त्री को देवी बनाने की ज़रूरत नहीं है। स्त्री को मनुष्य बनाने की जरूरत है, ताकि उसे हम मनुष्य की तरह अधिकार दे सकें और

उसके साथ जी सकें। लेकिन यह इतिहास और सामाजिक बनावट की एक विचित्र विडंबना है कि हम किसी को बहुत महान बना देने के बाद उसकी गर्दन उतार लेते हैं। इतिहास ने कभी बुद्ध को बहुत महान बना दिया, आधुनिक युग में गाँधी को बहुत महान बना दिया गया, गाँधी राष्ट्रपिता हैं, बापू हैं। गाँधी को अगर मनुष्य के रूप में या व्यावहारिक चिंतक के रूप में रखेंगे तो गांधी बहुत परेशानियाँ पैदा कर सकते हैं। छायावाद की स्त्री की भूमिका भी बस यहीं तक है।

इस दृष्टि से सामंती जीवन का जो विरोधाभास स्त्री को लेकर है, वह कामायनी में दिखाई देता है। 'नारी तुम केवल श्रद्धा हो, विश्वास रजत नग पगतल में। पीयूष स्रोत सी बहा करो जीवन के सुंदर समतल में।' संक्षेप में अर्थ है कि तुम श्रद्धा की वह नदी हो, जो पहाड़ के चरणों में प्रवाहित होती है, इस तरह से पहाड़ के चरणों में बहती हुई वह जीवन को अमृतत्व प्रदान करती है। स्त्री तुम श्रद्धा हो और श्रद्धा होने के नाते पहाड़ रूपी पुरुष के चरणों में प्रवाहित होकर उसे अमृत प्रदान करो। श्रद्धा होते हुए उसकी सार्थकता पुरुष के चरणों के बहने में है।

कामायनी के लज्जा सर्ग के अंत में स्त्री की जिस नियति को प्रसाद ने रेखांकित किया है वह विशुद्ध सामंतवादी नियति है। 'आँसू से भीगे आँचल पर मन का सब कुछ रखना होगा। तुमको अपनी स्मृति रेखा से यह संधि पत्र लिखना होगा।' आँसू से भीगे आँचल पर अपना पूरा मन रखना होगा और अपने मुस्कराहट के हस्ताक्षर से पुरुष के साथ एक संधि पत्र तैयार करना पड़ेगा। यानी पुरुषों और स्त्री के संबंधों के संधि पत्र पर तुम्हें अपनी मुस्कराहट से हस्ताक्षर करने पड़ेंगे। यह दृष्टि प्रसाद की कामायनी में है। इसलिए स्त्री के प्रति जो छायावादियों का दृष्टिकोण दिखाई देता है उसमें कहीं-न-कहीं पुरुष प्रधान समाज के सामंती भाव की प्रबलता दिखाई देती है।

लेकिन महादेवी स्त्री के प्रति एक भिन्न दृष्टिकोण का परिचय देती हैं और वह महसूस करती हैं कि स्त्री को अपने प्राणों की छटपटाहट के माध्यम से अकेलेपन के तमाम खतरों को झेलते हुए, नए रास्ते का निर्माण करना पड़ेगा – 'पंथ रहने दो अपरिचित प्राण होने दो अकेला।' इस अकेले प्राण के बल पर और अपरिचित रास्तों के तमाम खतरों के बावजूद स्त्री की एक नई पहचान बनाने की कोई आकांक्षा छायावाद की स्त्री में मौजूद है। इसलिए छायावाद स्त्री की चेतना का प्रतिनिधित्व करती हुई महादेवी एक कविता में कहती हैं – 'रात्रि के उर में दिवस की चाह का सर हूँ।' रात की छाती में मैं दिन की इच्छा का धँसा हुआ तीर हूँ। यह जो रात पुरुष प्रधान व्यवस्था है, उस व्यवस्था की छाती में दिन की इच्छा का धँसा हुआ तीर स्त्री है। यह दूसरी छवि है। दूसरा आयाम उभरता है जब हम महादेवी के पास आते हैं।

इस तरह से स्त्री को लेकर छायावाद में तीन बातें सामने आती हैं। पहली बात

यह है कि छायावाद की स्त्री का सामाजिक अधिरचना के साथ कोई संबंध नहीं है। वह सामाजिक सत्ता के बीच से नहीं उठाई गई, बल्कि वह एक मानसिक सृष्टि है। इसके प्रति एक पावनता का भाव छायावादियों में दिखाई देता है। दूसरा छायावाद में स्त्री के प्रति सामंती दृष्टि की प्रधानता है। तीसरा है महादेवी के यहाँ स्त्री के आत्मविश्वास और उसकी चुनौतियों के कुछ संकेत ज़रूर हैं लेकिन वे इतने अधिक नहीं हैं कि उन्हें छायावाद की प्रधान प्रवृत्ति के रूप में देखा जा सके।

छायावाद में प्रधानता नारी के प्रेयसी रूप की है। अन्य मानवीय संबंधों की तुलना में प्रेयसी रूप की प्रधानता छायावाद में दिखाई देती है। नामवर सिंह ने इसकी तरफ़ ठीक संकेत किया है कि नारी के सभी सामाजिक रूपों को न अपनाते हुए भी छायावादी कवि ने एक ही क्षेत्र में नारी को जो महिमा प्रदान की, वह स्तुत्य है। श्रद्धामयी, करुणामयी, कल्याणमयी, कलामयी तथा प्रेममयी जीवन सहचरी नारी का चित्रण करके छायावादी कवियों ने समाज और साहित्य को जीवन-रस से सींच दिया। इसलिए नारी के प्रति जो छायावाद के दृष्टिकोण का साराँश है, पंत की इस कविता में समेटा जा सकता है–'**अकेली, सुंदरतामयी, कल्याणमयी, सकल ऐश्वर्यों की संधान, देवी, माँ, सहचरि, प्राण।**'

'**राष्ट्रीय सांस्कृतिक चेतना**'–छायावाद पर यह आरोप रहा है कि यह व्यक्तित्ववाद का काव्य है और व्यक्तित्ववादी घेरे में आबद्ध होने के कारण यह कविता अपनी ज्वलंत परिस्थितियों और मुद्दों के साथ संवाद नहीं करती। राष्ट्रीय स्वाधीनता आंदोलन के दौर में ये कवि अपने प्रेम और सौंदर्य चेतना की कोख में कैद दिखाई देते हैं। एक घेरे में अपने को बाँध रखा है। इसलिए सामाजिक जीवन के तूफान और हाहाकार तथा मुद्दे इन कवियों तक नहीं पहुँचते। वह एक परिस्थिति विमुख और समाज विमुख कविता के रूप में ही प्रस्तुत की गई थी।

संभव है कि छायावाद के आरंभिक चरण की कविताओं में ये बातें एक हद तक सच हों, लेकिन अपनी विकास प्रक्रिया में छायावाद धीरे-धीरे वैयक्तिकता की खोल से बाहर निकलता है और वह राष्ट्रीय सांस्कृतिक चेतना की अभिव्यक्ति का माध्यम भी बन जाता है। इसमें शक नहीं है कि छायावाद की राष्ट्रीय सांस्कृति चेतना में राजनीतिक नारेबाज़ी और हुल्लड़पन का अभाव है। छायावाद की राष्ट्रीय सांस्कृतिक चेतना में उसकी प्रकृति के अनुसार, एक शालीनता और सूक्ष्मता विद्यमान है। इसलिए द्विवेदी युग की तुलना में छायावाद की राष्ट्रीय सांस्कृतिक चेतना की प्रकृति सूक्ष्म है, एक हद तक अमूर्त भी है। लेकिन इसके बावजूद इस कविता की समूची यात्रा को देखते हुए, उसमें राष्ट्रीय सांस्कृतिक संदर्भों के अनेक प्रसंग दिखाई पड़ जाते हैं।

इस दृष्टि से छायावाद की राष्ट्रीय सांस्कृतिक चेतना की पहली अभिव्यक्ति 'जागरण की चेतना' में होती है। छायावादी कविताओं में बार-बार इस बात का ज़िक्र होता है कि 'रात बीत गई है, सोए हुए लोगों अब जगो।' यानी जागरण का आह्वान कविता में बार-बार है। छायावाद की सभी कविताओं ने प्रायः 'जागरण' का ज़िक्र किया गया है और उस जागरण में रात के बीतने की सूचना है। यह मूर्छा की रात है। यह पराधीनता की रात है। यह सामाजिक जड़ता की रात है, अज्ञानता की है, जो बीत गई है। इसलिए रात के बीतने और फिर व्यक्ति और समाज को जगाने का स्वर कविता के स्तर पर सुनाई पड़ता है।

कुछ कवियों की कुछ पंक्तियाँ देखिए, जिनमें जागरण की चेतना के पक्के सबूत दिखाई देते हैं। पहले प्रसाद की कविता—'बीती विभावरी जागरी।' रात बीत गई है, हे सखि जाग। हालाँकि यह प्रेम कविता की तरह है लेकिन जागने, जगाने और रात बीतने के संकेत स्पष्ट हैं। दूसरी कविता निराला की 'तुलसीदास' – 'जागो जागो आया प्रभात बीती वह बीती अंध रात।' जागो कि प्रभात आ गया है, जो अंधेरी रात थी, वह बीत गई है। पंत लिख रहे थे—'प्रथम रश्मि का आना रंगिणि तूने कैसे पहचाना।' सुबह हो गई, पक्षी बताओ कि, तुम्हें कैसे पता चला। यहाँ भी रात के बीत जाने और सुबह हो जाने के संकेत स्पष्ट हैं। महादेवी की कविता है – 'जाग तुझको दूर जाना। चिर सजग आँखें उनिंदी आज कैसा व्यस्त बाना, जाग तुझको दूर जाना।' हमेशा सावधान रहने वाली आँखों में खुमारी क्यों है, तुम्हारा बाना अस्त-व्यस्त क्यों है...

निराला में स्वाधीनता की चेतना अनेक स्तरों पर प्रतिफ़लित हुई और इस संदर्भ में जो बहुत चर्चित कविता है, वह है—'जागो फिर एक बार।' इस तरह से राष्ट्रीय चेतना के कुछ बाहरी रूप भी हैं, जिनमें कुछ आह्वान है जिसमें कहीं पर उद्बोधन का भाव भी है। प्रसाद की पंक्तियाँ हैं—'हिमाद्रि तुंग शृंग से प्रबुद्ध शुद्ध भारती, स्वयं प्रभा समुज्वला स्वतंत्रता पुकारती।'

लेकिन छायावाद की सांस्कृतिक चेतना इन बाहरी ढाँचों के अतिरिक्त एक सूक्ष्म स्तर पर भी दिखाई देती है। छायावाद सांस्कृतिक स्तर पर **पश्चिम के साथ एक बौद्धिक मुठभेड़** करता है। पश्चिम के सांस्कृतिक मूल्यों और हिंदुस्तान के सांस्कृतिक मूल्यों को आमने-सामने किया गया है और यह बौद्धिक मुठभेड़ कामायनी में दिखाई पड़ती है। कामायनी में दो संस्कृतियाँ मौजूद हैं। एक संस्कृति भाववादी है, जिसकी सूत्रधारिणी है श्रद्धा। दूसरी संस्कृति इड़ा के द्वारा संचालित है और इस संस्कृति के आधार पर मनु एक ऐसी सभ्यता का निर्माण करते हैं, जिसे हम वैज्ञानिक सभ्यता कह सकते हैं। इसलिए उजड़े हुए सारस्वत प्रदेश में जिस नयी संस्कृति का निर्माण मनु इड़ा के सहयोग से करते हैं, वह व्यंजनात्मक स्तर पर

पश्चिमी संस्कृति है। कामायनी में प्रसाद ने इस वस्तुवादी संस्कृति की अनेक विसंगतियों और विडंबनाओं की ओर संकेत किया गया है। यह यांत्रिक सभ्यता है, जो मनुष्य की सहजता का क्षरण करती है और लोकतंत्र के आधार पर एक प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष तानाशाही को जन्म देती है। यांत्रिक सभ्यता में लोकतंत्र लोक के प्रति नहीं, बल्कि शक्ति के प्रति अधिक समर्पित होता है।

यंत्र सभ्यता की अनेक विकृतियाँ हैं, जिनका ज़िक्र कामायनी में किया गया है। एक स्थान पर एक पात्र मनु से कहता है कि यंत्रों का आविष्कार करके तुमने हमारी मानवीय शक्तियों का अपहरण किया। यंत्रों ने मनुष्य की सहज और स्वाभाविक शक्ति को नष्ट कर दिया। इसलिए यंत्र सभ्यता ने मनुष्य के जीवन में अस्वाभाविक रूप से विलास और विकलाँगता की भावना विकसित की।

वहाँ पर मनु संविधान का निर्माण करते हैं। वे मानते हैं कि चूँकि मैंने नियमों का निर्माण किया है, इसलिए मैं नियमों से परे हूँ। जिस इड़ा के साथ उन्होंने मिलकर सभ्यता का निर्माण किया है, वह इड़ा को शराब के नशे में अपनी संगिनी बनाना चाहते हैं और इड़ा उसका प्रतिरोध करती है। तब कहते हैं कि मैं प्रजापति हूँ और इस सृष्टि में किसी को अधिकार नहीं है कि प्रजापति की इच्छा का अनादर करे। इसलिए जब वह बगावत करती है, तब देवता क्रुद्ध हो जाते हैं और समाज में जब सूचना पहुँचती है, तो असंतोष पैदा होता है और मनु के खिलाफ़ एक बगावत शुरू होती है। कामायनी में एक युद्ध दिखाया गया है, जिसमें अंततः मनु की पराजय होती है और घायल अवस्था में पड़े हुए मनु श्रद्धा के सपने में दिखाई पड़ते हैं। फिर वह आती है और मनु को ले जाती है।

इतनी उन्नत सभ्यता का निर्माण करने के बावजूद जो अत्याचार और अधिनायकवाद है, उसमें कहीं कोई कमी नहीं आती। पश्चिम यह कह रहा है कि समाधान प्रकृति पर नियंत्रण से है, क्योंकि जीवन की सभी समस्याएँ इसलिए हैं, क्योंकि प्रकृति अनियंत्रित है। अगर प्रकृति का नियंत्रण हो जाए, तो समस्याओं का समाधान पाया जा सकता है। प्रकृति पर नियंत्रण का माध्यम है टेक्नालॉजी। इस विवाद को आज के संदर्भ में भी खड़ा किया जा सकता है और एक बहुत जीवंत विवाद है।

एक सभ्यता वह है। दूसरी सभ्यता श्रद्धा के साथ है। श्रद्धा मनु के साथ एक गुफा में रहती है और जीवन की बहुत कम ज़रूरतें हैं। जीवन बहुत सहज है। लेकिन मनु कहते हैं कि इस तरह के जीवन से तो अच्छा है कि मर जाएँ। जिस जीवन में कोई चुनौती नहीं है, कोई विकास नहीं है। यहीं पर दो संस्कृतियाँ आमने-सामने दिखाई पड़ती है। पश्चिम के अनुसार विकास का अर्थ है प्रकृति पर नियंत्रण, मनुष्य की इच्छाओं में इज़ाफा, जीवन की कृत्रिमता। यानी भोग करने के अधिक

अवसरों का निर्माण या प्रकृति से अधिक-से-अधिक दूर हटने और कटने के अवसरों का निर्माण पश्चिम के अनुसार विकास का मूल आधार है। प्रसाद ने कहा कि पश्चिम की जो विकास की अवधारणा है, वह अवधारणा संस्कृति और मनुष्यघाती अवधारणा है और यह अंततः युद्ध और विध्वंस की तरफ़ ले जाती है।

गांधी भी एक सभ्यता का निर्माण करना चाहते थे, ऐसी सभ्यता जो मनुष्य की जरूरतों को राक्षस के रूप में परिवर्तित नहीं कर दे, जिसमें दूसरों की पीड़ा और दूसरों की ज़रूरत की संवेदना बची रहे और यदि हम पूरी तरह से यंत्र सभ्यता पर आधारित हो जाएँगे, तो दूसरे खत्म हो जाएँगे या दूसरे हमारे मशीनीकरण के रूप में बचे रह जाएँगे। इसलिए जो व्यापक मानवीय संवेदनीयता है या जिससे समाज बनता है या जिससे सामाजिकता उत्पन्न होती है, यंत्र सभ्यता उस सामाजिकता को नष्ट कर देगी। बहुत सूक्ष्म स्तर पर इस प्रश्न को प्रसाद उठाते हैं।

इस कोलाहल से भरे हुए युद्ध से मनु को उठाकर श्रद्धा कैलाश पर ले जाती है। एक ऊँचाई पर चढ़ने के बाद तीन बड़े-बड़े गोले दिखाई देते हैं। तीनों गोले इच्छा, क्रिया और ज्ञान के लोक हैं। तीनों का राज श्रद्धा बताती है। वह एक स्थान पर कहती है कि मनुष्य के जीवन की सबसे बड़ी विडंबना यह है कि इच्छा, क्रिया और ज्ञान में कोई संबंध नहीं है। 'ज्ञान दूर कुछ क्रिया भिन्न इच्छा क्यों पूरी हो मन की।' वैयक्तिक स्तर पर जो हम जानते हैं और जो हम जीते हैं और जिसकी हम इच्छा करते हैं, इन तीनों के बीच कोई संबंध नहीं होता और यही जीवन की वास्तविक विडंबना है। सामाजिक स्तर पर राजनीति, धर्म और विज्ञान के बीच कोई संबंध नहीं है इसलिए अनेक सभ्यतागत विडंबनाओं का निर्माण होता है। राजनीति, विज्ञान और धर्म को एक दिशा में काम करना चाहिए और वैयक्तिक स्तर पर इच्छा, ज्ञान और क्रिया के बीच में एक संबंध होना चाहिए। इससे जीवन में संतुलन पैदा होगा। तीनों लोकों का रहस्य बताने के बाद पूछते हैं कि ये तीनों अलग-अलग रहेंगे, तो जीवन में समरस्ता कैसे पैदा होगी। तब वह मुस्कराती है और उसकी मुस्कराहट में वे तीनों गोले एक-दूसरे में समा जाते हैं और तब शैवाद्वैत के आधार पर दर्शन का सहारा प्रसाद लेते हैं और श्रद्धा की इस मुस्कराहट से जब तीनों एक में हो जाते हैं तब कामायनी की अंतिम पंक्तियाँ आती हैं—

समरस थे जड़ या चेतन, सुंदर साकार बना था।
चेतनता एक विलसती आनंद अखंड घना था।।

जब सब कुछ समरस हो जाएगा, तो जो बचा रहेगा वह अखंड आनंद होगा। इसलिए अंततः इस दर्शन पर भी आते हैं कि समरसता की पहली अनुभूति व्यक्ति के स्तर पर होगी इसलिए समानता शब्द का प्रयोग नहीं किया गया है। समरसता पहले चेतना के स्तर पर घटित होगी, आर्थिक स्तर पर अगर आप समानता तय करते

हैं, तो फिर एक असमान आर्थिक व्यवस्था वाली सभ्यता अपने-आप उभर आएगी, इसका कोई पक्का समाधान नहीं है। इसलिए स्थायी समाधान, प्रसाद के अनुसार, व्यक्तित्वांतरण है।

कामायनी के अंत को लेकर बहुत विवाद है। खासतौर पर मार्क्सवादी चिंतन के हिसाब से बहुत विवाद है कि यह वैयक्तिक मुक्ति है और इसका समाज से कोई लेना-देना नहीं है। यह एक प्रकार का पलायन है। शुक्ल जी ने भी इसे बहुत आदर की दृष्टि से नहीं देखा। श्रद्धा की चेतना सामाजिक नहीं है, वैयक्तिक चेतना है। यह भी एक प्रकार की सांस्कृतिक चेतना है, जो कामायनी के माध्यम से छायावाद में व्यक्त होती है। अतः छायावाद की सांस्कृतिक चेतना स्थूल नहीं है। छायावाद हमारी सांस्कृतिक चेतना और परंपराओं को महिमान्वित करने वाला काव्य है, एक औपनिवेशिक भारत में, जो हिंदुस्तान में सांस्कृतिक आत्मा है और सांस्कृतिक सोच है, उस सोच को पश्चिम के सामने खड़ा करने का संकल्प छायावादियों ने लिया और यह उसकी सांस्कृतिक चेतना का वैशिष्ट्य भी है और उसकी देन भी।

छायावादी कविता का शिल्प पक्ष

रचना--प्रक्रिया में अनुभूति और अभिव्यक्ति एक आंतरिक अद्वैत में विन्यस्त होते हैं। रचना की सृष्टि अपने स्थूल रूप में इस अद्वैतता को तोड़ती है, किंतु अनुभूति और अभिव्यक्ति के संबंधों की अनिवार्य पारस्परिकता का संकेत भी देती है। कविता की भाषा संवेग प्रधान होती है। आई.ए. रिचर्ड्स ने भाषा के तथ्यात्मक प्रयोग और रागात्मक प्रयोग का उल्लेख किया है। वेदांत और दर्शन की भाषा तथ्यात्मक होती है, जबकि कला की भाषा संवेगात्मक। एम.एच.एब्राम के अनुसार कलाकृति मूलतः आंतरिक स्पंदन को काव्य रूप में अभिव्यक्त करती है। भाव और भाषा की अभिन्नता को रेखांकित करते हुए तुलसी ने भी लिखा :

गिरा अरथ जल बीचि सम कहियत भिन्न न भिन्न।

—रामचरितमानस, बालकांड, दोहा—18

वागार्थोविव सम्पृक्तौ, वागमे प्रतिपत्तये।

—रघुवंश, कालिदास

छायावाद ने कथ्य और शिल्प—दोनों ही स्तरों पर सामान्य के स्थान पर विशेष, परंपरा के स्थान पर नवीनता तथा रूढ़ि-निर्वाह के स्थान पर विद्रोह की अभिव्यक्ति की। छायावादी काव्यधारा भाव-प्रेरित व्यक्तिवादी चेतना की कलात्मक अभिव्यक्ति है। छायावाद के रूप-विन्यास की भव्यता ने उसे विशिष्ट शैली मात्र होने का भ्रम पैदा किया, जिसके शिकार आचार्य शुक्ल तक हुए।

2. काव्य-भाषा

छायावाद के केंद्रीय मूल्य-स्वातंत्र्य की अभिव्यक्ति उसकी काव्य-भाषा के विधान में लक्षित होती है। अज्ञेय के अनुसार छायावाद के सम्मुख पहला प्रश्न अपने काव्य के अनुकूल भाषा का, नई संवेदना के नए मुहावरे का था। इस समस्या का उसने धैर्य और साहस के साथ सामना किया।

छायावाद ने द्विवेदी युग द्वारा परिमार्जित भाषा के भीतर निहित काव्यात्मक संभावनाओं को पहचाना और उसकी व्यंजकता में वृद्धि की। शब्द और अर्थ को अब नए संबंध-विधान में छायावाद ने गूंथा, जिससे भाषा में अर्थ ध्वनि की नई संभावनाँ विकसित हुईं। जैसे–तुतला उपक्रम, तुमुल तुम, नील झंकार, मुर्च्छित आतप आदि।

शब्दावली : छायावदी कवियों ने शब्दों की अंतरात्मा को पहचाना। उनकी कविता में शब्दावली भावावेग और संवेदनशीलता से जुड़कर प्राणवान हो उठी। इन कवियों ने कविता में शब्द-गुंफन की प्रक्रिया में संगीत पर अधिक ध्यान दिया–

''तापस बाला गंगा निर्मल, शशि मुख से दीपित मृदु करतल
लहर उर पर कोमल कुंतल
गोरे अंगों पर सिहर-सिहर लहराता तार तरल सुंदर
चंचल अंचल-सा नीलांबर।'' –गुंजन

नए शब्द : प्रवाहमयी अभिव्यक्ति के लिए छायावादी कवियों ने बहुत से नये शब्द भी गढ़े–जैसे- अरुणिम, स्वर्णित, उर्मिल, स्वप्निल जैसे अर्धतत्सम शब्द। पंत ने 'प्रियाह्लाद' की जगह प्रिआहलाद, मरूदाकाश की जगह मरूताकाश संधियाँ कीं।

इन कवियों ने अंग्रेज़ी स्वच्छंदतावादी कविता में प्रयुक्त कतिपय शब्दों का छायानुवाद भी किया :

स्वर्णिम प्रकाश, स्वर्णिम स्वप्न, भग्न हृदय आदि।

स्वच्छंद-चेतना और नए मूल्यों की अभिव्यक्ति के लिए छायावादी कवियों ने अनुकूल शब्द योजना भी की। भाषा को व्याकरण के कठोर अनुशासन से मुक्त कर उसे आंतरिक लय से संपृक्त किया। इसलिए छायावाद की भाषा भी आत्मनिष्ठ बन गई। इस 'आत्मनिष्ठता' का प्रभाव छायावादी कवियों की रचनाओं में देखा जा सकता है।

नामवर सिंह के अनुसार प्रसाद के शब्द – मधु की तरह प्रगाढ़ है, क्योंकि वे गहन अनुभूतियों के कवि थे। सविता, वन्या, चषक जैसे पौराणिक शब्दों के प्रयोग की बहुलता प्रसाद की सांस्कृतिक चेतना का प्रतीक है। मधुर, मधु, माधव, मिलन-कुंज, अलसायी वेदना, आह, उद्‌भ्रांत शून्यता – जैसे शब्दों का आधिक्य प्रसाद की सौंदर्य चेतना और व्यथित हृदय का संकेत देते हैं।

पंत की परिष्कृत रुचि, सुकुमारता एवं सौंदर्य चेतना का प्रमाण उनकी शब्द-योजना में लक्षित होता है। अत्यधिक कल्पना-प्रवण होने के कारण उनकी भाषा में वायवीयता, सूक्ष्मता और स्वच्छंदता अधिक है।

निराला काव्य के पद-विन्यास तथा शब्द-चयन पर उनके विद्रोही व्यक्तित्व की विराटता तथा ओजस्वी चेतना का प्रभाव है। उनकी शैली का वेग उदात्त प्राणों से उद्‌भूत है और व्यग्रता उनके आंतरिक संघर्ष की सूचना देती है।

डॉ० रामविलास शर्मा के अनुसार – 'उनकी कविता केवल मैदान में सर-सर करती हुई गंगा की भांति नहीं, वरन पहाड़ों के बीच टकराती, थमी अँधेरी घाटियों में पत्थरों को काटती बहाती तुमुल शब्द करती चलती है।'

(संस्कृति और साहित्य, पृ. 1·16)

महादेवी वर्मा के गीतों में प्रयुक्त अश्रु, स्मित, दीप, वर्तिका स्वप्न, मान, समर्पण, करुणा आदि शब्द उनकी वेदनानुभूति एवं प्रणय-आकांक्षा के सूचक हैं।

अप्रस्तुत विधान/अलंकार योजना

छायावादी कवियों ने अपनी अभिनव चेतना की अभिव्यक्ति के लिए प्रभाव-साम्य पर आधारित अलंकारों का आश्रय लिया, जैसे –

''झंझा झकोर गर्जन था, बिजली थी नीरद माला
पाकर इस शून्य हृदय को सबने आ डेरा डाला।।''

—आँसू, प्रसाद

यह शून्य हृदय आकाश है, झंझा झकोर, मानसिक क्षोभ का, बिजली तड़प का और नीरद माला आद्र करुण मन:स्थिति के द्योतक हैं।

छायावादी कवि अलंकारों की मर्यादा वाणी की सजावट के साथ ही सहज भावाभिव्यक्ति में मानते हैं

''अलंकार केवल वाणी की सजावट के लिए नहीं, वरन् भावाभिव्यक्ति के लिए भी विशेष द्वार है।'–पंत, पल्लव।

सादृश्यमूलक अलंकारों में उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, रूपकातिशयोक्ति तथा वैषम्य मूलक अलंकारों में विरोधाभास का प्रयोग भी इन कवियों ने किया है, लेकिन ये प्रयोग बहुत सहज हैं। छायावादी कविता में मूर्त विषयों के लिए मूर्त अप्रस्तुत तथा अमूर्त विषयों के लिए अमूर्त अप्रस्तुतों की भी योजना हुई है। विशेषण-विपयर्य –दूरस्थ विशेषणों और विशेष्यों को एक स्थान पर संघटित करना –

1. बच्चों के तुतले भयसी–(बली की जगह भय) –पल्लव

2. वेदना के ही सुरीले हाथ से–(कंठ की जगह हाथ) –वीणा

दृढ़ जटा मुकुट हो विपर्यस्त प्रतिलट से खुल
फैला पृष्ठ पर, बाँहुओं पर वक्ष पर विपुल
उतरा ज्यों दुर्गम पर्वत पर नैशान्धकार
चमकती दूर ताराएँ ज्यों हो कहीं पार।

—(अनामिका, राम की शक्तिपूजा, निराला)

(इस चित्र में राम युद्ध से लौट रहे हैं। जटा अस्त-व्यस्त होकर पीठ, वक्ष और बाँहों पर फैल गई हैं तथा नेत्रों से तीव्र प्रकाश प्रस्फुटित हो रहा है। राम के उस मूर्त वेश को उपमति करने के लिए निराला ऐसे पहाड़ की कल्पना करते हैं, जिसपर गहन अंधकार छाया हुआ है तथा जिसके ऊपर दो तारिकाएँ चमक रही हैं। यह मूर्त विषय के लिए मूर्त अप्रस्तुत की योजना है।)

अमूर्त भावों को प्रेषणीय बनाने के लिए अमूर्त अप्रस्तुत योजना–

"कोमल किसलय के अंचल में नन्हीं लतिका ज्यों छिपती-सी
गोधूली के धूमिल पट में दीपक के स्वर में दिपती सी।।"

—(कामायनी,लज्जा सर्ग)

'मानवीकरण' और 'विशेषण विपर्यय' छायावाद के विशेष अलंकार हैं।

मानवीकरण के माध्यम से जड़ पदार्थ अथवा अमूर्त विषय पर मानवीय क्रिया-व्यापारों का आरोप किया जाता है। (संध्या सुंदरी, जुही की कली, 48)

बिंब विधान

बिंब इमेज का हिंदी रूपांतर है। लेविस के अनुसार बिंब शब्द-निर्मित चित्र है:

— इसकी अनेक परिभाषाएँ की गई हैं।

— बिंब ऐंद्रिय माध्यम द्वारा आध्यात्मिक अथवा बौद्धिक सत्यों तक पहुँचने का मार्ग है।

— बिंब किसी अमूर्त विचार अथवा भावना की पुनर्निर्मित है।

— बिंब पदार्थों के आंतरिक सादृश्य की अभिव्यक्ति है।

सन् 1908 में हूल्मे और फ्लिंट ने–बिंबवाद पर एक घोषणा-पत्र प्रकाशित किया। आचार्य शुक्ल ने फ्लिंट को बिंबवाद का प्रवर्तक माना है। 1912–17 के बीच ब्रिटेन और अमेरिका में बिंबवाद का एक आंदोलन ही चल पड़ा, जिसका नेतृत्व एजरापाउंड ने किया। इसमें डी.एच.लारेंस, कैरोल विलियम्स, रिचर्ड एसिंग्टन आदि शामिल थे। हिंदी समीक्षा में इस शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने अपने एक निबंध भाव या मनोविकार में 1915 में किया।

शुक्ल जी के अनुसार चित्रण बिंब का मुख्य धर्म है....,संश्लिष्ट रूप-विधान इसकी दूसरी विशेषता है।

आचार्य शुक्ल के अनुसार–कविता में बिंब ग्रहण होता है, अर्थ ग्रहण नहीं।

समग्रत: यह कहा जा सकता है–'किसी भाव, विचार, वस्तु, घटना आदि का इंद्रिय संबंध काल्पनिक शब्दबद्ध संमूर्तन काव्य-बिंब है। बिंब का ऐंद्रिय संवेद्य होना अनिवार्य है।

'छायावादी कवियों ने बिंब को चित्र-भाषा कहा है। छायावादी कवियों का बिंब-विधान उनकी आंतरिक सौंदर्य-चेतना का प्रतिफल है–भाव, रूप, रस, गंध, ध्वनि, गति तथा स्पर्श के अनेक चित्रों से छायावादी कविता निर्मित है। छायावादी कविता में चाक्षुष और श्रावण बिंबों का प्रचुर प्रयोग किया जाता है। उदाहरणार्थ–

'अरुण की एक किरण अम्लान, अधिक अलसाई हो अभिराम।'

(अरुण अधर में धवल मुस्कान की छाया का चित्र), चाक्षुप।

उड़ गया अचानक लो भूधर फड़का अपार वारिधि के पर
झर-झर-झर निर्झर गिरि सर में, घर, मरू, तरू-ममेर सागर में।।'

—निराला

ध्वनि बिंब

'पत्रों के आनत अधरों में
सो गया निखिल वन का मर्मर।
सांध्य वन के क्रमश: थमते हुए
रव का चित्रण।

विराट-बिंबों की योजना छायांकन कविता की महत्त्वपूर्ण वैशिष्ट्य है—

अवनि-अंबर की रूपहली सीप में
अरल मोती-सा जलधि जब काँपता।। –महादेवी

है अमानिशा उगलता गगन घन अंधकार
खो रहा दिशा का ज्ञान, स्तब्ध है पवन चार
अप्रतिहत गरज रहा पीछे अंबुधि विशाल
भूधर ज्यों ध्यान मग्न : केवल जलती मशाल।''

—राम की शक्तिपूजा

'वस्तुत: छायावादी कविता का अभिव्यक्ति पक्ष बिंबाश्रित है। संश्लिष्ट बिंब रचना छायावादी कविता की अविस्मरणीय उपलब्धि है। छायावादी बिंब विधान वैयक्तिक सौंदर्य-चेतना एवं सूक्ष्म अनुभूतियों से प्रेरित होने के कारण पर्याप्त

वैविध्यमय है। अतीत प्रेम और सौंदर्य के प्रति विशेष लगाव के कारण प्रसाद का बिंब-विधान ऐंद्राजालिक सौंदर्य की प्रगाढ़ ऐंद्रिय अनुभूति से आवेशित हैं। पंत के बिंबों में भावावेश की सघनता है। वर्ण और ध्वनि-बोध की सामर्थ्य के आधिक्य के कारण उनकी बिंब-योजना में वर्णमय चाक्षुष बिंबों एवं नादबिंबों का प्राचुर्य मिलता है। महादेवी ने व्यंजनागर्भी प्रतीक बिंबों का विशेष प्रयोग किया है। चित्रकला से संबद्ध होने के कारण उनके बिंबों में 'वर्ण बिंबों का आधिक्य है।' निराला उदात्त एवं विराट बिंबों के कवि हैं।

बिंब जब किसी निश्चित अर्थ में रूढ़ हो जाते हैं, तो प्रतीक बन जाते हैं। बिंबों में प्रतीक की अपेक्षा, गत्वरता, जीवंतता एवं नूतनता अधिक होती है।

प्रतीक विधान : प्रतीक विधान छायावाद की अभिव्यंजना-प्रणाली का महत्त्वपूर्ण अंग है। सूक्ष्म सौंदर्य की अभिव्यक्ति और गहन अनुभूति की प्रेषणीयता के लिए छायावादी कवियों ने – संवेदनशील प्रतीकों का प्रयोग किया। प्रसाद के अनुसार – 'सौंदर्य-बोध बिना भय के हो ही नहीं सकता। सौंदर्य की अनुभूति के साथ ही हम अपने संवेदनों को आकार देने के लिए, उनका प्रतीक बनाने के लिए बाध्य हैं।' – (काव्य और कला तथा अन्य निबंध)

पंत ने प्रतीकों को मानस-चेतना का प्रामाणिक पत्रक कहा है। उनके अनुसार– हमारा मन जिस प्रकार विचारों के सहारे आगे बढ़ता है, उसी प्रकार मानव चेतना प्रतीकों के सहारे विकसित होती है।' (गद्यपथ)

छायावादी कविता का प्रतीक विधान प्रभाव साम्य पर आधारित है। उपमानों के प्रयोग की पुनरावृत्ति के कारण प्रतीक का जन्म होता है। छायावादी कवियों ने कुछ विशिष्ट उपमानों का प्रतीकवत प्रयोग किया। जैसे – शुक्ल जी के अनुसार सुख, आनंद, प्रफुल्लता, यौवन काल के स्थान पर उषा, प्रभात, मधुकाल, प्रिया के स्थान मुकुल, प्रेमी के स्थान पर मधुप, श्वेत या शुभ्र के स्थान पर खत, विषाद या अवसाद के स्थान पर अँधेरी रात, पतझड़, मानसिक आकुलता या क्षोभ के स्थान पर झंझा, तूफान आदि। अपनी प्रगाढ़ ऐंद्रिय अनुभूतियों की व्यंजना एवं सूक्ष्म सौंदर्य की सांकेतिक अभिव्यक्ति के लिए अपनी विशिष्ट रुचि के अनुकूल कवियों ने प्रतीकों का चयन किया।

प्रतीक

किसी विचार, भाव या वस्तु के स्थान पर उसका कोई प्रतिनिधान प्रतीक है।

बिंब और प्रतीक

बिंब की प्रमुख विशेषता जहाँ भास्वर है, वहीं अर्थ की दिशा में गर्भित संकेत करके स्वयं लुप्त हो जाना प्रतीक की विशेषता है।

बिंब जहाँ मुख्यत: दिक् से संबद्ध है, वहीं प्रतीक काल से है। इसलिए बिंबानुभूति जहाँ ऐंद्रिय होती है, वहाँ प्रतीक ऐतिहासिक और जातीय चेतना का प्राणमय संवाहन है। बिंब के केंद्र में स्रष्टा और प्रतीक के केंद्र में मानव-समाज और उसके समृद्ध अनुभव होते हैं।

प्रगतिवाद

बीसवीं शताब्दी के चौथे दशक में जो राजनीतिक और सामाजिक परिवर्तन हो रहे थे उसे न तो छायावादी भाषा में बाँधा जा सकता था और न ही उसे सांस्कृतिक मानसिकता में अभिव्यक्त किया जा सकता था। अत: हिंदी कविता के इतिहास में जीवन-यथार्थ को केंद्रीय चेतना के रूप में धारण करने वाली प्रगतिवादी काव्यधारा का जन्म हुआ। सामान्यत: प्रगतिवाद को छायावाद की प्रतिक्रिया में उत्पन्न काव्यांदोलन माना जाता है। परंतु अद्यतन आलोचना इसे स्वाभाविक विकास मानती है। आरंभ में पंत और निराला ने छायावादी मसृणता, कल्पना और सांस्कृतिक चेतना को छोड़कर प्रगतिवादी चेतना की कविताएँ लिखी हैं। 1936 में भारत में प्रगतिशील लेखक संघ की स्थापना हुई तथा लखनऊ में प्रेमचंद्र की अध्यक्षता में इसका पहला अधिवेशन हुआ। इस अधिवेशन के साथ ही एक काव्यांदोलन के रूप में प्रगतिवाद का आरंभ हुआ।

प्रगतिवादी साहित्य-दृष्टि में साहित्य को सोद्देश्य माना गया तथा इसे एक सामाजिक और राजनीतिक कर्म के रूप में परिभाषित किया गया। प्रगतिवाद ने मार्क्सवाद को वैचारिक आधार के रूप में स्वीकार किया और उसी के अनुरूप सामाजिक यथार्थ के रूप में किसान और मज़दूर-जीवन के चित्रण को अनिवार्य माना। प्रगतिवादी धारा के कवियों में नागार्जुन, त्रिलोचन, केदारनाथ अग्रवाल, शमशेर, केदारनाथ सिंह, चंद्रकांत देवताले और मुक्तिबोध प्रमुख हैं।

यथार्थपरक दृष्टि प्रगतिवाद का केंद्रीय मूल्य है। यह यथार्थ मानसिक संकल्पना नहीं है, बल्कि आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक परिस्थितियों के संघात से निर्मित वस्तुगत सत्य है।

प्रगतिवाद **शोषण की अमानवीयता** का चित्रण करता है। यह शोषण विषमताजनित है। पूँजीपति वर्ग और मज़दूर-वर्ग की विषमता और पूँजीपति वर्ग द्वारा मज़दूर वर्ग के शोषण की अमानवीयता का चित्रण प्रगतिवाद में हुआ है। दिनकर की कुछ पंक्तियाँ उल्लेखनीय हैं–

> श्वानों को मिलता दूध-भात, भूखे बच्चे चिल्लाते हैं,
> माँ की गोदी से चिपक-चिपक, जाड़े की रात बिताते हैं।

प्रगतिवादी कविता में **पूँजीवादी व्यवस्था के प्रति तीव्र घृणा** दिखाई देती है। प्रगतिवादी पूँजीवाद को शोषण का कारण मानता है। अत: वह पूँजीवाद को सबसे बड़े शत्रु के रूप में ग्रहण करते हुए अपनी पूरी शक्ति इस पर प्रहार करने में लगाता है। इस संदर्भ में मुक्तिबोध की ये पंक्तियाँ उल्लेखनीय हैं :

तू है मरण, तू है रिक्त, तू है व्यर्थ
तेरा ध्वंश केवल एक तेरा अर्थ

प्रगतिवादी कविता में **शोषितों के प्रति सहानुभूति एवं आस्था** प्रकट हुई है। यह कविता शोषितों की शक्ति और संघर्ष में अपनी पक्षधरता को अभिव्यक्त करती है–

मैंने उसको जब–जब देखा लोहा देखा
लोहा जैसे तपते देखा, गलते देखा, ढलते देखा
मैंने उसको गोली जैसे चलते देखा

क्रांति-चेतना प्रगतिवादी कविता की विशेषता है। प्रगतिवाद व्यवस्था में सुधार की माँग नहीं करता, बल्कि संपूर्ण व्यवस्था-परिवर्तन की माँग करता है। इस व्यवस्था–परिवर्तन के लिए वह क्रांति को अनिवार्य मानता है। प्रगतिवाद की अनेक कविताओं में क्रांति का आहवान किया गया है। उदाहरण के लिए–

'अब अभिव्यक्ति के सारे खतरे उठाते ही होंगे
तोड़ने ही होंगे मठ और गढ़ सब।'

राजनीतिक चेतना प्रगतिवाद की अन्यतम विशेषता है। प्रगतिवादी मानता है कि राजनीति एक संपूर्ण परिवेश है, जिसमें मनुष्य जीता है। राजनीतिक प्रसंगों को पहचानने में ही सत्य की पहचान निहित है। मुक्तिबोध और नागार्जुन बड़े राजनीतिक कवि हैं। नागार्जुन कथित प्रजातांत्रिक व्यवस्था पर व्यंग्य करते हुए लिखते हैं –

श्वेत–श्यात–रतनार अँखियाँ निहार के
सिंडीकेटी प्रभुओं की पग–धूरि झार के
लौटे हैं दिल्ली से कल टिकट मार के
खिले हैं दाँत ज्यों दाने अनार के
आए दिन बहार के।

प्रगतिवादी कविता में **ग्राम्य-प्रकृति** का चित्रण हुआ है। वह किसान की आँख से प्रकृति को देखता है, अत: इस कविता में किसानी–जीवन से संदर्भित प्रकृति के प्रसंग आए हैं। केदारनाथ अग्रवाल की कुछ पंक्तियां प्रस्तुत हैं—

एक बीते के बराबर
यह हरा ठिंगना चना

बाँधे मुरेठा शीश पर
छोटे गुलाबी फूल का
डटकर खड़ा है।

प्रेम का स्वस्थ और स्वकीया रूप प्रगतिवादी प्रेमानुभूति की विशिष्टता है। इस प्रेम में आत्मीयता की गहरी उपस्थिति दिखायी देती है और प्रेम भी अंततः सामाजिक चिंता से अनुस्यूत है। केदारनाथ सिंह की ये पंक्तियाँ इस संदर्भ में उल्लेखनीय हैं—

तुम्हारे हाथ को अपने हाथ में लेकर मैंने सोचा
इस दुनिया को भी तुम्हारे हाथ की तरह सुंदर
और गर्म होना चाहिए।

प्रगतिवादी कविता के शिल्प से संबंधित सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह है कि यह अभिव्यक्ति की कलात्मकता का निषेध करती है। यह **सामान्य और सहज अभिव्यक्ति** पर बल देती है। इसलिए प्रगतिवाद में **लोकधुनों** के महत्त्व को स्वीकार किया गया है। छंद-योजना में शास्त्रीय छंदों के निर्वाह की तनिक भी चिंता नहीं है।

प्रगतिवादी कविता में बिंबों का चुनाव सामान्यतः लोक-जीवन से किया गया है। बिंब के धरातल पर भी यह कविता अपना ध्यान किसान, मज़दूर पर केंद्रित करती है। इस कविता में प्रतीकात्मकता का अभाव दिखाई देता है। काव्य रूप की दृष्टि से प्रबंधात्मकता का अभाव है।

प्रगतिवादी कविता पर कुछ आरोप लगाए गए हैं। प्रगतिवाद की जीवन-दृष्टि एकांगी है। यह काव्य यथार्थ का सतही चित्रण करता है। अनुभूति की प्रमाणिकता का अभाव प्रगतिवाद में दिखाई देता है।

समग्रतः अपनी सीमाओं के बावजूद हिंदी कविता के इतिहास को प्रगतिवाद की सबसे महत्त्वपूर्ण देन साहित्य में आम आदमी की प्रतिष्ठा थी। यह एक निरंतर विकासशील धारा है, जिसने नए काव्य-विवेक और रचनात्मक लक्ष्यों का सूत्रपात किया। यथार्थ-दृष्टि की कथित एकांगिकता के बावजूद यह कविता जीवन के प्रति जिस दायित्व को प्रस्तावित करती है, उसका दबाव आगे आने वाली कविता पर लगातार बना रहा है। कविता को कलात्मक अवगुंफनों से मुक्त कर और उसमें अपने समय की सच्चाइयों को चित्रित कर इस कविता ने इतिहास के बहुत बड़े दायित्व का निर्वाह किया। हिंदी कविता के इतिहास में प्रगतिवाद एक प्राणवान आंदोलन था और समकालीन कविता तक में उसकी प्राण-ऊर्जा का स्पंदन महसूस किया जा सकता है।

प्रयोगवाद

आधुनिक हिंदी कविता के इतिहास में सन् 1943 में अज्ञेय द्वारा संपादित 'तारसप्तक' के प्रकाशन के साथ ही एक नया मोड़ उपस्थित होता है। समकालीन राजनीति और समाज में हो रहे परिवर्तनों को अभिव्यक्ति देने में असमर्थ होने वाली छायावादी कविता की प्रतिक्रिया में जन्मी प्रगतिवादी काव्यधारा के समानांतर ही प्रयोगवाद काव्यधारा का उदय होता है। विकास प्रक्रिया में प्रयोगवाद, छायावादी कविता की रूमानियत तथा प्रगतिवादी कविता की वैचारिक प्रतिबद्धता के विरोध में खड़ा होता है। छायावादी कविता जहाँ जीवन-यथार्थ का निषेध करने लगी है, वहीं प्रगतिवाद एक खास वाद के तहत यथार्थ को देखते हुए, यथार्थ और कविता में कोई फर्क ही नहीं रहने देता।

ऐसे में जीवन-यथार्थ को अभिव्यक्त करने के लिए स्वानुभूति की प्रामाणिकता को रचना के केंद्र में रखते हुए प्रयोगवाद का विकास होता है, जो संवेदनात्मक स्तर पर ही नहीं अपितु शिल्पगत स्तर पर भी परिवर्तन घटित करते हुए, कविता को छायावाद की ठहरी हुई अभिव्यंजना प्रणाली तथा प्रगतिवाद की अभिधात्मकता तथा सपाटबयानी से निकालकर नवीन शिल्पगत आयाम प्रदान करता है। (यद्यपि इन कविताओं को अज्ञेय ने प्रयोगशील की संज्ञा दी तथापि इस धारा के विरोधी आलोचकों ने इसे प्रयोगवाद की संज्ञा से जड़ीभूत कर दिया। इन आलोचकों ने इनको व्यक्तिनिष्ठ, समाजविरोधी तथा नीरस कहकर इस काव्यधारा का विरोध किया, लेकिन यह कविता अपनी विशिष्टताओं के बल पर विकसित होती गई और आगे चलकर नई कविता में पर्यवसित हो गई।)

प्रयोगवाद में व्यवहृत प्रयोग शब्द नए जीवन-सत्यों को पाने की बेचैनी का बोधक है। अज्ञेय ने 'तारसप्तक' तथा 'दूसरा सप्तक' की भूमिका में प्रयोगशील शब्द को प्रयुक्त किया है। यह प्रयोगशील नए जीवन-सत्यों के अन्वेषण का माध्यम है। अज्ञेय ने इसे दुहरा माध्यम माना है। दूसरे सप्तक की भूमिका में वे लिखते हैं – "प्रयोग अपने आपमें इष्ट नहीं है, वह साधन है और दोहरा साधन है। क्योंकि एक तो वह उस सत्य को जानने का साधन है, जिसे कवि प्रेषित करता है, दूसरे वह उस प्रेषण की क्रिया को और उसके साधनों को जानने का भी साधन है अर्थात् प्रयोग द्वारा कवि अपने सत्य को अधिक अच्छी तरह जान सकता है और अधिक अच्छी तरह अभिव्यक्त कर सकता है।" प्रयोग की इस धारणा को ग्रहण कर विकसित होने वाली प्रयोगवादी कविता की अपनी कुछ विशेषताएँ हैं, जो उसे पूर्ववर्ती काव्यधाराओं से भिन्न करती हैं।

कविता की केंद्रीय चेतना के रूप में **स्वानुभूति की प्रामाणिकता** की चिंता प्रयोगवाद की आधारभूत विशिष्टता है। स्वानुभूति यहाँ छायावादोत्तर गीतिकवियों की तरह एकांगी न होकर संपूर्ण वैचारिक धरातल पर व्याप्त है। इस स्वानुभूति में न तो प्रगतिवाद का बड़बोलापन है और न ही छायावाद की वायवीयता है। इस संदर्भ में अज्ञेय द्वारा रचित कविता 'जितना तुम्हारा सच है' की ये पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं –

मौन भी अभिव्यंजना है :
जितना तुम्हारा सच है
उतना ही कहो।

प्रयोगवाद स्वानुभूति की प्रामाणिकता के संबंध में परंपरा का निषेध करता है। यह निषेध और संवेदना दोनों धरातलों पर है। परंपरा का निषेध कर वह निजी तथा नवीन दृष्टि से अपनी चेतना का प्रवाह करता है। दूसरा सप्तक में 'टूटने का सुख' नामक कविता में भवानी प्रसाद मिश्र परंपरा का निषेध करते हुए बिना सीढ़ी के चढ़ने की प्रेरणा देते हैं–

(इस दिशा से उस दिशा तक छूटने का सुख।
टूटने का सुख।)

बिना सीढ़ी के बढ़ेंगे तीर के जैसे बढ़ेंगे,
इसलिए इन सीढ़ियों के फूटने का सुख।
टूटने का सुख।

यहाँ टूटने में सृजन की संभावनाओं की अभिव्यक्ति की गई है। रघुवीर सहाय परंपरा के पूरी तरह टूटने के साथ नवीन सर्जना को पा लेने की बात करते हैं। परंपरा का यह निषेध स्वानुभूति की प्रामाणिकता के संदर्भ में ही प्रस्तावित होता है।

समूह की तुलना में ईकाई पर बल प्रयोगवाद का वैशिष्ट्य है और यह वैशिष्ट्य अनेक धरातलों पर दिखाई देता है। समाज और व्यक्ति के संदर्भ में प्रयोगवादी कविता व्यक्ति की अस्मिता पर बल देती है। प्रगतिवाद समाज के परिप्रेक्ष्य में व्यक्ति का आंकलन करता है जबकि प्रयोगवाद व्यक्ति के परिप्रेक्ष्य में सामाजिक पुनर्निर्माण की चूना को प्रस्तावित करता है। अज्ञेय द्वारा रचित 'नदी के द्वीप', 'यह दीप अकेला' आदि कविताएँ प्रयोगवाद की इस वैचारिक पीठिका को प्रस्तावित हैं–

किंतु हम हैं द्वीप।
हम धारा नहीं हैं।

'यह दीप अकेला' कविता की भी निम्नलिखित पंक्तियाँ इस संदर्भ में उल्लेखनीय हैं–

यह दीप, अकेला, स्नेह-भरा
है गर्व-भरा मदमाता, पर
इसको भी पंक्ति को दे दो।

व्यक्ति की अस्मिता पर बल देकर प्रयोग इस मार्क्सवादी चेतना का विरोध करता है कि व्यक्ति सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक परिस्थितियों का प्रतिफलन है। ऐसा करते हुए प्रयोगवाद समाज-विरोधी नहीं है। इस संबंध में अज्ञेय लिखते हैं – ''व्यक्ति समाज से स्वतंत्र नहीं है, लेकिन समाज में स्वतंत्र है।'' प्रयोगवादी मानते हैं कि व्यक्ति की अपनी चेतना तथा अस्मिता के आधार पर समाज का निर्माण होता है। समाज व्यक्ति का निर्माण नहीं करता अपितु व्यक्ति स्वयं सर्जित होकर समाज को प्रभावित करता है।

भाषा के संदर्भ में प्रयोगवादी कविता **शब्द पर बल** देती है। 'भवंती' में अज्ञेय ने लिखा है – 'कविता शब्द से शुरू होती है और शब्द पर ही खत्म हो जाती है।' प्रयोगवादी कविता में शब्द बाह्य उपकरण मात्र नहीं अपितु कविता की आंतरिक सत्ता तथा आत्मा हैं।

प्रयोगवादी कविता विराट समय और क्षण की तुलना में **क्षण पर बल** देती है। वह मानती है कि समय तो क्षणों का पुंज मात्र है, वास्तविक अस्तित्व क्षण का ही है। अज्ञेय द्वारा रचित कविता 'सर्जना के क्षण' की ये पंक्तियाँ प्रयोगवाद में क्षण की महत्ता को संकेतित करती हैं–

और सब समय पराया है
सिर्फ़ उतना ही क्षण अपना
तुम्हारी पलकों का कंपना।

क्षणवाद के रूप में ही प्रयोगवादी कविता इतिहास का निषेध कर वर्तमान पर बल देती है।

इस प्रकार प्रयोगवाद ईकाई पर बल देते हुए व्यक्तिवाद, शुद्ध कलावाद और क्षणवाद की प्रस्तावना करता है।

यथार्थ के प्रति उन्मुक्त दृष्टि प्रयोगवाद की एक अन्य विशेषता है। यथार्थ को वादमुक्त होकर स्वविवेक मे देखने के कारण ही ऐसा है। दूसरा सप्तक की भूमिका में अज्ञेय से साफ कहा कि 'प्रयोग का कोई वाद नहीं है। हम वादी नहीं रहे, नहीं हैं।' वैचारिकता के अलग-अलग आयामों के कारण प्रत्येक कवि की अपनी अलग-अलग दृष्टि है तथा इसी कारण प्रयोगवाद में अंतर्विरोध का स्वर भी मुखर है, जो नई कविता में पूर्णतया उभरकर आता है।

प्रयोगवादी कविता में **यौनकुंठा का प्राबल्य** है। अज्ञेय ने **तारसप्तक** की

भूमिका में लिखा है – 'आज के साधारण मानवों का मन यौन-वर्जनाओं का पुंज है।' यौन-वर्जना यौनकुंठा को जन्म देती है। यौनकुंठा के धरातल पर ही अधिकांश प्रयोगवादी कवि यथार्थ की प्रस्तावना करते हैं। अज्ञेय, गिरिजा कुमार माथुर, धर्मवीर भारती, नरेश मेहता आदि कवियों की कविताओं में यथार्थ यौनकुंठा में लिपटा हुआ दिखाई देता है। अज्ञेय की कविता 'सावन मेघ' की ये पंक्तियाँ इस संदर्भ में उल्लेखनीय हैं–

घिर गया नभ, उमड़ आए मेघ काले,
भूमि के कंपित उरोजों पर झुका-सा
विशद, श्वासाहत, चिरातुर

छा गया इंद्र का नील वक्ष

धर्मवीर भारती यौन को अनैतिक मानने के स्वर के विरुद्ध प्रणय के मांसल स्वरूप की अभिव्यक्ति करते हुए उसे नैतिक दर्ज़ा देने की वकालत करते हैं –

अगर मैंने किसी के होंठ के पाटल कभी चूमे
अगर मैंने किसी के नैन के बादल कभी चूमे
महज इससे किसी का प्यार मुझपर पाप कैसे हो।
महज इससे किसी का स्वर्ग मुझपर शाप कैसे हो।

यह स्वर अन्य प्रयोगवादी कवियों में भी सुनाई देता है।

प्रयोगवाद **कविता और बौद्धिकता के अंतर्संबंधों** की प्रस्तावना करता है। सामान्यत: कविता भावों की अभिव्यक्ति मानी जाती थी। लेकिन प्रयोगवाद ने अनुभूति को बौद्धिकता से संपृक्त करते हुए कविता में अभिव्यक्त किया। अपनी प्रेमिका के साथ हरी घास पर क्षण भर बैठने की अनुभूति को व्यक्त करते हुए कवि भावनाओं में नहीं बह जाता। वह बौद्धिक ढंग से ही अपनी भावनाओं को व्यक्त करता है–

आओ बैठो
क्षण भर तुम्हें निहारूँ।
झिझक न हो कि निरखना
दबी वासना की विकृति है।
(चलो, उठें अब,
अब तक हम थे बंधु
सैर को आए –
और रहे बैठे तो

लोग कहेंगे
धुंधले में दुबके दो प्रेमी बैठे हैं।

वह हम हों भी
तो यह हरी घास ही जाने।)

प्रयोगवादी कवियों ने **शिल्प को प्राथमिकता** दी है। उनके यहाँ शिल्प सिर्फ़ कहने का ही माध्यम नहीं, अपितु जानने का माध्यम भी है। अज्ञेय ने दूसरा सप्तक की भूमिका में लिखा है–'जो व्यक्ति का अनुभूत है, उसे समष्टि तक कैसे उसकी संपूर्णता में पहुँचाया जाए, यही पहली समस्या है, जो प्रयोगशीलता को ललकारती है क्योंकि कवि अनुभव करता है कि भाषा का पुराना व्यापकत्व उसमें नहीं है।' अत: प्रयोगवादी कवि शब्द, बिंब, प्रतीक, छंद इत्यादि के प्रति बहुत जागरूक और प्रयोगशील रहा है।

शब्दों का खुला आमंत्रण प्रयोगवाद की मूलभूत विशेषता है। यहाँ भाषा सिर्फ़ साधन नहीं है, अपितु साध्य भी है। प्रयोगवाद भाषा को पुरानी रूढ़ियों से निकालकर नए आयाम प्रदान करता है। अज्ञेय के शब्दों में–''साधारणीकरण की पुरानी प्रणालियाँ रूढ़ हो गई हैं। अत: वह भाषा की क्रमश: संकुचित होती हुई केंचुल फाड़कर उसमें नया, अधिक व्यापक और सारगर्भित अर्थ भरना चाहता है।'' इसलिए प्रयोगवादियों ने कतिपय नए शब्दों को अपनाया है, जो पुरानी काव्य परंपरा में बिल्कुल नहीं थे। जीवन में प्रचलित शब्दों के माध्यम से साधारणीकरण की पुरानी प्रक्रिया को तोड़कर प्रयोगवादी कवि दर्शन शास्त्र, विज्ञान, अंग्रेज़ी, बाज़ार, ग्राम, राजनीति आदि विविध अनुशासनों से शब्द ग्रहण करता है। इसलिए शब्द-संयोजन और शब्द-निर्माण की सर्वाधिक समृद्धि प्रयोगवाद में मिलती है। महानगरीय सौंदर्यबोध के डायरी, नोट्स, नेलपालिश, इंजेक्शन, सायरन इत्यादि शब्दों को धारण करते हुए प्रयोगवाद का शब्द-विधान केवल चमत्कारवर्द्धक नहीं होता अपितु मानवजीवन के सत्यों को उद्घाटित करता है। नेमिचंद्र जैन सायरन शब्द का प्रयोग करते हुए नवीन परिस्थितियों से उत्पन्न नई मन:स्थिति का सूक्ष्म चित्र खींचते हैं–

आज उचटा-सा हृदय
साइरन बज जाए उसके बाद
निर्जन शून्य सड़कों-सा निभृत. निस्संग, खाली
व्यर्थता की स्याह-सी थे साप चादर से
अभी ज्यों ढक गया हो शून्य जी का प्रांत।

प्रयोगवादी कविता मध्यवर्गीय मानसिकता की कविता है, इसलिए इसमें मिश्रित

भाषा का प्रयोग मिलता है। कवि जहाँ रक्ताभ, अक्षितिज, तिमिरावृत्त आदि तत्सम शब्दों का प्रयोग करता है, वहीं इम्तहान, खलास, इलाज आदि शुद्ध उर्दू शब्दों का भी। वह संज्ञा से विशेषण बनाते हुए हरा रंग से हरिया, गंध से गंधाते, छंद से छंदित जैसे नए शब्दों का भी निर्माण करता है :

कितने कमरों में,
बंद हिमालय रोते हैं
मेज़ों में लगकर सो जाते कितने पठार
कितने सूरज अँधेरे में गल रहे छिपकर।

यहाँ हिमालय उच्चता के लिए, पठार विशाल एवं विस्तृत व्यक्तित्व के लिए तथा सूरज तेजस्वी व्यक्तित्व के लिए प्रयुक्त हुआ है।

भाषा को अपर्याप्त मानकर अज्ञेय ने अक्षरों का टाइप उलटे-तिरछे लिखकर प्रश्नचिह्न आदि लिखने के तरीके में बदलाव लाकर भाषा में चमत्कार और सर्जनात्मकता लाने तथा भाषा को विकसित करने का प्रयत्न किया है।

बौद्धिकता के परिणामस्वरूप प्रयोगवादी कविता की अप्रस्तुत योजना में विशिष्टता लक्षित होती है। प्रयोगवादी कवियों ने छायावादी कविता की अप्रस्तुत योजना की मसृणता, सुकुमारता एवं कैशोर भावना का बहिष्कार कर नए अप्रस्तुतों का प्रयोग किया है। पारंपरिक उपमानों को छोड़कर अज्ञेय अपनी कविता 'कलगी बाजरे की' में अपनी प्रिया को 'बाजरे की कलगी' से उपमित करते हैं :

अगर मैं तुमको
ललाती साँझ के नभ की अकेली तारिका
अब नहीं कहता,
या शरद के भोर की नीहार-न्हायी कुंई,
टटकी कलीच चंपे की
वगैरह, तो
नहीं कारण कि मेरा हृदय उथला याकि सूना है
या कि मेरा प्यार मैला है।
बल्कि केवल यही
ये उपमान मैले हो गए हैं।

इसी प्रकार परंपरागत उपमानों की वर्जना कर प्रयोगवादी कवि नए उपमानों की सर्जना के द्वारा नवीन सत्यों को रूपायित कर प्रयोगवाद को वैशिष्ट्य प्रदान करता है। इस संदर्भ में रघुवीर सहाय की अप्रस्तुत योजना उल्लेखनीय है :

विषय	**अप्रस्तुत**
ज़िंदगी	मशीन, हाड़मांस की गठरी
हम	थर्मस से
प्रश्न पूछती हुई ज़िंदगी	ज्योतिषी के आगे फैले हुए हाथ-सी
सजीला जिस्म	एक दुनिया की उम्मीद सा
मौन	धूल भरी बाँसुरी सरीखा
भोर का नभ	राख से लीपा हुआ चौका
नवंबर की दोहर	जार्जेट की पीले पल्ले सी
दिन	हल्की मीठी चाय-सा
सभी कुछ मेरे अंदर कसके लिपटा है	सिनेमा की रीलों सा

प्रयोगवादी कविता में बड़े पैमाने पर **नए प्रतीकों का प्रयोग** हुआ है। नामवर सिंह के अनुसार – "उनका यथार्थ भीरु-बोध ही प्रतीकों का प्रयोग करने के लिए उन्हें बाध्य करता है।" वस्तुतः यथार्थ की पूरी सघनता के बावजूद उसे प्रकट न कर पाने की मज़बूरी प्रयोगवादियों को इन प्रतीकों का प्रयोग करने के लिए प्रेरित करती है। प्रयोगवादी कविता में नदी के द्वीप अस्तित्व संकट का प्रतीक है, बालू का तह जीवन की ऊब-भरी निर्जन शून्यता का प्रतीक है और मछली जिजीविषा का प्रतीक है। प्रयोगशील कवि यौन-प्रतीकों का इस्तेमाल बहुतायत में करता है। उदाहरण के लिए अज्ञेय की ये पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं—

सो रहा है झोंप अंधियाला
नदी की जाँघ पर
डाह से सिहरी हुई यह चाँदनी
चोर पैरों से उझक कर
झाँक जाती है।

प्रयोगवादी कवियों ने अपनी कविता में **ताज़े एवं टटके बिंबों** का प्रयोग किया है और वे अपने पूर्ववर्तियों से इस मामले में बहुत सजग रहे हैं। इन कवियों ने केवल कल्पना के लिए नहीं, अपितु प्रामाणिकता के लिए प्रकृति तथा मनुष्यों के अंतर्संबंधों के निरूपण के लिए बिंब के प्रयोग किए हैं। ये बिंब जीवन के जीवित संदर्भों से ग्रहण किए गए हैं। यथार्थ के प्रति भावुक प्रतिक्रिया की अपेक्षा जीवन की हरकतों से सीधा और ऐंद्रिय स्थिरता कायम करने के साथ बौद्धिक चेतना के यथार्थ की पहचान इनके बिंबों में उभरी है। भवानी प्रसाद मिश्र की कविता 'बूंद टपकी एक नभ से' की ये पंक्तियां दृश्य बिंब का सशक्त उदाहरण हैं–

बूँद टपकी एक नभ से
किसी ने झुक कर झरोखे से
कि जैसे हँस दिया हो
'हँस रही-सी आँख ने जैसे
किसी को कस दिया हो।'

अज्ञेय की कविता 'सावन मेघ' में यौन-बिंब मिलते हैं—

जब कि सहसा तड़ित के आघात से घिरकर
फूट निकला स्वर्ग का आलोक
बाध्य देखा :
स्नेह के आलिप्त
बीज के भवितव्य से उत्फुल्ल
बद्ध
वासना के पंक-सी फैली हुई थी
धारयित्री सत्य-सी निर्लज्ज, नंगी
औ' समर्पित।

प्रयोगवादी कविता मुख्यत: **मुक्त छंद** की कविता है। छायावादी कविता में मुक्त छंद विकल्प रूप में था, लेकिन प्रयोगवाद में यह सहज और स्वाभाविक है। अज्ञेय ने 'आर्ट आफ रीडिंग' के परिप्रेक्ष्य में नए छंदों का प्रयोग किया है तथा कविता में लयात्मक अन्विति का विधान किया है। उदाहरण के लिए अज्ञेय द्वारा मुक्त छंद में रचित कविता 'तुम हँसी हो' दृष्टि से कहीं भी टूटी हुई नहीं है —

तुम हँसी हो
जो न मेरे होठ पर दीखे
मुझे हर मोड़ पर मिलती रहती है
धूप
मुझ पर जो न छाई हो
किंतु जिसकी ओर
किंतु जिसकी ओर
मेरे रुद्ध जीवन की
कुटी की खिड़कियाँ खुलती रही हैं।

वस्तुत: प्रयोगवादी कवियों ने कविता में छंदों के प्रयोग का ध्यान रखा है और मुक्त छंद में होने के बावजूद उनकी कविताओं में एक लय है। कुछ प्रयोगवादी कवियों ने रूपामी और चतुष्पदी छंदों का प्रयोग किया है।

समग्रत: प्रयोगवादी कविता रचना की विकास प्रक्रिया से लेकर उसकी सार्थकता की संपूर्ण यात्रा को बौद्धिकता के परिप्रेक्ष्य में परिभाषित करती है। भक्तिकाल और छायावाद की कविताओं में वैचारिक दार्शनिक संदर्भों को भी राग का विषय बनाया गया है जबकि प्रयोगवादी कविता में रागात्मक तत्वों को भी बौद्धिकता के माध्यम से व्यक्त किया गया है। मूलत: इस कविता का मुख्य उपादान बौद्धिक धारणाएँ हैं, जो प्राय: विज्ञान, राजनीतिशास्त्र, मनोविज्ञान आदि की उपजीवी हैं। इस प्रकार यह कविता अनुभूति का बौद्धिकरण करती है और इस क्रम में कविता के लक्ष्यों का निषेध करती है। यथार्थ को संपूर्ण जटिलता में धारण करने और जटिल मानसिकता की अनिवार्य सृजन-प्रक्रिया के कारण प्रयोगवादी कविता जटिल हो गई हैं। जटिलता, दुरुहता एवं बौद्धिकता की इस पृष्ठभूमि के कारण कतिपय आलोचकों ने इसे कविता की सारणी से ही निष्कासित कर दिया है। परंतु प्रयोगवाद की उपेक्षा नहीं की जा सकती। वस्तुत: प्रयोगवाद ही नयी कविता के उद्‌भव की पृष्ठभूमि बनाता है। वादमुक्तता, व्यक्ति की महत्ता, नया शिल्प-विधान आदि विशेषताएँ नई कविता के प्राणतत्व हैं। व्यक्तिवाद से लघुमानव की अवधारणा नई कविता में आती है। प्रयोगवादी शिल्प-विधान के नवीन आयाम के माध्यम से नई कविता में जीवन के संपूर्ण यथार्थ को पूरे रचनात्मक संदर्भों में प्रकट किया गया। अपनी कुछ सीमाओं के बावजूद हिंदी साहित्येतिहास में प्रयोगवाद का महत्त्वपूर्ण स्थान है, उसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती।

नई कविता की विशेषताएं

छायावादोत्तर हिंदी कविता में विकसित होने वाली काव्यधाराओं में प्रगतिवादी और प्रयोगवाद के बाद नई कविता का उदय हुआ। प्रामाणिक जीवन की अनुपस्थिति के कारण प्रगतिवाद एक नारे में तब्दील हो गया था तथा प्रयोगवाद के अनेक कवियों ने प्रयोग को ही कविता का साध्य मान लिया। इसलिए 1950 के बाद, एक समय प्रयोगवादी कहे जाने वाले कवियों ने ही प्रयोगवाद को नई कविता की उदार और सहज अंतर्धारा में विलयित कर दिया। वस्तुत: नई कविता दूसरे तारसप्तक के बाद विकसित होने वाली एक ऊर्जावन काव्यधारा है, जिसने स्वातंत्र्योत्तर भारतीय जीवन और व्यक्ति की संश्लिष्ट जीवन-परिस्थितियों का रचनात्मक साक्षात्कार किया।

(1) **'यथार्थ के प्रति उन्मुक्त दृष्टि'** नई कविता की आधारभूत विशेषता है। इसी कारण नई कविता यथार्थ को उसकी संपूर्णता में ग्रहण करती हैं—

'ज़िंदगी में जो कुछ है, जो भी है
सहर्ष स्वीकारा है।' —*मुक्तिबोध*

नई कविता यह मानती है कि यथार्थ का कोई निर्दिष्ट ढाँचा नहीं है। अतः उसे किसी विशिष्ट वैचारिक अनुशासन से विश्लेपित नहीं किया जा सकता। वस्तुतः वस्तु-सत्य और अनुभव-सत्य की अंतर्क्रिया से उपलब्ध होने वाला सत्य ही यथार्थ है।

(2) **अहं के प्रति सजगता और व्यक्तित्व की खोज** नई कविता की चेतना का महत्त्वपूर्ण वैशिष्ट्य है। इस अहं बोध का कारण छायावाद वैयक्तिकता की तरह भावात्मक नहीं है, बल्कि अस्मिता का संकट है। अज्ञेय के 'नदी के द्वीप' और 'यह दीप अकेला' इस दृष्टि से उद्धरणीय हैं—

'यह दीप अकेला, स्नेह भरा
है गर्व भरा मदमाता, पर
इसको भी पंक्ति को दे दो।

नई कविता (3) **लघुमानव की अवधारणा** का सूत्रपात करती है और इस लघुता को लेकर उसके भीतर हीनता की कोई ग्रंथि नहीं है। लघुमानव देवत्व से परहेज करता है तथा ईश्वर और सामूहिकता के भीतर अपनी संभावनाओं की तलाश नहीं करता। नई कविता इस मनुष्य को अधिक संभावनागर्भित रूप में देखती है —

मैं रथ का टूटा पहिया
लेकिन मुझे फेंको मत
क्योंकि इतिहास की सामूहिक गति सहसा झूठी पड़ जाने पर
क्या जाने
सच्चाई टूटे पहियों का आश्रय ले। —*धर्मवीर भारती*

नई कविता (4) **आधुनिक भावबोध** की कविता है और उसके इस आधुनिक भाव बोध पर पश्चिम के अस्तित्ववादी दर्शन का प्रभाव लक्षित होता है। आधुनिक भाव बोध का पहला महत्त्वपूर्ण बिंदु '**वेदना**' है। स्वतंत्रता और दायित्वबोध के अकेलेपन की टहराहट से उत्पन्न वेदना को नई कविता मनुष्य की नियति के रूप में चित्रित करती है। यह वेदना नकारात्मक नहीं है, बल्कि यह वैयक्तिक-चेतना का परिष्कार करती है—

दुख सबको मांजता है
और चाहे स्वयं
सबको यह मुक्त करना न जाने
किंतु जिन्हें यह माँजता है
उन्हें यह सीख देता है
कि दूसरों को मुक्त रखे

नई कविता यह मानती है कि यथार्थ का कोई निर्दिष्ट ढाँचा नहीं है। अत: उसे किसी विशिष्ट वैचारिक अनुशासन से विश्लेषित नहीं किया जा सकता। वस्तुत: वस्तु-सत्य और अनुभव-सत्य की अंतर्क्रिया से उपलब्ध होने वाला सत्य ही यथार्थ है।

(2) **अहं के प्रति सजगता और व्यक्तित्व की खोज** नई कविता की चेतना का महत्त्वपूर्ण वैशिष्ट्य है। इस अहं बोध का कारण छायावाद वैयक्तिकता की तरह भावात्मक नहीं है, बल्कि अस्मिता का संकट है। अज्ञेय के 'नदी के द्वीप' और 'यह दीप अकेला' इस दृष्टि से उद्धरणीय हैं–

'यह दीप अकेला, स्नेह भरा
है गर्व भरा मदमाता, पर
इसको भी पंक्ति को दे दो।

नई कविता (3) **लघुमानव की अवधारणा** का सूत्रपात करती है और इस लघुता को लेकर उसके भीतर हीनता की कोई ग्रंथि नहीं है। लघुमानव देवत्व से परहेज करता है तथा ईश्वर और सामूहिकता के भीतर अपनी संभावनाओं की तलाश नहीं करता। नई कविता इस मनुष्य को अधिक संभावनागर्भित रूप में देखती है –

मैं रथ का टूटा पहिया
लेकिन मुझे फेंको मत
क्योंकि इतिहास की सामूहिक गति सहसा झूठी पड़ जाने पर
क्या जाने
सच्चाई टूटे पहियों का आश्रय ले। –धर्मवीर भारती

नई कविता (4) **आधुनिक भावबोध** की कविता है और उसके इस आधुनिक भाव बोध पर पश्चिम के अस्तित्ववादी दर्शन का प्रभाव लक्षित होता है। आधुनिक भाव बोध का पहला महत्त्वपूर्ण बिंदु '**वेदना**' है। स्वतंत्रता और दायित्वबोध के अकेलेपन की टहराहट से उत्पन्न वेदना को नई कविता मनुष्य की नियति के रूप में चित्रित करती है। यह वेदना नकारात्मक नहीं है, बल्कि यह वैयक्तिक-चेतना का परिष्कार करती है–

दुख सबको मांजता है
और चाहे स्वयं
सबको यह मुक्त करना न जाने
किंतु जिन्हें यह माँजता है
उन्हें यह सीख देता है
कि दूसरों को मुक्त रखे

आधुनिक भावबोध का दूसरा महत्त्वपूर्ण बिंदु है–'**संशय**'। संशय परंपरा के समूचे अनुभव और व्यक्ति-अनुभव की टकराहट से उत्पन्न भावबोध है। नई कविता यह मानती है कि संशयी चेतना व्यक्तित्व की स्वायत्तता और सार्थकता के लिए अनिवार्य है। वह संशय को मूल्य के रूप में स्वीकार करते हुए, उसे सत्य तक पहुँचाने का माध्यम मानती है–

संशय निकष है
ऋतु का भी – नरेश मेहता

निरर्थकता-बोध आधुनिक भावबोध की एक स्थिति है। यांत्रिक जीवन, अराजकतावादी राजनीति और पूँजीवादी संस्कृति के कारण उत्पन्न निरर्थकता का बोध नई कविता में बहुत गहरा है। मुक्तिबोध की पंक्तियां हैं–

मैं दुनिया के किसी अँधेरे में
हूँ भूतपूर्व यंत्र का निरर्थक
एक अनावश्यक जंग-खाया
टूटा पुर्ज़ा।

यह निरर्थकता जिस मानसिकता को जन्म देती है, वह **अप्रामाणिकता की चेतना** में अभिव्यक्त होती है –

तुमने जहाँ लिखा है 'प्यार'
वहाँ लिख दो 'सड़क'
फ़र्क नहीं पड़ता।
मेरे युग का मुहावरा है
'फ़र्क नहीं पड़ता।' *–केदारनाथ सिंह*

इस अप्रामाणिकता का एक मूल कारण नई कविता, यह भी मानती है कि एक ही व्यक्ति में कई व्यक्तियों का आरोपण हो गया है–

दो सत्य
दो संकल्प
दो-दो आस्थाएँ
व्यक्ति में ही अप्रामाणिक व्यक्ति पैदा हो रहा है। *–नरेश मेहता*

आधुनिक भावबोध **मूल्यों के संकट** की बात बार-बार कहता है। आधुनिक जीवन-संरचना में परंपरागत मूल्य निरर्थक हो गए हैं और नए मूल्यों की सृष्टि हो नहीं पाई है। अतः मनुष्य मूल्यहीनता और अनास्था के अंधकार में जीने के लिए अभिशप्त है। धर्मवीर भारती के 'अंधायुग' के अनेक प्रसंगों में मूल्यों के संकट की बात की गई है। उदाहरण के लिए गांधारी का यह कथन द्रष्टव्य है–

जिसको तुम कहते हो प्रभु
उसने जब चाहा
मर्यादा को अपने ही हित में बदल लिया
वंचक है वो।

(5) **'महानगर और नगर'** नई कविता की चेतना के भूगोल हैं। नगर-बोध की नियतियाँ हैं—**विडंबना** और **विसंगति**। इसकी अभिव्यक्ति नयी कविता में हुई है। सर्वेश्वर की पंक्तियाँ हैं—

लेकिन मैं देखता हूँ
आज के जमाने में
आदमी से ज़्यादा लोग पोस्टरों को पहचानते हैं
वे आदमी से भी बड़े सत्य हैं

किसी भी संवेदनशील व्यक्ति के लिए नगर में **अकेलापन** उसकी त्रासद नियति है—

बाज़ार भी जैसे
सन्नाटा है
वहरे के लिए
मेहंदी जैसे निरर्थक है
चेहरे के लिए
ऐसी हो गई है ज़िंदगी
खाली और खस्ता
मेरे नज़दीक। —*भवानी प्रसाद मिश्र*

नई कविता की रचनात्मक ऊर्जा का एक महत्त्वपूर्ण अंश (6) **स्वातंत्र्योत्तर भारतीय राजनीतिक जीवन** से संबद्ध है। पर इसकी राजनीतिक चेतना का आधार सांगठनिक नहीं है। नई कविता की राजनीतिक चेतना रचनाकार के स्वतंत्र विवेक और मानवीय प्रतिबद्धता से प्रेरित है। चरित्रहीन आश्वासनी पर प्रहार करते हुए रघुवीर सहाय लिखते हैं—

एक बार
जान-बूझकर चीखना होगा
ज़िंदा रहने के लिए
दर्शक-दीर्घा में से
रंगीन फिल्म की घटिया कहानी की
मस्ती शायरी के शेर

संसद-सदस्यों से सुन
चुकने के बाद

शिल्प की दृष्टि से नई कविता मानती है कि (7) **परिवेश का बोध भाषा की क्षमता** पर निर्भर करता है। नई कविता सामान्यत: **बोलचाल की भाषा** के ग्रहण पर बल देती है। अत: नई कविता के शब्द-चयन का क्षेत्र अत्यंत व्यापक है। उसमें अंग्रेज़ी, उर्दू और लोकभाषा के शब्दों का नि:संकोच प्रयोग है –

पिस गया वह भीतरी
और बाहरी दो कठिन पाटों के बीच
ऐसी ट्रैजडी है नीच —मुक्तिबोध

नई कविता में छंद की समूची अवधारणा का निषेध करते हुए '**स्वाधीन लय**' पर ज़ोर दिया गया और इस स्वाधीन लय का संबंध '**अर्थ-लय**' की अवधारणा स्थापित हुई। इस दृष्टि से अज्ञेय की निम्नांकित पंक्तियाँ उल्लेखनीय हैं—

तुम क्या जानो
कितनी लंबी होती हैं रात
अकेली
सिसकी की

प्रयोगवाद ने उपमानों की नवीनता पर बल दिया था। उपमानों की नवीनता प्रयोगवाद में फैशन के रूप में भी आई, लेकिन नई कविता **विषय-वस्तु की माँग के अनुसार कविता में उपमानों की योजना** करती है। अधिकांश ज़िंदगी की सामयिक परिस्थितियों से लिए गए हैं। कहा जा सकता है कि ये परंपरागत अर्थों में काव्यात्मक नहीं है। एक उदाहरण प्रस्तुत है—

इधर आओ, चाँदनी को स्कार्फ की तरह
तुम्हारे चेहरे पर बाँध दूँ। —सर्वेश्वर

नई कविता के **बिंब-विधान** का आधार अनुभूत जीवन की ठोस प्राकृतिक घटनाएँ हैं। इसमें कई स्थानों पर प्रस्तुत-अप्रस्तुत का द्वैत डूब गया है। शमशेर के निम्नांकित कविता में हल्की प्रकृति और वैसा ही हल्का अवसाद घुले-मिले हैं—

एक मधुमक्खी हिलाकर फूल को
बहुत नन्हाँ फूल
उड़ गई,
आज बचपन का
उदास माँ का मुख
याद आता है।

नई कविता की **प्रतीक योजना** का यह वैशिष्ट्य है कि यह प्रतीक-योजना का इस्तेमाल दुराव या छिपाव के लिए नहीं करती है। यहाँ प्रतीकों का प्रयोग सामान्यतः शब्दों में अर्थ-संवहन की क्षमता पैदा करने के लिए किया गया है।

नई कविता काव्य-शैली के स्तर पर **लंबी कविता** के विन्यास को स्वीकार करती है। छायावाद की लंबी कविता का आधार कोई-न-कोई पौराणिक या ऐतिहासिक घटना है। जबकि नई कविता इतिहास और पुराण को अपदस्थ करते हुए अपने लिए स्वयं एक नए कथानक का विन्यास करती है। इस दृष्टि से मुक्तिबोध की कविता 'अँधेरे में' धूमिल की 'पटकथा', राजकमल चौधरी का 'मुक्ति-प्रसंग' तथा अज्ञेय की कविता 'असाध्य वीणा' प्रमुख हैं।

समग्रतः नई कविता हिंदी कविता के इतिहास में सिर्फ़ कविता के विषय को ही नहीं बदलती, बल्कि वह काव्याभिरुचि में भी निर्णायक परिवर्तन करती है। यह कविता जीवन और कविता के बीच जिस नई रचना-चेतना का सूत्रपात करती है, उसका आधार भावात्मक न होकर बौद्धिक है। इसलिए यह कविता नए मनुष्य की चेतना और उसके जीवन-संबंधों की कविता है। नई कविता का ढाँचा मूलतः अंतर्विरोधों का ढाँचा है, क्योंकि वह जीवन को किसी दार्शनिक या वैचारिक फार्मूले से नहीं पहचानती। यह कविता सरलीकृत अनुभूतिशीलता और अभिव्यक्ति-प्रणाली को अस्वीकार करने का जोखिम उठाती है और इस जोखिम के कारण इसमें जो संभावनाएँ और सीमाएँ उत्पन्न हुई हैं, उनके साथ इतिहास के विकास में यह अपने को प्रस्तुत करती है।

नई कविता – पृष्ठभूमि, नामकरण तथा काल-सीमा

पृष्ठभूमि

1. साहित्यिक–नई कविता प्रगतिवाद और प्रयोगवाद के बाद विकसित होने वाली काव्यधारा है। यह प्रगतिवाद और प्रयोगवाद की अतिवादिता का निषेध कर सामंजस्य और संश्लेष उत्पन्न करता है। नयी कविता पश्चिमी कविता की अंर्तवस्तु और शैली से भी प्रभावित होती है।
2. सांस्कृतिक–द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद उत्पन्न अस्तित्वादी दर्शन तथा पश्चिमी संस्कृति का हिंदुस्तान के शैक्षणिक समाज और नष्ट होती संस्कृति पर प्रभाव।
3. राजनीतिक – स्वतंत्रता-प्राप्ति तथा स्वतंत्रता के बाद की मूल्यहीन राजनीति चरित्रहीन राजनीति से उत्पन्न मोहभंग।
4. सामाजिक – स्वातंत्र्योत्तर मध्यवर्गीय जीवन। मध्यवर्गीय जीवन के सपने और दुःस्वप्न।

नामकरण

जिस काव्यधारा को 'नई कविता' की संज्ञा दी जाती है, उसके इस नामकरण का औचित्य क्या है, यह एक स्वाभाविक प्रश्न है। क्या 'नया' अद्यतन होने का पर्याय है या 'नया' विशेषण है? यदि 'नया' विशेषण है तो यह नयापन कहाँ है?

वस्तुतः नई कविता का नयापन **काव्यानुभूति की नई बनावट** पर निर्भर है। नयी कविता अभिव्यक्ति की नई शैली नहीं है, बल्कि नयी कविता का नयापन इस बात में है कि वह भावों की शाश्वतता के **प्रति आश्वस्त नहीं** है। यह रागात्मकता का निषेध नहीं करती, बल्कि राग-संबंधों को शाश्वत न मानकर उसे ऐतिहासिक सामाजिक संदर्भों के पार[illegible]ित स्तर पर ग्रहण करती है।

काल-सीमा

नई कविता की काल-सीमा 1950 के आस-पास से लेकर लगभग 1960 ई० तक है।

विषय	नई कविता	प्रयोगवाद	प्रगतिवाद
यथार्थ यथार्थ चित्रण	1. उन्मुक्त दृष्टि 2. विविधता /संपूर्णता	स्वानुभूत व्यक्तिवादी	मार्क्सवाद एकपक्षीय (किसान मज़दूर)
समाज और व्यक्ति	3. समाज और व्यक्ति में सामंजस्य और संतुलन	व्यक्ति पर बल	समाज पर बल
इतिहास और क्षण	4. समय को उसकी समग्रता में ग्रहण	क्षण पर बल	इतिहास
लक्ष्य	5. लक्ष्य–मनुष्य की नियति का उद्घाटन	लक्ष्य–प्रयोग ही लक्ष्य बन जाता है	लक्ष्य–मार्क्सवाद के अनुरूप समाज परिवर्तन। यह मात्र नारा के स्तर पर है
शिल्प	6. शिल्प के प्रति सजगता	शिल्प के प्रति अत्यधिक सजगता	शिल्प की उपेक्षा

अकविता एवं जनवादी कविता

अकविता

हमारे परंपरागत संस्कारों से बगावत की कविता है अकविता। फूहड़पन और निरथकता, गाली-गलौज, भाषा की जितनी भी नकारात्मकता हो सकती हैं, उन सभी का प्रयोग अकविता में किया गया है। अकविता प्रबलतम हमला स्त्री पर करती है। रचनाकार के आक्रोश के केंद्र में ईश्वर, व्यवस्था और स्त्री है।

जनवादी कविता कविता को फिर से पटरी पर लाने की कोशिश करती है। एक तरह से अकविता और जनवादी कविता में एक संबंध भी है—विपरीतता का संबंध। यानी किसी आंदोलन अथवा किसी विचाराधारा से संबंध है।

कुछ लोगों ने कहा कि अकविता नई कविता की प्रतिक्रिया में उत्पन्न हुई कविता है। नई कविता छठे दशक के अंत तक खत्म हो जाती है। अकविता 20वीं शताब्दी के 7वें दशक का सर्वाधिक कुख्यात काव्य आंदोलन है। इस आंदोलन के अधिकांश कवियों पर अमेरिका के एक बिटनीक कवि गिंस बर्ग का बहुत गहरा प्रभाव देखा गया है। गिंस बर्ग दरअसल हिप्पी कल्चर का प्रतिनिधि कवि है। तमाम तरह की परंपराओं, विश्वासों, मूल्यों और संभावनाओं के खिलाफ़ बगावत करने वाला कवि। एक तरह से मनुष्य होने की सभी शर्तों को नकारता हुआ जैविक प्रवृत्ति को ही गिंस बर्ग मनुष्य होने की शर्त मानता है। इसलिए अप्राकृतिक यौन संबंध से लेकर कुंठा, बीमारी, अनास्था इन्हीं स्थितियों को वह नए मूल्य के रूप में स्वीकार करता है। इसलिए गिंस बर्ग की बीट पीढ़ी का सीधा प्रभाव इन कवियों पर दिखाई देता है। गिंस बर्ग के प्रभाव से उसे भूखी पीढ़ी के नाम से जाना गया था, भूखी पीढ़ी या [illegible].

अकविता आंदोलन वस्तुतः पहले बंगाल में आया और बंगाल से फिर हिंदी प्रदेश में आया। इसलिए अकविता आंदोलन दरअसल दो तरह के आंदोलनों से जुड़ा है – बीट आंदोलन से और भूखी पीढ़ी आंदोलन से। बंगाल की भूखी पीढ़ी ने ईश्वर, धर्म, व्यवस्था और औरत पर खुला हमला किया। वस्तुतः **जीवन को संस्कार देने और अर्थ देने के जितने भी पारंपरिक संदर्भ थे, उन संदर्भों और परंपराओं को पूरी तरह ध्वस्त करने की प्रक्रिया** ही अकविता का मूल आधार है। **इस तरह से एक आंदोलन के रूप में अकविता विकसित होने लगी।** इस धारा के कवि हैं—**राजकमल चौधरी। इनकी दो रचनाएँ** चर्चित रचनाएँ हैं, **कंकावती और मुक्ति प्रसंग। कैलाश वाजपेयी 'संक्रांत।'** जगदीश चतुर्वेदी—**'इतिहास हंता।'** कुमार **विकल। लीलाधार जगुड़ी-नाटक जारी है।'** श्याम परमार का काव्य संग्रह है

कविता से बाहर।' इस दौर के अंतिम लेकिन बेहद चर्चित कवि धूमिल है। धूमिल एक तरह से अकविता के मिजाज़ को बदलने की कोशिश करते हैं और अकविता में जो आक्रोश है उस आक्रोश को सामाजिक और राजनीतिक संदर्भ देते हैं।

अकविता की प्रवृत्तियों के संदर्भ में यह कहा जा सकता है कि '**विकृति**' उसकी केंद्रीय प्रवृत्ति है। अकविता आंदोलन का राजनीतिक-सामाजिक परिप्रेक्ष्य क्या है? अकविता से सहानुभूति रखने वाले कुछ आलोचकों ने कहा कि यह आंदोलन अपने संबंध और समाज के गहरे मोहभंग का परिणाम है। लेकिन इतिहास की परिस्थितियों के साथ दो तरह के संबंध बनाए जा सकते हैं। मोहभंग के दो चेहरे हो सकते हैं। एक चेहरा जनवादी कविता में भी दिखाई देता है। अकविता दरअसल मोहभंग को मानसिक रुग्णता के स्तर पर ग्रहण करती है। हताशा और दिशाहीनता से मोहभंग की परिणतियाँ अकविता में दिखाई देती हैं। इसलिए अकविता से उत्पन्न होने का मूल कारण ऐतिहासिक-सामाजिक न होकर मनोवैज्ञानिक है। यह विशेष प्रकार की मानसिक रुग्णता है, जो इतिहास और सामाजिक परिवेश का आश्रय लेना चाहती है। लेकिन यह सिद्ध नहीं किया जा सकता कि अकविता के उत्पन्न होने का कारण मोहभंग है।

मोहभंग की सकारात्मक प्रतिक्रिया भी हो सकती है। मोहभंग से एक रास्ता संघर्ष का भी निर्मित होता है। यह संघर्ष का रास्ता अख्तियार नहीं करती। यह निराशा और मानसिक कुंठा का वरण करती है। क्योंकि मानसिक कुण्ठा इन कवियों की निजी कुंठा से बहुत मेल खाती है। इसलिए अकविता की मूल प्रकृति है—विकृति से लगाव और विकृति के साथ एक गहरा आत्मिक और रागात्मक संबंध। अकविता चीज़ों को और संबंधों को सहज रूप से देखने में पूरी तरह अक्षम है। इसलिए वह प्रत्येक संबंध, गरिमा, पवित्रता और संभावना को क्षतिग्रस्त करती है।

अकविता **यौन संबंधों की नग्नता** को अपने घोषणा-पत्र का आधार बनाती है। इसलिए स्त्री मात्र भोग्या है। अकविता के घोषणा-पत्र के अनुसार वस्त्रों के साथ स्त्री के किसी भी रूप की प्रस्तुति एक रचनात्मक गुनाह है। निर्वस्त्रता में ही अकविता आंदोलन में स्त्री दिखाई देती है। स्त्री के साथ पुरुष के सभी रिश्ते समाप्त हो गये हैं, बस एक ही रिश्ता है, जैविकता और भोग का रिश्ता है। जगदीश चतुर्वेदी को एक माँ और बहन तथा पत्नी और प्रिया में अब कोई अंतर नहीं दिखता है "मुझे कुल्टाएँ देवियाँ नज़र आती हैं"। ...आप देख सकते हैं कि स्त्री किसी भी संबंध में नहीं है। स्त्री की एक ही भूमिका है, वह किसी भी रिश्ते की हो, किसी भी उम्र की हो, वह मात्र भोग्या है। सामाजिक संबंधों की जितनी भी संज्ञाएँ और स्थितियाँ हो सकती हैं अकविता उनको नकार देती है। तो एक जो स्त्री के प्रति दृष्टिकोण है, वह

भोग का दृष्टिकोण है और वह भोग स्वस्थ मानसिकता का भोग नहीं है, एक बीमार मानसिकता का भोग है। क्योंकि स्वस्थ मानसिकता का भोग संस्कारित भोग होता है। लेकिन अकविता संबंधों के किसी भी तरह के व्याकरण का निषेध करती है। एक अराजकता, उच्छृंखलता, लक्ष्यहीनता और पशुता जीने और भोगने की प्रविधियाँ हैं, जो अकविता में दिखाई देती हैं।

परंपरागत समाज की आस्था के केंद्र में ईश्वर रहा है। कुमार विकल की कविता है—प्रभु जी आप देर से आए, अब आपको कौन पिलाए, प्रभु जी आप देर से आए अब आपको कौन पिलाए।' दरअसल जो बाज़ारू साहित्य है, उसमें पूजा की बात लिखी हो या नग्नता की बात लिखी हो, उससे कोई फ़र्क नहीं पड़ता। ये दावा करते हैं कि हमारी तुलना प्रसाद से होनी चाहिए और हम प्रसाद से ज़्यादा ताकतवार कवि हैं। दरअसल इसे साहित्यिक आंदोलन के भीतर इसलिए लिया जाता है, क्योंकि इनका अपना एक घोषणा-पत्र है, इनके अपने कुछ दावे हैं। ये अपने को इतिहास की एक अनिवार्य धारा के रूप में देखते हैं।

राजकमल चौधरी बहुत गंभीर रचनाकार भी हैं। इसलिए अकविता के उस दौर को छोड़कर फिर गंभीर धारा में वापस लौट आए। तो इस धारा का नोटिस इसलिए लिया गया है कि इसको छोड़कर बाद में गंभीर साहित्य में और बहुत रेखांकित करने योग्य साहित्य में लोग लौट आए।

अकविता से जनवादी कविता की ओर

दरअसल अकविता आंदोलन की विकृतियों को छोड़कर कविता को एक बेहद गंभीर दिशा की ओर मोड़ने का ऐतिहासिक कार्य धूमिल के द्वारा शुरू हुआ। इसलिए धूमिल कविता से भी और आंदोलन से भी जुड़े हुए हैं। इसलिए धूमिल में कई जगह अकविता के अवशेष दिखाई देते हैं। जैसे औरतों को लेकर उनकी टिप्पणियाँ और रवैया बिल्कुल साफ़ नहीं है। आरंभिक तौर पर 'संसद से सड़क तक' बहुत चर्चित पुस्तक है। इन्होंने 3 पुस्तकें लिखी हैं—'संसद से सड़क तक', 'कल सुनना मुझे' और 'सुदामा पांडे का लोकतंत्र'। 'संसद से सड़क तक' में जो भाषिक मुहावरा है, उस मुहावरे पर आंदोलन की छाप देखी जा सकती है। लेकिन जैसे धूमिल अपनी काव्य नीति को संसद से सड़क तक में बदलने की कोशिश करते हैं। कविता को उन्होंने एक नई परिभाषा दी कि कविता भाषा में आदमी होने की तमीज़ है। इसका अर्थ है कि कविता और आदमी होने के बीच में एक अनिवार्य संबंध है। दरअसल कविता का होना आदमी के बने रहने का प्रमाण है और इस कविता के खिलाफ़ दो शक्तियाँ बहुत सक्रिय हैं। एक शक्ति सत्ता की है और दूसरी

शक्ति बाज़ार की है। धूमिल की कविता दरअसल इन्सान की परिभाषा को क्षतिग्रस्त करने वाले राजनैतिक चरित्र पर प्रहार करती है। इसलिए धूमिल के लिए कविता आदमी को बचाए रखने की आखिरी लड़ाई है और इस संदर्भ में उन्होंने राजनीति और बाज़ार की भूमिका की ओर संकेत किया है।

राजनीति भाषा की प्रामाणिकता को नष्ट कर डालती है। वह भाषा के अर्थों का विध्वंस करती है, वह भाषा को अविश्वसनीय बनाती है। भाषा की प्रामाणिकता और अविश्वसनीयता का प्रश्न आदमी होने से जुड़ा हुआ प्रश्न है। इसलिए जहाँ इस बहुत प्रतिकूल मौसम में पूरी राजनीतिक सत्ता भाषा के अर्थ संसार को नष्ट-भ्रष्ट कर रही हो, भाषा, अर्थ और आदमी के वजूद को कविता में ही बचाया जा सकता है। इसलिए बहुत गंभीर कर्म के रूप में उन्होंने कवि-कर्म को अपनाया। इसलिए यह बात महत्त्वपूर्ण है कि कविता भाषा में आदमी होने की तमीज़ है। कई लोगों का ऐसा मानना है कि धूमिल की तरह ताकतवर रचनाकर 60 के बाद अभी तक कोई नहीं हुआ है। धूमिल ने एक नए और उत्तेजित मुहावरे का निर्माण किया, कविता के लिए। एक नया उत्तेजित मुहावरा, जिसने कविता के मिजाज़ को, उसकी प्रकृति को, उसकी सार्थकता को नए सिरे से बदला। इसलिए एक जगह कहा भी गया है कि धूमिल की कविता की सारी शब्दावली राजनीति, सामाजिक संसार की शब्दावली है। प्रकृति से बहुत कम लेते हैं। बहुत कुछ परंपरा से नहीं लेते, उसमें मिथक का प्रयोग नहीं किया जाता। दरअसल वे राजनीतिक संसार से ही शब्दों का चुनाव करते हैं और कविता को एक नई दिशा, नई भाषा, नया मिजाज़ प्रदान करते हैं।

धूमिल को सही मायनों में मोहभंग का कवि कहा जा सकता है। लेकिन ऐसा मोहभंग, जो आक्रोश की पवित्रता उत्पन्न करता है। भाषिक अभिधात्मकता के द्वारा व्यवस्था के यथार्थ पर इतना सीधा प्रहार आधुनिक युग में सिर्फ़ धूमिल के द्वारा संभव हो पाया है। इसलिए दोटूकपन, जिसे काव्यशास्त्रीय शब्दावली में अभिधा कहा जाता है, आक्रोश और प्रहारात्मकता से धूमिल की कविता की कुछ दिशाएँ हैं। इस दृष्टि से धूमिल की काव्यचेतना के कुछ बिंदुओं का निर्धारण किया जा सकता है।

सबसे पहले राजनीति। 'भाषा की एक रात' में उन्होंने लिखा है कि युवा लेखन के लिए राजनीतिक समझदारी जरूरी है, बिना इस राजनीतिक समझदारी के आज का लेखन संभव नहीं है। इसलिए धूमिल यह मानकर चलते हैं कि राजनीतिक चेतना काव्य चेतना का बुनियादी आधार हो सकती है। दरअसल कविता एक मुकम्मल और प्रामाणिक राजनीतिक परिवेश की माँग करती है और उन्होंने कहा कि जिस तरह का राजनीतिक तंत्र है, उस तंत्र में सार्थक और आर्द्र कविताओं की रचना संभव नहीं है, जिसमें भावना हो, जिसमें अनुभूति हो, जिसमें मानवीय संबंधों

की तरलता हो। इसलिए 'संसद से सड़क तक' काव्य की एक पंक्ति है–'मुझे अपनी कविताओं के लिए दूसरे प्रजातंत्र की तलाश है।' आंदोलन में लिखने वालों में एक नाम **कैलाश वाजपेयी** का भी है जिन्होंने कविता में स्वतंत्रता के बारे में टिप्पणी की थी कि 'एक सिल की तरह गिरी है स्वतंत्रता और पिचक गया है पूरा देश।' तो कविता को राजनीतिक चेतना की ओर मोड़ने का ऐतिहासिक कार्य धूमिल ने किया था। इसलिए उन्होंने राजनीतिक परिस्थितियों पर, शब्दों पर, स्थितियों पर काव्यात्मक टिप्पणी की है।

जिनमें सबसे पहले जनतंत्र, क्योंकि स्वतंत्रता भारत की राजनीतिक प्रणाली है–'जनतंत्र एक तमाशा है, जिसकी जान मदारी की भाषा है।' धूमिल बहुत बेलाग, स्पष्ट, दो टूक शब्दों का प्रयोग करते हैं, जिसमें कहीं कोई घुमाव नहीं है, कोई बिंब नहीं है। यह प्रजातांत्रिक प्रणाली चूँकि संसद के द्वारा संचालित होती है, इसलिए धूमिल के आक्रमण का या धूमिल की टिप्पणी का दूसरा केंद्र संसद है। 'अपने यहाँ संसद तेली की वह घानी है, जिसमें आधा तेल है और आधा पानी है।' इस तरह से संसद और राजनीतिक चरित्र की जो वास्तविकताएँ हैं उन पर टिप्पणी करने के बाद आज़ादी पर भी सवाल धूमिल ने उठाया है। दरअसल आज़ादी हिंदुस्तान का सबसे त्रासद शब्द, सबसे अप्रामाणिक और सबसे दुखदायी शब्द है। इस आज़ादी को मात्र कुछ सरकारी समारोहों में तब्दील कर दिया गया है। इसपर एक बहुत मार्मिक टिप्पणी आज़ादी की परिभाषा के संदर्भ में की है–'क्या आज़ादी तीन थके हुए रंगों का नाम है जिसे एक पहिया ढोता है, या इसका कोई खास अर्थ होता है।' प्रश्न अपने-आप में बहुत सारगर्भित है और इस प्रश्न का विस्तार बाद के बहुत लोगों ने किया है। इस तरह धूमिल एक मुकम्मल सवाल राजनीतिक संदर्भों में उठाते हैं।

इस व्यवस्था का संकेत उन्होंने एक कविता 'मोचीराम' में दिया है। दरअसल यहाँ पर मोची की एक दुकान है और दुकान और आदमी के बीच में किस तरह का रिश्ता है। दुकान में आदमी नहीं होता खरीददार होता है। 'मेरे लिए हर आदमी एक जोड़ी जूता है, जो मेरे सामने मरम्मत के लिए खड़ा है।' आने वाले हिंदुस्तान में व्यक्ति की अब स्वतंत्र हैसियत नहीं है, बल्कि वह खरीददार है, वह टिकट है, वह एक संख्या है या वह एक वोट है। इससे अधिक आने वाले समय में राजनीति और बाज़ार के संदर्भ में आदमी की हैसियत नहीं रहने वाली है।

अगर इस सत्ता और बाज़ार का प्रबल प्रतिरोध न किया गया, तो हमारी समूची परंपरा, पहचान और सपने नष्ट हो जाएँगे। इसलिए वे अपनी कविता में अपील करते हैं – 'वक्त बहुत कम है, इसलिए कविता पर बहस शुरू करो और शहर को अपनी ओर झुका लो।' शहर दरअसल यहाँ पूरे देश का ही पर्याय है। अगर संस्कृति

कर्मी, कलाकार और प्रतिबद्ध लोग शहर को अपनी शर्तों पर नए तरीके से नहीं बनाते, तो शहर अपसंस्कृति का, बाज़ार के भोंड़ेपन का, मूल्यहीनता का केंद्र बन जाएगा। इसलिए एक तरह से धूमिल की कविता एक चेतावनी भी है, एक तना हुआ परामर्श है और बेहद बेचैन तकलीफ़ भी। इसलिए धूमिल ने अपनी कविता के माध्यम से कविता के आस्वाद के धरातल को बदल दिया और इस तरह से जिस जनवादी कविता का सूत्रपात हुआ उसके आरंभिक रचनाकारों में से एक महत्त्वपूर्ण कवि के रूप में उनकी गणना या पहचान हुई।

दरअसल धूमिल कम्यूनिस्ट पार्टी में नक्सलबाड़ी से जुड़े हुए रचनाकार थे। आरंभिक जीवन बनारस में बीता और फिर कम उम्र में उनका देहांत हुआ। इसलिए जो सांगठनिक मार्क्सवाद है, उस पर भी बड़ी गहरी टिप्पणियाँ हैं। कविता को एक तरह से गहरे सामाजिक बदलाव और क्रांति के हथियार के रूप में उन्होंने लगातार पेश किया और इस तरह से नई कविता के बाद जो जनवादी काव्यधारा फूटी, उसके आरंभिक प्रस्तावकों में से एक हुए।

जनवादी कविता

जनवादी कविता में वे सभी कवि शामिल हैं, जो प्रगतिवाद से जुड़े हुए हैं। नागार्जुन, त्रिलोचन, केदारनाथ अग्रवाल और शमशेर बहादुर सिंह, इन सभी का काव्य-संग्रह 1977 के बाद आया है। 'फूल नहीं रंग बोलते हैं' 1979 में आया है। इसलिए जनवादी कविता में नागार्जुन, त्रिलोचन, अग्रवाल, शमशेर बहादुर सिंह का नाम लिया जाता है। इसलिए जनवादी कविता की अधिकांश प्रवृत्तियाँ प्रगतिवादी कविता की प्रवृत्तियाँ हैं लेकिन उनमें थोड़ा-सा बदलाव है।

प्रगतिवाद कविता का एक सुविचारित सांस्थानिक आधार है। वह पार्टी द्वारा निर्देशित और निर्धारित है। इसका अर्थ है प्रगतिवादी कविता रचनाकार को अपने अनुभव की स्वाधीनता की इजाज़त नहीं देती। ऐसा जानकारों का मानना है कि आंदोलनों की माँग के अनुसार पार्टी से निर्देश आते थे कि अब आप इस विषय पर लिखिए। इसका अर्थ है कि रचना की समूची प्रक्रिया कविता की शर्तों पर आधारित न होकर पार्टी की मांग के अनुसार संपादित होती थी। इसलिए एक खास तरह की एकांगिता, जड़ता इस कविता के भीतर दिखाई देती है।

कविता की इन सीमाओं का अनुभव स्वयं कवियों को हुआ और इसलिए बाद में चलकर कवि के अनुभव की स्वाधीनता को महत्त्व दिया गया। आरंभ में जो लोग सीधे-सीधे कम्यूनिस्ट पार्टी से जुड़े हुए थे, उनमें से कई लोगों ने त्यागपत्र दिए। इसलिए जिस प्रकार की सपाटता और इकहरापन प्रगतिवादी कविता में दिखाई देता

है जनवादी कविता में खत्म हो जाता है। इसलिए जनवादी कविता प्रकारांतर से अपनी परिधि का और अपने क्षेत्र का विस्तार करती है और इस संदर्भ में केदारनाथ अग्रवाल की कुछ पंक्तियाँ हैं : 'हम लेखक हैं, कथाकार हैं, हम जीवन के भाष्यकार हैं, हम कवि हैं जनवादी है।' 'समता के शाश्वत विधान के हम हैं मानववादी, हम कवि हैं जनवादी।'

इसमें दो बातें साफ़ कही गई हैं – रचनाकार जीवन का भाष्यकार होता है। जीवन का भाष्यकार होने का अर्थ है कि वह जीवन के यथार्थ और जीवन के सच का व्याख्याता होता है। एक बदलाव बिल्कुल साफ़ है कि रचनाकार की जवाबदेही किसी संगठन की जवाबदेही न होकर जीवन की जवाबदेही है, जीवन को विश्लेपित करने की जवाबदेही है और जीवन के विश्लेषण के माध्यम से वह समता के शाश्वत विधान की स्थापना करता है। जीवन के भाष्य का अर्थ है, उस मूल्य की खोज। इसका अर्थ है कि जनवादी कविता की मूल प्रतिज्ञा जीवन के भाष्य के द्वारा समानता की खोज है और जो इस समानता की खोज करता है या कर सकता है, वही मानववादी हो सकता है। मानववादी का अर्थ है मानवीय पक्षधरता। इसलिए सीधे- सीधे नहीं, लेकिन बहुत संकेत रूप में यह बता दिया गया कि यह जो नई जनवादी परंपरा है, जो जीवन का भाष्य करती है, इस भाष्य के द्वारा वह समानता के मूल्यों की पहचान करती है और इस तरह से उसकी प्रकृति मानवतावादी होती है। इसलिए कविता जीवन का भाष्य है, समानता की पक्षधर है और मानवीय मूल्यों का निर्धारण करती है। यह लगभग एमरजेंसी के बाद से शुरू होती है और यह कविता नए तरह के मुहावरे का, एक नई तरह की दिशाओं का संधान करती है।

प्रगतिवादी कविता में एक खास तरह की सपाटता दिखाई पड़ती है। जनवादी कविता उस सपाटता की ज़मीन को छोड़कर कई बार **व्यंजनात्मकता** का वरण करती है। इसलिए जो बात कही जा रही है, उसके पीछे और कोई बात है। इस दृष्टि से वेणु गोपाल की कविता की पंक्ति: 'होना तो यही चाहिए कि स्विच इधर ऑन हो, और उधर खट से लाइट जल जाए, लेकिन ऐसा नहीं हो रहा है, गड़बड़ी कहाँ है, फ्यूज में, लाइन में या पावर हाउस में! क्या पता करंट पूरे शहर में न हो?'

यह जो करंट है, यह दरअसल **बदलाव की चेतना** है। प्रगतिवादी दौर में यानी 1936–38 में इस तरह की बात नहीं कही जा सकती थी। इसलिए कविता एक तरह से अपने मुहावरे में परिवर्तन करती है। यह पहली पहचान है। वह अभिधात्मकता या अभिधा के सपाट ढाँचे को छोड़कर अर्थ की सूक्ष्म व्यंजनाओं को प्राथमिकता देती है।

प्रगतिवादी कविता की विरासत का यह निर्वाह करती है और उस प्रक्रिया में

'**समूह में या संगठन में आस्था**' इस जनवादी कविता का उल्लेखनीय आधार है। मुक्तिबोध उस जमाने में कह रहे थे कि मुक्ति अकेले की नहीं होती, मुक्ति हमेशा सामूहिक होती है। लेकिन उदय प्रकाश की कविता है, जो समूह और संगठन में कवि और पाठक की आस्था को दृढ़ करती है। "यह अकेले का सफ़र नहीं है जीवनदास। तुम अपनी साइकिल के अकेले अनोखे सवार नहीं हो। ज़रा एक बार ठीक से सोच के तो देखो।"

इस तरह सामूहिकता की शक्ति और सामूहिकता में संभावना देखने की प्रवृत्ति यह नई कविता और अकविता से बिल्कुल भिन्न सोच और धारा है। इसलिए जो भी परिवर्तन आएगा वह सामूहिक संघर्ष के द्वारा ही संपादित हो पाएगा। इसलिए यह कविता व्यक्ति को संबोधित करती है और उसे यह बताने की कोशिश करती है कि कोई भी व्यक्ति या किसी भी व्यक्ति की मुक्ति इकाई में नहीं होती है। हमेशा समूह और संगठन और सामूहिक संघर्ष में ही मुक्ति संभव है।

यह भाग्यवादी आस्था नहीं है, यह आशीर्वाद आस्था भी नहीं है। यह आस्था इसलिए है, क्योंकि जहाँ भी संघर्ष है, वहाँ बदलाव की संभावना है। यह मार्क्सवाद की मूल स्थापना है कि दुनिया को एक खूबसूरती के लोक में पहचानने के लिए संघर्ष अनिवार्य है और यह संघर्ष सामूहिक होगा। इसलिए समूह और संगठन में आस्था है। समूह और संगठन के द्वारा किए जाने वाले संघर्ष के कारण एक उम्मीद बनती है, एक आस्था बनती है, इसलिए आस्था और उम्मीद का स्वर इस नई जनवादी कविता का एक स्वर है। स्वप्निल की एक कविता है : 'बसंत आएगा इस वीरान जंगल में, जहाँ वनस्पतियों के सिर उठाने के जुर्म में, पूरे जंगल को आग को सौंप दिया गया था।'

यह वसंत के आने की उम्मीद औसत आदमी की खुशियों के लौट आने की उम्मीद है। इसलिए वस्तुतः व्यवस्था पूरे जंगल को आग को सौंपती है। यानी जो कुछ सृजनात्मक है, नवीन है, जीवंत है, प्राणवान है और मानवीय है, व्यवस्था इन सबको नष्ट कर देती है। लेकिन इस संघर्ष के द्वारा 'बसंत आएगा इस वीरान जंगल में।' वीरान जंगल मूलतः एक भूतहा समाज है, जिसमें न चेतना है और न जागरूकता है, न स्वप्न है, न उम्मीद है। लेकिन संघर्ष से उम्मीद बँधेगी और एक दिन एक जंगल लहलहाएगा। इस आस्था को ध्यान में रखा जाना चाहिए।

इसी पैटर्न पर एक और कविता केदारनाथ सिंह की है : "मुझे आदमी को सड़क पार करते देखना अच्छा लगता है। क्या पता सड़क के उस पार की दुनिया बेहतर हो, सड़क के इस तरफ़ की दुनिया से।" दरअसल यहाँ पर सड़क वही नहीं है, जो आप यहाँ कैंप में पार करते हैं। सड़क एक प्रतीक के रूप में आ गई है। हम

व्यवस्था के एक किनारे खड़े हैं। बीच में एक समय है। दरअसल यह समय की सड़क है। इस तरफ़ जो है, वह तो संतोषजनक नहीं है। इसलिए समय की सड़क के उस तरफ़ जो हो, हो सकता है कि वह बेहतर हो। ऐसा तभी हो सकता है, जब हम सड़क पार करेंगे। इसलिए जो गतिशील समय है, उसकी गति में एक आकर्षण है, उसके संघर्ष में, उसकी कोशिशों में एक आकर्षण है। इस तरह से इस कविता का एक दूसरा स्वर आस्था का स्वर है।

जनवादी कविता की तीसरी प्रवृत्ति है '**उद्बोधन**' की। यह कविता उद्बोधित करती है। हमारे यहाँ उद्बोधन की बड़ी परंपरा है। मैथिलीशरण गुप्त और द्विवेदी जी की कविताओं में भी उद्बोधन है। खासतौर पर छायावाद के बाद जो राष्ट्रीय सांस्कृतिक कविता पैदा हुई है, उसमें भी उद्बोधन है। दिनकर उद्बोधन के बहुत प्रभावशाली रचनाकार हैं, लेकिन यहाँ उद्बोधन नारेबाजी के स्तर पर नहीं है। यह उद्बोधन प्रगतिवाद में भी है। लेकिन यहाँ उद्बोधन संवाद के स्तर पर है और बहुत प्रतीकात्मक और संकेतात्मक विधान में इस उद्बोधन को विन्यस्त किया गया है।

केदारनाथ सिंह की कविताओं की छोटी-छोटी पंक्तियाँ हैं : 'प्रश्न' पूछो हर बार, पूछो कि गाड़ी कितनी लेट है।' लेकिन गाड़ी यहाँ पर गाड़ी नहीं है, यहाँ गाड़ी दरअसल व्यवस्था परिवर्तन का प्रतीक है। और बार-बार सत्ता से यह सवाल पूछना पड़ेगा कि समानता की गाड़ी कितनी लेट है। जब तक प्रश्न नहीं होगा, चेतना नहीं होगी, असहमति नहीं होगी, असंतोष नहीं होगा, तब तक गाड़ी लेट चलेगी। इसलिए उद्बोधन है। वस्तुतः प्रश्न, असंतोष, जागरूकता, इनसे युक्त होकर ही नई व्यवस्था के आगमन को संभव बनाया जा सकता है। इसलिए सीधे मशाल लेकर बात नहीं कही गई है, संकेतों में बात कही गई है। धागों को संबोधित करके धागों के माध्यम से-'उठो, उठो मेरे सोए हुए धागो, उठो कि बुनने का समय हो रहा है, लगता है कि सारी दुनिया को एक बार फिर नए सिरे से बुनना होगा।' यहाँ धागा सामान्य जनता का प्रतीक है। इस तरह से यह वही नई दुनिया को बुनने का सपना है। लेकिन आप देखते हैं कि किस तरह से भाषा में व्यंजना आ रही है। संकेतों से स्थूलता को छोड़ती है कविता। एक व्यंजनात्मक स्तर पर आती है कविता।

जनवादी कविता में '**प्रेम**' का निषेध नहीं है। प्रेम प्रगतिवाद में भी है और बहुत गार्हस्थिक प्रेम है, जिसे पारिवारिक प्रेम कह सकते हैं। इस प्रेम-चेतना को जनवादी कविता एक बहुत कोमल स्पर्श देती है। प्रेम और जीवन के सौंदर्य में एक अद्वैत स्थापित करती है जनवादी कविता।

केदारनाथ सिंह दरअसल इस दौर के सर्वाधिक सृजनात्मक रचनाकार हैं। ''तुम्हारे हाथों को अपने हाथ में लेते हुए, मैंने सोचा, इस दुनिया को तुम्हारे हाथों की तरह गर्म, सुंदर और मुलायम होना चाहिए।'' यह अपने-आपमें एक बहुत अद्‌भुत अभिव्यक्ति है। एक नितांत वैयक्तिक प्रेमानुभूति को सामाजिक समानता और सामाजिक सौंदर्य की अनुभूति में बदलने की कोशिश है, जो जनवादी कविता के भीतर मौजूद है।

इसके अतिरिक्त जनवादी कविता की एक और खासियत कही जा सकती है कि जनवादी कविता '**कविता के नए खतरों के प्रति बहुत सचेत है।**' आरंभिक दौर में ऐसा महसूस हो रहा था कि कविता का खलनायक राजनेता है या राजनीति। जनवादी कविता यह महसूस करती है कि आने वाले समय में कविता का खलनायक 'बाज़ार' होगा। इसलिए कविता बाज़ार के द्वारा उत्पन्न किए जाने वाले संकटों से पाठक को आगाह करती है।

वेणुगोपाल की कविता की 3 पंक्तियाँ हैं – 'खतरे पारदर्शी होते हैं, खूबसूरत, अपने पार भविष्य दिखाते हुए।' ये जो पारदर्शी खतरे हैं और खूबसूरत हैं और एक दूसरी दुनिया का सपना दिखा रहे हैं, इन्हीं खतरों की सामूहिकता का नाम है, बाज़ार। इसलिए पारदर्शिता का अर्थ ईमानदारी नहीं, पारदर्शिता का मूल अर्थ है एक चिकनाई, एक व्यवस्था। जीवन कभी पारदर्शी नहीं होता, कृत्रिमता पारदर्शी होती है, इसलिए कृत्रिम पारदर्शिता, जो बहुत खूबसूरत है और अपने शब्दों और दृश्यों से भविष्य का नक्शा और भविष्य की दुनिया दिखाती है, यह बाज़ार की शक्ति है। इसलिए बाज़ार की शक्ति के प्रति सचेत करने की प्रवृत्ति भी जनवादी कविता में दिखाई देती है।

जनवादी कविता की एक और बड़ी प्रवृत्ति है। वह सांप्रदायिकता की समस्या है। पंजाब में जो आतंकवाद चल रहा था, उस दौर में कई महत्त्वपूर्ण कविताएँ आई हैं। जनवादी कविता पंजाब के आतंकवाद को राजनीतिक आंदोलन के रूप में नहीं, बल्कि एक मज़हबी उन्माद के रूप में देखती है। देवी प्रसाद मिश्र की एक कविता है : 'हसन नाम जानलेवा हो सकता है, बलवीर सिंह नाम के साथ भी सुरक्षित नहीं हैं आप, महमूद नाम के खतरे तमाम हैं।' इस तंत्र में सिर्फ़ आपका नाम हत्या का सबब हो सकता है। ध्यान दीजिए, यह वह दौर है, जब 84 में सिक्ख विरोधी दंगों हुआ था। यह एक नए प्रकार की राजनीतिक त्रासदी है, एक नए प्रकार का भय है। इसलिए आप देखेंगे कि अपने समय के नए प्रकार के भयों की बहुत सार्थक पहचान यह कविता करती है।

कुमार विमल की एक कविता का भावार्थ है 'स्कूल से बच्चे लौट रहे हैं और

रास्ते में दंगा है। जिसमें बहुत सारे बच्चे मारे गए' हैं। कविता में यह सवाल उठाया गया है कि सड़क पर बिखरे हुए जो रोटी के टुकड़े हैं, चावल हैं, सब्जियाँ हैं, उसमें क्या बता सकते हैं कि कौन टुकड़ा हिंदू का है और कौन टुकड़ा मुसलमान का है? इसलिए सांप्रदायिकता राजनीतिक समस्या नहीं है, यह सबसे बड़ी मानवीय समस्या है। इसलिए जनवादी कविता, कविता की जो पारंपरिक प्रणालियाँ और दिशाएँ थीं, उनके साथ-साथ वह जीवन की नई समस्याओं के साथ सीधा संबंध स्थापित करती है।

जनवादी कविता के बहुत महत्त्वपूर्ण लेखकों में कुछ कवियों के नाम हैं : राजेश जोशी, मंगलेश डरबाल, ज्ञानेंद्र पति, अरुण कमल, असद जैदी, विष्णु खरे, कात्यायनी। लेकिन एक प्रगतिशील चेतना इनकी कविताओं में दिखाई देती है। कात्यायनी की एक कविता है : 'दो कवि थे अभी तक बचे हुए पुरस्कारों से, इस वर्ष वे भी पुरस्कृत हो गए और इस तरह कविता ने खो दिया जनता का विश्वास।' एक अजीब तरह का पुरस्कारों का वायरल है। इसमें देवी प्रसाद मिश्र ने एक स्थान पर लिखा है कि आज के जमाने में आदमी इतनी तरफ से और इतने लोगों द्वारा अपमानित है कि जो सम्मानित है वह संदिग्ध है। आप जब तक संदिग्धस्पद नहीं होंगे, जब तक आपके चरित्र में कोई खोट नहीं होगी, आप सम्मानित नहीं हो सकते। जब व्यवस्था सम्मानित करती है, तो कहीं-न-कहीं कोई समझौतापरस्ती उसके भीतर मौजूद है।

स्त्री कवियित्रियों में महत्त्वपूर्ण हैं—गगग गिल और अनामिका। 'एक दिन लौटेगी लड़की', और दूसरा संग्रह भी आ गया है 'अंधेरे में बुत'। देवी प्रसाद मिश्र का एक काव्य-संग्रह आया है, 'प्रार्थना के शिल्प में नहीं'। तो ऐसा कहा जा सकता है कि जो हिंदी कविता की वर्तमान दशा है उसपर जनवादी चेतना का प्रभुत्व है। जो भी अच्छा लिख रहा है, वे सभी जनवादी हैं। कुछ पुरानी धारा के लोग भी लिख रहे हैं—जैसे—अशोक वाजपेयी, मदन सोनी, ध्रुव शुक्ल, रमेश चंद्र शाह। इसलिए जनवादी कविता समकालीन रचनाशीलता की प्रतिनिधि धारा है।

हिंदी नाटक का उद्भव और विकास एवं प्रमुख नाटककार

हिंदी क्षेत्र में नवजागरण की पहली सशक्त अभिव्यक्ति नाटकों के माध्यम से हुई। आचार्य रामचंद्र शुक्ल को थोड़ा-सा आश्चर्यजनक लगा कि जिस विधा की परंपरा लगभग एक हज़ार वर्षों से स्थगित थी, उस विधा से आधुनिक साहित्य की आधुनिक चेतना का सूत्रपात हुआ। शुक्ल जी ने लिखा है कि ''विलक्षण बात यह है कि आधुनिक गद्य साहित्य की परंपरा का प्रवर्तन नाटक में हुआ।'' गद्य की शुरुआत नाटक से होने के ऐतिहासिक कारण हैं। इतिहासकारों ने इसके कारण की खोज उन

ऐतिहासिक परिस्थितियों में की है, जिसे हम आधुनिक काल कहते हैं। नवजागरण की चेतना की वास्तविक चुनौती हिंदु जाति की एकांतिक भावना का निरसन कर, उसे एक सामाजिक चेतना के बिंदु पर संगठित करना था। भारतीय साधना की प्रकृति एकांतिक रही है। ज्ञान और सार्थकता की उपलब्धि एकांत में ही हो सकती है. ऐसा माना जाता है। इसलिए भारतीय साधना कभी भी सामूहिक प्रार्थना का प्रावधान नहीं करती। अर्थ, भक्ति, ज्ञान इन सभी की अनुभूति निजता के स्तर पर होती है, ऐसा माना गया है।

इसलिए नवजागरण की वास्तविक चुनौती इस धारणा को हटाकर, पूरे भारतीय समाज को एक संगठन के स्तर पर, सामूहिकता के स्तर पर संगठित करना था। यही कारण है कि नवजागरण के दौर में जो नाम रखे गए हैं, वे समूहवाची नाम हैं, जैसे प्रार्थना समाज, ग्राम समाज, आर्य समाज। इन सभी के अंत में जो समाज लगा हुआ है, वह एक तरह से भारतीय समाज को समूह के स्तर पर संगठित करने का संकेत है।

साधना की एकांतिकता को हटाकर सामूहिक स्तर पर समाज का संगठन नवजागरण की एक बुनियादी समस्या है और इसी नवजागरण की चेतना की अभिव्यक्ति नाटक में होती है। नवजागरण की सामूहिक चेतना और नाटक की प्रकृति में एक साम्य है, उसमें एक संबंध दिखाई देता है। क्योंकि नाटक भी एक प्रकार का सामूहिक कर्म है। कविता अकेल में पढ़ी जा सकती है, नाटक के लिए एक दर्शक वर्ग चाहिए, अभिनेता वर्ग चाहिए। एक तरह से नाटक की समूची प्रकृति ही सामाजिक है। इसलिए नवजागरण के उस दौर ने अपनी सशक्त अभिव्यक्ति नाटकों के माध्यम से की। यही कारण है कि आधुनिक भावबोध को अभिव्यक्त करने वाली भाषा यानी गद्य का आरंभ नाटकों से हुआ।

कुछ लोगों का मानना है कि रीवा नरेश विश्वनाथ प्रसाद सिंह का नाटक 'आनंद रघुनंदन', जिसका रचनाकाल 1700 ई० के आस-पास था, हिंदी का पहला नाटक है। लेकिन इस मान्यता के पीछे कोई ठोस और मज़बूत तर्क नहीं है। एक तो यह ब्रजभाषा में लिखा गया है और दूसरे इसकी प्रकृति मंचीय नहीं है। यह कविताओं में लिखा गया है, गद्य का इस्तेमाल नहीं किया गया है। साथ ही यह रामलीला शैली में लिखा गया है। इसके कारण इसे हिंदी का पहला मौलिक नाटक स्वीकार नहीं किया गया।

1859 में भारतेंदु के पिता बाबू गोपाल चंद्र ने '**नहुष**' नाटक लिखा और उसका मंचन भी किया गया। इसको कई लोगों ने हिंदी का पहला नाटक कहा है। यानी ऐतिहासिक स्तर पर 'नहुष' हिन्दी नाटक का प्रस्थान बिंदु है।

लेकिन व्यावहारिक स्तर पर हिंदी नाटक की वास्तविक शुरुआत भारतेंदु से होती है। भारतेंदु हिंदी नाटक के प्रणेता रचनाकार हैं। भारतेंदु के समय के कुछ रचनात्मक परिदृश्यों पर ध्यान देना ज़रूरी है। भारतेंदु जब नाटक के क्षेत्र में आए, उस समय नाटक के क्षेत्र में कई पारसी कंपनियाँ सक्रिय थीं और ये कंपनियाँ मनोरंजन के घटिया स्तर से ग्रस्त थीं। इसलिए नाटक का अर्थ नाच-गान और सस्ते मनोरंजन पर आधारित एक मंचीय व्यवस्था थी और इन नाटकों का मूल विषय रोमानी था।

इसलिए भारतेंदु के सामने दो तरह की समस्याएँ थीं। एक तो नाटक की रचना के स्तर पर समस्या थी और दूसरी समस्या रंगमंच को लेकर थी। इसलिए भारतेंदु ने नाटक को एक सार्थक विधा के रूप में ढालने की कोशिश की। उन्होंने नाटकों का मूल उद्देश्य स्वस्थ मनोरंजन के साथ-साथ जनमानस में जागृति, आत्मविश्वास और सुधार की भावना से जोड़ा। इसलिए भारतेंदु युग में सत्य, न्याय त्याग जैसे मानवीय मूल्यों के प्रति आस्था तथा प्राचीन संस्कृति के प्रति जगाने वाले ऐतिहासिक पौराणिक, सांस्कृतिक नाटकों की रचना हुई।

इस उद्देश्य को ध्यान में रखते हुए नाट्य पाठों की रचना आरंभ हुई। इसलिए **भारतेंदु युग के नाटकों** की दो दिशाएँ साफ तौर पर देखी जा सकती हैं। एक नाटक को **सामाजिक सुधार और सामाजिक नवनिर्माण** के माध्यम के रूप में ग्रहण किया गया और दूसरे स्तर पर उसे **भारतीय संस्कृति के महान मूल्यों से जनता को अवगत** कराने का माध्यम भी बनाया गया। इसलिए नवजागरण में जो सामाजिक मुद्दे थे, मसलन कि विभिन्न नारी-समस्याओं को भारतेंदु ने उठाया। नवजागरण के सामाजिक मुद्दों के साथ-साथ इतिहास, पुराण और संस्कृति के महान प्रसंगों को भी इस युग में नाटकों का विषय बनाया गया। भारतेंदु इस युग के सर्वश्रेष्ठ नाटककार हैं। उन्होंने मौलिक के साथ-साथ बंगला और अंग्रेज़ी के अनेक नाटकों का अनुवाद भी किया। भारतेंदु के मौलिक नाटकों में ''वैदकी हिंसा हिंसा न भवति'', ''भारत दुर्दशा'' और ''अंधेर नगरी'' ख्याति प्राप्त नाटक हैं।

इन तीनों नाटकों की विषयवस्तु अलग-अलग है। ''वैदकी हिंसा हिंसा न भवति'' में भारतीय समाज में स्वीकृत और प्रचलित धार्मिक कर्मकांड पर व्यंग्यात्मक प्रहार किया गया है कि किस प्रकार यह समाज धर्म के नाम पर सभी प्रकार की हिंसाओं को स्वीकार करता है। यही इस नाटक का मूल विषय है। एक तरह से समूचा भारतीय नवजागरण आत्ममंथन की प्रक्रिया है। अपनी संस्कृति, अपने इतिहास और अपनी परंपरा का आत्ममंथन ताकि एक नए समाज का निर्माण किया जा सके। इस दृष्टि से आत्मस्वीकृति भी नवजागरण चेतना का एक मूल लक्षण है

और 'वैदकी हिंसा हिंसा न भवति' इसी आत्मस्वीकृति की प्रक्रिया के अंतर्गत धर्म के नाम पर चलने वाले सामाजिक पाखंड मूल्यों की द्वैतता पर प्रहार करता है।

दूसरा नाटक 'भारत दुर्दशा' भारतीय परंपरा के श्रेष्ठ मूल्यों के पतन को केंद्र बनाकर लिखा गया है। कर्मठता, साहस, संयम, सदाचार, ज्ञान इन्हीं भारतीय जीवन-मूल्यों को भारतीय जीवन परंपरा का महत्त्वपूर्ण अंग माना गया है लेकिन अंग्रेज़ों के आगमन और अंग्रेज़ी सभ्यता के परिणामस्वरूप ये मूल्य नष्ट हो गये हैं या प्रभावहीन हो गए हैं। दरअसल पश्चिमी सभ्यता के प्रभाव में नष्ट होती हुई भारतीय अस्मिता, निष्क्रिय होते हुए मानवीय-मूल्यों और इन परिस्थितियों में एक समूची जाति के पराभव के प्रति प्रतिक्रिया ही इस नाटक का मूल कथ्य है। इसलिए इस नाटक में दो तरह के पात्र हैं, वह एक पात्र है, जो भारत दुर्दैव के नाम से है और दूसरा भारतीय सौभाग्य के नाम से है। भारतीय दुर्दैव अनेक प्रकार की विपत्तियां, कुप्रवृत्तियाँ, अनेक प्रकार के दुराचरण भारतीय समाज में फैलाता है। भारतीय सौभाग्य भारत को सावधान करना चाहता है। अंततः तमाम प्रकार के जगाने के अनुरोध और कोशिशों के बावजूद भारत की नींद नहीं टूटती और एक ट्रैजिक बिंदु पर नाटक खत्म होता है, जिसमें भारतीय सौभाग्य आत्महत्या करता है। एक तरह से भारतीय परंपरा और मूल्यों के पराभव के त्रासद बिंदु पर यह नाटक खत्म होता है।

तीसरी कृति 'अँधेर नगरी' सत्ता के अंधत्व को केंद्र बनाकर लिखी गयी है। यह नाटक समकालीन युग संदर्भों में भी प्रासंगिक बना हुआ है। 1884 में लिखा गया यह नाटक राजनीति और बाज़ार के दुरभिसंधि के परिणामों की ओर संकेत करता है। दुरभिसंधि एक षडयंत्र है राजनीति और बाज़ार का, जिसने समाज को एक सीमाहीन अंधता में कैद किया है। उसमें दो ऐसे दृश्य हैं, जिनपर ध्यान दिया जाना चाहिए। एक दृश्य बाज़ार का है और दूसरा दृश्य राजा के दरबार का है।

बाज़ार में एक ही नियम है और बाज़ार का एक ही लक्ष्य है वह है चीज़ों को बेचना। इसलिए बाज़ार की पूरी भाषा लालच को उत्तेजित करने वाली भाषा है। दरअसल बेचे जाने के प्रति ललक उत्पन्न करने में ही बाज़ार की सांस सुरक्षित रहती है। चीज़ों के बेचे जाने में ही बाज़ार की सार्थकता निहित है इसलिए बाज़ार की एक बहुत दमदार मोहाविष्ट करने वाली भाषा का प्रयोग भारतेंदु ने उस पूरे प्रकरण में किया है। वही भाषा थोड़ा-सा रूप बदलकर अलग माध्यम से आज की दुनिया को अपनी गिरफ़्त में रखे हुए है। उस समय चूँकि टेलीविज़न नहीं था। अखबार उस तरह कायदे के नहीं थे, रंगीन प्रिंटिग का सवाल ही नहीं था। अगर यह सब होता, तो भारतेंदु के नाटक का रूप-विधान वैसा ही होता जैसा कि आज टेलीविज़न में दिखाई देता है। एक तरह से बाज़ार की जो मूल प्रकृति

है, उसकी पहचान भारतेंदु कर रहे हैं और इस बाज़ार की गिरफ्त में वह है जो विवेक से काम नहीं लेता।

जब नाटक नगर में प्रवेश होता है, तो तीन लोग आते हैं–एक गुरु है और उसके साथ-साथ दो चेले हैं। एक का नाम है गोवरधन दास और दूसरे का नाम है नारायण दास। उसमें गुरु कहता है कि बहुत थक गए हैं, कुछ भिक्षा आदि मिले, तो ठाकुर जी को भोग लगे और भोजन-पानी हो और दोनों शिष्यों को अलग-अलग दिशाओं में भेजता है। जो गोवरधन दास है, उसे पश्चिम में भेजा गया है। बाज़ार पश्चिम में है, इतनी सावधानी भारतेंदु ने बरती होगी, क्योंकि वे पूर्व में भी भेज सकते थे, लेकिन पूर्व में नहीं भेजा गया है। वह पश्चिम की तरफ़ आता है और देखता है कि इतना मोहक बाज़ार है और इतनी चीजें उपलब्ध हैं। पकड़ने वाली भाषा का इस्तेमाल बाज़ार में हो रहा है और वह इसके चक्रव्यूह में फ़ंसता है।

इसलिए जब वह जलेबी वगैरह सब लेकर आता है, तो कहता है कि गुरु जी ऐसा शहर तो मैंने देखा ही नहीं, यही ज़िंदगी भर रहने लायक है। लेकिन गुरु सावधान करता है–''सेथ सेथ सब एक थे जहाँ कपूर कपास', जहाँ चीज़ें सिर्फ़ ऊपरी रंग के आधार पर समान समझी जाएँ ऐसे राज्य में अगर सोने की भी वर्षा हो तो वह रहने लायक जगह नहीं है। वह सोचता है कि गुरु जी बूढ़े हो गए हैं, मति खराब हो गई है।

दूसरा दृश्य है राज दरबार का। ऐसा राजा न्यायाधीश भी है, जो शब्द का ठीक से उच्चारण नहीं कर सकता। लड़की के लिए और बकरी के लिए उसने कम-से - कम 12-13 शब्दों का इस्तेमाल किया है। जो भाषा का इस्तेमाल कायदे से नहीं करता, अफीम और शराब के नशे में है। पूरे का पूरा जो न्याय तंत्र है, वह हास्यास्पद है। न्याय पूर्वनिर्धारित है। एक जगह कहता है कि जब अपराध हुआ है, तो दंड तो किसी-न-किसी को तो मिलना चाहिए। इस तरह से न्याय की हास्यास्पदता, सत्ता की हास्यास्पदता, यह भारतेंदु उस समय भी दिखा रहे थे। पूरी सत्ता, जिसमें न्यायालय भी है, राजतंत्र भी है और प्रजातंत्र भी है, में समूची अंधता किस स्तर पर है। भारतेंदु इसे पकड़ने की कोशिश कर रहे हैं। नाटक का बहुत चर्चित वाक्य है 'अंधाधुंध मचऊँ चहुंदेशा। मानो राजा रहत विदेशा' इस देश में अंधाधुंध मचा हुआ है, ऐसा लगता है कि राजा विदेश में रहता हो तो एक तरह से इस अंधता का जो तात्कालिक संदर्भ है, वह ब्रिटिश राज्य है और ब्रिटिश साम्राज्यवादी बाज़ार भी है।

इसलिए भारतेंदु का यह नाटक तब तक सार्थक बना रहेगा, जब तक कि सत्ता और बाज़ार का प्रकोप बना रहेगा। इसलिए हास्य और प्रहसन शैली में लिखे जाने के बावजूद इस नाटक की सार्थकता हमेशा बनी रहेगी। इस प्रकार भारतेंदु ने

सामयिक और सनातम विषयों पर भी लिखा। इस तरह से भारतेंदु अपने समय के एक प्रामाणिक गवाह के रूप में अपने नाटकों में देखे जा सकते हैं।

इसके अतिरिक्त उन्होंने कुछ पौराणिक और ऐतिहासिक नाटकों का अनुवाद किया और ये अनुवाद इतने मौलिक और प्रभावशाली हैं कि कई लोगों ने इन्हें मौलिक नाटक की श्रेणी में रख दिया है। इस तरह के नाटकों में दो नाटक बहुत चर्चित हैं, एक **'नील देवी'** और दूसरा है **'सत्य हरिश्चंद्र'**। 'नील देवी' का मूल विषय अंग्रेज़ों के शासन से मुक्ति की चेतना है। अंग्रेज़ों के शासन से देश की मुक्ति की कामना ही 'नील देवी' में ऐतिहासिक पृष्ठभूमि पर उभरती है। पृष्ठभूति ऐतिहासिक है, लेकिन देश की मुक्ति की कामना उसकी मूल विषयवस्तु है। साथ ही तत्कालीन समाज में तीव्रता से उठ रहे नारी स्वातंत्र्य के पक्ष और विपक्ष में द्वंद्व को भी इस नाटक में प्रस्तुत किया गया है।

सत्य हरिश्चंद्र पूरी भारतीय जातीय परंपरा का प्रतिनिधि चरित्र है। व्यक्तित्व की दृढ़ता और सत्यनिष्ठा भारतेंदु के अनुसार भारतीय चरित्र के स्तंभ बिंदु हैं इसलिए सत्य हरिशचंद्र में एक पंक्ति आती है 'चन्द्र टरै सूरज टरै, टरै जगत व्यवहार, पैदृढ़ श्री हरिश्चंद्र के टरैं न सत्य विचार' लेकिन हरिश्चन्द्र के जो सत्य विचार हैं वे टल नहीं सकते। उनमें कोई परिवर्तन नहीं हो सकता, यह सत्यनिष्ठा है, दृढ़ता है, जो इस पात्र के व्यक्तित्व में दिखाई देती है। इस तरह से भारतेंदु ने अपने नाटकों के माध्यम से उस विषय को प्राथमिकता दी, जिस विषय-वस्तु के माध्यम से भारतीय समाज के नवनिर्माण की प्रक्रिया संपादित की जा सकती है।

प्रसाद युग : हिंदी नाटक का **दूसरा चरण प्रसाद** से शुरू होता है। भारतेंदु युग के बाद हिंदी नाटक की विकास प्रक्रिया में जो अवरोध आ गया था, उसे प्रसाद ने तोड़ा। भारतेंदु ने अपने नाटकों में जिन सामाजिक समस्याओं का चित्रण किया और भारतीय गौरव और भारतीय संस्कृति के जीवन- मूल्यों को प्रस्तावित किया, प्रसाद के नाटक उससे भिन्न दिशा में रचे गए। प्रसाद के अधिकांश नाटक ऐतिहासिक हैं, इसलिए आरंभिक में कुछ लोगों को लगा कि प्रसाद पुनरोत्थानवादी नाटककार हैं। यह विचारणीय प्रश्न हो सकता है कि क्या प्रसाद के नाटकों की चेतना पनुरोत्थानवादी है या नहीं ?

इस प्रश्न के उत्तर में यह देखा जाना चाहिए कि प्रसाद के नाटकों के केंद्र में क्या है ? प्रसाद के नाटक स्वाधीनता आंदोलन की चेतना और स्वाधीनता आंदोलन की चुनौतियों से निर्मित हुए हैं। प्रसाद के ऐतिहासिक नाटक अतीत के गौरव पर नहीं, बल्कि वर्तमान के विश्लेषण और वर्तमान में राह निकालने की कोशिश के परिणाम कहे जा सकते हैं। इसलिए प्रसाद की वास्तविक समस्या वर्तमान भारत की

समस्या है। **अतीत और वर्तमान के बीच पारिस्थितिक एकता का उद्घाटन** प्रसाद के नाटकों का यथार्थ कहा जा सकता है।

इस देश के विघटन के वास्तविक कारण कहाँ है, इसका उद्घाटन प्रसाद ने 'स्कंदगुप्त' में किया है। महत्त्वकांक्षाएँ, फूट, निजी प्रतिशोध की भावना और एक अखंड राष्ट्रीयता की चेतना का अभाव, ये आधारभूत राष्ट्रीय समस्याएँ हैं। ये स्कंदगुप्त के समय में भी हैं और स्वाधीनता आंदोलन के समय में भी। इसलिए प्रसाद के नाटकों में इतिहास वर्तमान से असंपृक्त अतीत का कोई अछूता छोर नहीं है, बल्कि अतीत और वर्तमान की संबंध परंपरा में वे भारत की वर्तमान समस्या यानी स्वाधीनता की समस्या, एकता की समस्या के रचनात्मक दस्तावेज़ हैं।

प्रसाद के नाटकों की प्रकृति स्वच्छंदतावादी है। **अतीत के प्रति प्रेम, वैयक्तिकता, आवेगमयता, नियतिबद्धता और उल्लास** ये स्वच्छंदतावादी आंदोलन की विशेषताएं हैं। इन्हीं विशेषताओं से प्रसाद के नाटकों की चेतना निर्मित होती है। प्रसाद के नाटकों के विकास की कई दिशाएँ हैं या कई स्तर हैं। आरंभ में प्रसाद ने 'कल्याणी परिणय', विशाख, अजात शत्रु और जनमेजय का नाग यज्ञ' आदि नाटक लिखे।

दूसरे चरण के महत्त्वपूर्ण नाटक हैं स्कंदगुप्त, चंद्रगुप्त और ध्रुव स्वामिनी। इस स्तर पर आकर प्रसाद के नाटकों में एक परिपक्वता दिखाई देती है। स्कंदगुप्त को दो मोर्चों पर लड़ना होता है—घरेलू स्तर पर भी, क्योंकि गृह कलह की स्थितियाँ हैं और बाहरी मोर्चे पर भी। दूसरी तरफ़ चंद्रगुप्त नाटक है, जो स्वतंत्र राज्यों में बँट हुए हिंदुस्तान का एकीकरण करता है और भारत को एक स्वतंत्र राष्ट्र के रूप में स्थापित करता है। चाणक्य का वास्तविक स्वप्न यही है। इसलिए अंतर्कलह और बाहरी आक्रमण से जूझते हुए देश को जोड़ना और स्वाधीन करना, ये प्रसाद के समय की वास्तविक राष्ट्रीय समस्या है, जिसके लिए वे इतिहास के स्वर्ण युग के इन दो पात्रों को चुनते हैं स्कंदगुप्त और चंद्रगुप्त। प्रसाद की अंतिम नाट्य कृति है ध्रुवस्वामिनी। इसमें उन्होंने सामाजिक जीवन की ज्वलंत समस्या, स्त्री की स्वाधीनता की समस्या पर विचार किया है। इस समस्या के प्रति आकर्षण का मूल कारण नारी आंदोलन है।

आज के समाज में स्त्री की स्थिति, दासता की शृंखला से उसकी मुक्ति का प्रश्न और विशिष्ट परिस्थितियों में जीवन-निर्वाह की संभावना या विशिष्ट परिस्थितियों में पुनर्विवाह का प्रश्न, ये कुछ स्थितियाँ हैं, जो ध्रुव स्वामिनी में उठाई गई हैं। एक तरह से ध्रुव स्वामिनी आधुनिक नारी की तेजस्विता, वरण की स्वतंत्रता और निर्णय क्षमता की चेतना का प्रतिनिधित्व करती है। इसलिए प्रसाद का यह नाटक 'ध्रुव स्वामिनी' भारतीय स्त्री की परंपरागत छवि को तोड़ने वाला है। संक्षेप में कहा जा

सकता है कि एक तो प्रसाद इतिहास की पीठिका में वर्तमान की समस्याओं एवं प्रश्नों का चित्रण करते हैं। यह प्रसाद के नाटकों की बुनियादी विशेषताएँ कही जा सकती हैं। स्त्री के स्वाधीन और सम्मानित व्यक्तित्व की स्थापना, ये प्रसाद के नाटकों की दूसरी विशेषता है। प्राय: प्रसाद के नारी पात्र ऐतिहासिक परिवर्तन की प्रक्रिया में बनते हुए नए व्यक्तित्व का प्रतिनिधित्व करते हैं। आचरण की दृढ़ता, निष्ठा, त्याग की भावना, इन गुणों के कारण प्रसाद के नारी चरित्रों का व्यक्तित्व पुरुषों की तुलना में अधिक प्रखर, तेजस्वी और उदात्त दिखाई देता है।

भारतीय परंपरा में नारी के व्यक्तित्व के महान गुणों की भी चर्चा की गई है, अवगुणों की भी चर्चा बहुत है। लेकिन एक परंपरा यह भी है कि नारी को शक्ति के रूप में देखा गया है, प्रकृति के रूप में देखा गया है, सृजना के संदर्भ के रूप में देखा गया है। व्यावहारिक स्तर पर चाहे स्त्री नरक की खान हो, लेकिन सैद्धांतिक धरातल पर स्त्री के व्यक्तित्व को जो गरिमा दी गई है, प्रसाद के नाटक उसी गरिमा को एक रचनात्मक आयाम देते हैं। इसलिए स्त्री के प्रति एक नितांत आदर्शवादी दृष्टिकोण प्रसाद के नाटकों में दिखाई देता है।

प्रसाद के नाटकों के संबंध में तीसरी बात यह यह कही जा सकती है कि प्रसाद की नाट्य प्रतिभा का सबसे सबल रूप अपने **पात्रों की चरित्रगत विशेषताओं के उद्घाटन** में दिखाई देता है। भारतेंदु युग में पात्रों के चरित्र का स्वतंत्र उद्घाटन नहीं दिखाई देता। वे रचनाकार के कथ्य के संवाहक मात्र हैं। लेकिन प्रसाद ने पहली बार अपने पात्रों को व्यक्तित्व प्रदान किया और चरित्र-चित्रण में उन्होंने पात्रों के अंतर्द्वंद्व और बाहरी संघर्ष का समावेश किया।

इसलिए प्रसाद के नाटकों के पात्र घटना अथवा कथा के संवाहक मात्र नहीं है। उन पात्रों को एक चरित्र देने या एक व्यक्तित्व देने की अद्भुत कला प्रसार के पास मौजूद है। इसलिए चरित्र केंद्रित पात्रों का निर्माण और विकास प्रसाद की नाट्य प्रतिभा और नाट्य कर्म की ऐतिहासिक देन कही जा सकती है और इस दृष्टि से प्रसाद के पात्र मात्र नाटक के पात्र नहीं हैं बल्कि नाटक से बाहर भी अपनी एक पहचान बनाते हैं। वैसे पात्रों में स्कंदगुप्त, 'चंद्रगुप्त' का चाणक्य और ध्रुवस्वामिनी, ये महत्त्वपूर्ण पात्र सृष्टियाँ हैं, जिनका हिंदी साहित्य की परंपरा में अपना स्वतंत्र व्यक्तित्व है।

अगर विकास की दृष्टि से देखें, तो भारतेंदु युग का महत्त्व इस बिंदु पर है कि नाटक और जीवन के बीच, वर्तमान और रचना के बीच एक गहरे और दायित्वपूर्ण संबंध की शुरुआत भारतेंदु ने की। यानी भारतेंदु के नाटक अपने समय की सामाजिक और ऐतिहासिक समस्याओं को धारण करते हैं, लेकिन उसमें अभी कोई चरित्र निर्माण की कोशिश दिखाई नहीं देती।

प्रसाद के नाटकों के पात्र चरित्र भी बन सके हैं और ऐसा **पात्रों के अंतर्द्वंद्व और बाहरी संघर्ष** के माध्यम से संभव किया गया है। प्रसाद के इन नाटकों के चरित्र कई बिंदुओं पर अंतर्द्वंद्वों से ग्रस्त दिखाई देते हैं। चाणक्य जैसा दिखाई देता है, वैसा नहीं है। उसका एक आंतरिक जीवन भी है, जिसमें द्वंद्व चलता है। एक स्थान पर वह कहता है कि मैं ब्राह्मण, आकाश के नीचे सोने वाला, सूर्य और चंद्रमा के सान्निध्य और प्रकाश में जीवन बिताने वाला, सरल और सहज, किन दुश्चक्रों में फंस गया। राजनीतिक जीवन या राजनीतिक षड़यंत्र और सहज जीवन के बीच में वह अपने व्यक्तित्व को विघटित होता हुआ महसूस करता है। अंतर्द्वंद्वों का सूत्रपात प्रसाद ने पहली बार चरित्रों में किया। इसलिए चरित्र-योजना की ऐसी प्रभावशाली अभिव्यक्ति प्रसाद के नाटकों का एक अप्रतिम योगदान कहा जा सकता है। प्रसाद के नाटकों के पात्रों को पारंपरिक शास्त्रीय शब्दावली में परिभाषित नहीं किया जा सकता, क्योंकि शास्त्रीय शब्दावली में पात्र धीरोदात्त होते हैं, या तो महान होते हैं या दुष्ट होते हैं।

प्रसाद की चरित्र-योजना ने काव्यशास्त्र की इन श्रेणियों को निरर्थक सिद्ध कर दिया! चाणयक्य के बारे में कहना मुश्किल है कि वह किस प्रकार का पात्र है। एक दृष्टि से लगता है कि बहुत महान पात्र है, लेकिन दूसरी दृष्टि से लगता है कि बहुत दुष्ट पात्र है। राजनीतिक उद्देश्यों के लिए हत्या करवाना उसके लिए दिनचर्या का विषय है। इसलिए कोई भी पात्र मूल निर्णय की सुविधा नहीं देता है।

अभिनेयता की दृष्टि से प्रसाद के नाटक प्रश्नचिह्न के घेरे में है। यह तो लगभग सभी लोगों ने स्वीकार किया है कि प्रसाद के नाटकों ने हिंदी नाटक की परंपरा में साहित्यिक नाटकों के अभाव को पूरा किया। भारतेंदु के युग में कोई साहित्यिक नाटक नहीं लिखा गया। उनकी प्रकृति हल्की-फुल्की थी। गंभीर साहित्यिक नाटकों के अभाव को प्रसाद ने पूरा किया। लेकिन क्या वे उसी सीमा तक अभिनेय भी हैं, जिस सीमा तक भारतेंदु युग के नाटक अभिनेय हैं?

आरंभ में बहुत दिनों तक यह कहा गया है कि प्रसाद के नाटक गंभीर साहित्यिक प्रवृत्ति के होते हुए भी अभिनेयता की दृष्टि से कमज़ोर नाटक हैं और कारण बताया गया है कि प्रसाद के नाटकों में अभिनेयता की संभावना की कमी की वजह एक तो घटना विस्तार है, जैसे चंद्रगुप्त का घटना विस्तार 25 वर्षों में फैला हुआ है। घटना विस्तार, दृश्यों की बहुलता, लंबे दार्शनिक संवाद, भाषा की क्लिष्टता और स्वगत कथन, इन कारणों से प्रसाद के नाटक रंगमंच पर अभिनीत नहीं हो सकते। उन्होंने कई ऐसे दृश्यों की योजना की है, जो उस समय के रंगमंच पर घटित नहीं हो सकते थे, जैसे जंगल का दृश्य है या मंच पर बाढ़ और चिता का प्रकट होना है। नदी, नदी

में चलती हुई नाव, नावों से उतरते सैनिक, रणक्षेत्र, समुद्र, सेनाओं के द्वारा किए जाने वाले युद्ध, इस तरह के परिदृश्य हैं, जिन्हें मंच पर घटित नहीं किया जा सकता। लेकिन बाद के निर्देशकों ने, जिनमें ब.व. कारंत का नाम बहुत महत्त्वपूर्ण है, कहा कि प्रसाद के नाटक ज्यों-के-त्यों तो अभिनीत नहीं हो सकते, लेकिन उनमें संशोधन करके इन नाटकों का मंचन किया जा सकता है, और स्कंदगुप्त तथा चंद्रगुप्त का मंचन भी किया गया।

दृश्य और घटना के विस्तार के साथ-साथ प्रसाद के नाटकों की नाटकीयता में एक बड़ा बाधा भाषा को लेकर भी है। प्रसाद के नाटकों की भाषा काव्यात्मक भाषा है। प्रसाद की भाषा संवाद की भाषा नहीं है, भावना की भाषा है। उसमें एक खास तरह की तरल आर्द्रता दिखाई देती है। हालाँकि चंद्रगुप्त में बहुत हद तक इस भाषा की प्रकृति को सुधारा गया है। ध्रुवस्वामिनी में यह नहीं के बराबर है। लेकिन मोटे तौर पर प्रसाद के नाटकों की भाषा को काव्यात्मक और बिंब बहुला माना गया है। तर्क के स्थान पर भावना का आवेग प्रसाद की नाट्य भाषा का मिज़ाज है। लेकिन प्रसाद की भाषा के अनाटकीय होने के तर्क को बाद के रंगकर्मियों ने अस्वीकार किया है। प्रसाद की भाषा की प्रकृति मूलतः क्लासिकल कही जा सकती है। भारतीय नाट्य परंपरा का जो श्रेष्ठत्व है, भाषा की भंगिमा की जो महानताएँ हैं, उन महानताओं की दृष्टि से प्रसाद के नाटक अप्रतिम हैं। स्वयं प्रसाद की भी अपनी एक दृष्टि थी, नाट्य भाषा को लेकर।

पारसी थिएटर की भाषा की जो फूहड़ता थी, जो उसका सस्तापन था, उस फुहड़ता, अश्लीलता और सस्तेपन के विकल्प के रूप में एक गहरी सांस्कृतिक चुनौती के रूप में प्रसाद ने अपने नाटकों की भाषा का निर्माण किया। इसलिए प्रसाद की जिस नाट्य भाषा को अभिनेयता के मार्ग में सीमा माना गया था, बाद के नाट्य कर्मियों ने, निर्देशकों ने कहा कि प्रसाद की नाट्य भाषा एक संपत्ति है, अभूतपूर्व क्षमताओं से लैश। इस तरह से प्रसाद ने हिंदी नाटक के विकास को एक बहुत सम्मानित शिखर तक पहुँचाया। लेकिन इसके बावजूद प्रसाद के नाटकों की कुछ सीमाएँ हैं। अपने कथ्य और कलात्मक वैशिष्ट्य के बावजूद, दरअसल प्रसाद ने पारसी थियेटरों की अतिरंजना के खिलाफ़ नाटक लिखने की प्रतिज्ञा की थी, लेकिन प्रसाद के नाटकों की विचित्र विडंबना है कि उनके नाटकों पर पारसी थिएटर की अतिरंजना के बहुत सारे प्रभाव दिखाई देते हैं। जैसे कि संगीतात्मकता और गीतों का अत्यधिक प्रयोग।

इसके अतिरिक्त आकस्मिकता पारसी थिएटर की एक रंग रूढ़ि है। संयोग और आकस्मिकता प्रसाद के नाट्य संयोजन के सूत्र बिंदु कहे जा सकते हैं। एक तीसरी

नाट्य रूढ़ि का प्रयोग भी उन्होंने किया है और वह है पात्रों के व्यक्तित्व को यथार्थ के स्तर पर न गढ़कर, उसमें **अतिरंजित परिस्थितियों का समावेश** करना। कुछ आलोचकों का कहना है कि प्रसाद के नाटकों के जो पात्र हैं, उनकी प्रकृति वस्तुतः **गीतात्मक** है। अपवाद में स्कंदगुप्त के पात्र, चंद्रगुप्त के पात्र या ध्रुव स्वामिनी के पात्र कहे जा सकते हैं। प्रसाद के नाटकों की कुछ सीमाएँ हैं जिन पर विचार किया जाना चाहिए, लेकिन इसमें संदेह नहीं है कि प्रसाद ने नाटकों के विषय, उनकी भाषा और उनकी कलात्मकता में अभूतपूर्व विकास किया है। दरअसल हिंदी नाटक को साहित्यिक प्रौढ़ता से जोड़ने का ऐतिहासिक कार्य प्रसाद के द्वारा संपन्न हुआ है।

इस युग के अंतर्गत आने वाले कुछ और नाटककार हैं, जिनमें दो लोगों का नाम महत्त्वपूर्ण कहे जा सकते हैं—**हरिकृष्ण प्रेमी** और **लक्ष्मीनारायण मिश्र**।

प्रसाद ने अपने नाटकों में जहाँ भारतीय इतिहास के स्वर्ण युग कहे जाने वाले गुप्तकाल के इतिवृत्त को ग्रहण किया, वहीं प्रेमी जी ने मध्यकालीन इतिहास के इतिवृत्त को ग्रहण किया। इतिहास दोनों नाटकाकारों के केंद्र में है, लेकिन काल की भिन्नता है। प्रसाद में प्राचीन भारत है और हरिकृष्ण प्रेमी में मध्यकालीन भारत।

एक ऐसी स्थिति में, जब मुसलमानों पर एक प्रकार संदेह घिरने लगा था कि इनकी राष्ट्रीयता प्रामाणिक नहीं है, इनकी राष्ट्रीयता संदिग्ध है, प्रेमी जी ने भारतीय मुसलमानों की राष्ट्रीयता या उनके राष्ट्रीय चरित्र के पक्ष में अनेक महत्त्वपूर्ण नाटकों की रचना की। 'प्रतिशोध' नाटक का बकी खाँ नामक एक चरित्र का कथन है—'बुंदेलखंड क्या सिर्फ़ बुंदेलों का है।, क्या यह जमीन सिर्फ़ हिंदुओं को दाना पानी देती है, हम मुसलमानों को नहीं, मज़हब के नाम पर मुल्क के टुकड़े न करो सुजान सिंह। जिस मुल्क में पैदा हुए, जिसकी मिट्टी में हम खेले-कूदे, जिसके आबो दाना में हम पले, उसकी आज़ादी से क्या हमारा कोई ताल्लुक नहीं।' **हरिकृष्ण 'प्रेमी'** के कई नाटक हैं – रक्षा बंधन, पाताल विजय, प्रतिशोध, स्वर्णविहीन आदि। प्रेमी जी ने प्रसाद काल में लिखना शुरू किया था और प्रसाद के नाटकों की सीमाएँ उनकी निगाहों में थी। इसलिए उन्होंने नाट्य-लेखन में **साहित्यिकता और रंगमंचीयता के समन्वय को ध्यान में** रखा। कहा जा सकता है कि **साहित्यि और रंगमंचीयता का समन्वय** उनके नाटकों की विशेषता है। संस्कृत नाट्य परंपरा को छोड़कर उन्होंने अपने नाटकों में **पश्चिमी नाट्य कला को** अपनाने पर ज़ोर दिया है। उनके नाटकों का कथानक संक्षिप्त और सुगठित है, चरित्र सरल और स्पष्ट है, संवाद योजना बहुत हद तक पात्रानुकूल है, लेकिन प्रसाद के नाटकों की तुलना में प्रेमी जी के नाटकों का कद अपेक्षाकृत छोटा है। उनके नाटकों में वह गरिमा और औदात्य नहीं है, जो प्रसाद के नाटकों में दिखाई देती है।

लक्ष्मीनारायण मिश्र प्रसाद युग के दूसरे बड़े नाटककार हैं और नाट्य आलोचकों की मान्यता है कि हिंदी में **समस्या नाटकों का सूत्रपात** लक्ष्मीनारायण मिश्र से होता है। दरअसल प्रसाद के नाटकों की दिशा का विरोध करते हुए, उन्होंने अपने नाटकों में **भाव के स्थान पर बुद्धि को प्राथमिकता दी।** यानी बुद्धि के विनियोग के द्वारा या समावेश के द्वारा मिश्र जी ने हिंदी में समस्या नाटकों का सूत्रपात किया। उनके कुछ नाटक हैं—संन्यासी मुक्ति का रहस्य, राक्षस का मंदिर। मिश्र जी के समस्यामूलक नाटकों पर पश्चिमी समस्या नाटकों का सीधा प्रभाव देखा गया। पश्चिम में डार्विन, मार्क्स और फ्रायड के सिद्धांतों से जिस नवीन चेतना का सूत्रपात हुआ था, उसके कारण आस्था और श्रद्धा के स्थान पर तर्क की चेतना प्रबल हुई थी। इस तरह से इस तर्क-चेतना ने पश्चिम में समस्या नाटकों का सूत्रपात किया था। इसलिए पश्चिम में दो महत्त्वपूर्ण समस्या नाटककार माने जाते हैं, इब्सन और बर्नार्ड शॉ। इनके नाटकों का बहुत गहरा प्रभाव लक्ष्मीनारायण मिश्र के नाटकों पर दिखाई देता है। समस्याओं के प्रति बुद्धिवादी दृष्टिकोण के कारण मिश्र जी की नाट्यभाषा प्रसाद से बिल्कुल भिन्न है। वह जीवन व्यवहार और तर्क चेतना पर आधारित भाषा है।

प्रसाद के नाटकों में जहाँ काव्यात्मक तरलता दिखाई देती है, वहीं मिश्र जी की भाषा में एक तर्क है, एक ठहराव है, एक बौद्धिकता है, संवादों में स्फूर्ति है, लघुता है और तीव्रता भी है। ये मिश्र जी की संवाद-योजना की विशेषताएँ हैं। बौद्धिकता को सर्वोपरि प्रश्रय दिया गया है। लेकिन मिश्र जी के नाटकों का एक अजीब अंतर्विरोध है। वह बौद्धिक होते हुए भी भावुकता से मुक्त नहीं हो पाते। दरअसल वे बौद्धिक होकर भी रूढ़ि और परंपरा का समर्थन करते हैं। जैसे उनकी एक स्थापना है कि स्त्री और पुरुष में प्रेम संबंधों के लिए सबसे अधिक घातक हो सकता है। मिश्र जी की धारणा है कि प्रेम जीवन को और जीवन की समझ को अवास्तविकता के लोक में ले जाता है। प्रेम हमारी ज़िंदगी की ज़मीनी सच्चाइयों पर एक पर्दा डालता है। प्रेम एक अवास्तविक संसार का निर्माण करता है, इसलिए प्रेम नहीं होना चाहिए। इसलिए वे **प्रेम का निषेध करते हुए विवाह का समर्थन** करते हैं, जो परंपरागत विवाह है। वह बुद्धि से और तर्क से यह सिद्ध करते हैं कि प्रेम यथार्थ विरोधी चेतना है, इसलिए इस बिंदु पर बाधक होते हुए भी वह समर्थन विवाह का करता है, जो एक रूढ़ि प्रधान परंपरा है।

इसलिए ऊपर से ऐसा दिखाई पड़ता है कि इब्सन और शॉ का प्रभाव है, क्योंकि वे तर्क के आधार पर, बुद्धि के आधार पर अपनी स्थापनाएँ रखते हैं। लेकिन इब्सन और शॉ ये दोनों मूलतः रूढ़ि विरोधी रचनाकार हैं। वे बुद्धि से रूढ़ियों को

ध्वस्त करते हैं, जबकि लक्ष्मीनारायण मिश्र बुद्धि से रूढ़ियों का समर्थन करते हैं। इसलिए उनके नाटकों में बौद्धिकता और परंपरा निर्वाह का एक अद्‌भुत द्वंद्व दिखाई देता है। एक तरफ़ बौद्धिकता भी है और दूसरी तरफ़ भारतीय परंपरा के निर्वाह की कोशिश भी उनके नाटकों में दिखाई देती है। इसलिए युगीन अंतर विरोधी मूल्यगत चेतना उनके नाटकों में देखी जा सकती है। क्योंकि उस समय के अंग्रेज़ी पढ़े-लिखे मध्य वर्ग का दिमाग एक तरफ़ बौद्धिक था और दूसरी तरफ़ उसे अपनी परंपरा के प्रति भी बहुत लगाव था। यह हिंदुस्तान के मध्य वर्ग का बँटा हुआ मन है, जो उनके नाटकों में दिखाई देता है।

इस तरह से प्रसाद युग के नाटकों की मूल प्रकृति स्वच्छंदतावाद की है और स्वच्छंदतावाद के विरोध में भी जो लोग दिखाई देते हैं, वे स्वच्छंदतावाद की कई प्रवृत्तियों से आवेशित हैं। लक्ष्मीनारायण मिश्र इसके सबसे बड़े उदाहरण कहे जा सकते हैं।

प्रसादोत्तर : हिंदी नाटक के विकास का **तीसरा चरण** भिन्नता का संदर्भ लेते हुए प्रसाद के बाद शुरू होता है। अगला चरण जिस नाटककार की रचनाओं में दिखाई देता है, वह है **उपेंद्रनाथ अश्क**। इसलिए प्रसादोत्तर हिंदी नाट्य-चेतना के सर्वप्रथम संवाहक उपेंद्रनाथ अश्क को माना गया है। वे प्रसादोत्तर नाट्य परंपरा के निर्भीक और बुनियादी यथार्थ के प्रस्तावक हैं। हरिकृष्ण प्रेमी और लक्ष्मी नारायण मिश्र ने हिंदी नाटक को रंगमंच से जोड़ने की कोशिश ज़रूर की थी, लेकिन वह सैद्धांतिक कोशिश थी। व्यावहारिक स्तर पर वे नाटक बहुत रंगमंचीय नहीं हो सके। अश्क के सामने एक समस्या तो हिंदी रंगमंच को लेकर थी, नाटकों की रंगमंचीयता को लेकर और दूसरी भाववादी मुद्रा से मुक्ति को लेकर समस्या थी। एक तरह से नाटक को भाववाद या रोमासंवाद से बाहर निकालकर उसे आधुनिक भावबोध से जोड़ने की समस्या थी। इन दोनों समस्याओं का सामना अश्क ने अपने तरीके से किया।

दरअसल उपेंद्रनाथ अश्क एक नई नाट्य पीढ़ी के पहले समर्थ नाट्यकार हैं। इस नई नाट्य पीढ़ी में अश्क के अतिरिक्त **जगदीश चंद्र माथुर, धर्मवीर भारती, लक्ष्मीनारायाण लाल, मोहन राकेश आदि** अनेक लोगों के नाम लिए जा सकते हैं। अश्क जी के कई नाटक बहुत प्रसिद्ध हुए हैं। उनका पहला चर्चित नाटक था 'छठा बेटा'। इस नाटक में पिता और पुत्र के परिवर्तित संबंधों को व्यंग्यात्मक ढंग से चित्रित किया गया है। कथा बस इतनी है कि एक अवकाश प्राप्त पिता जब लौट कर आता है, तो पिता के छः बेटे हैं, लेकिन किसी भी बेटे के पास पिता को रखने के लिए जगह नहीं है। एक तरह से पिता और पुत्र के संबंधों में जो बदलाव आ गया

है. पिता और पुत्र के हज़ारों वर्षों के पारंपरिक ढाँचे में जो परिवर्तन आ रहा है, उस परिवर्तन को सूचित करने वाला या उस परिवर्तन की पीड़ा को झेलने वाला पहला नाटक है 'छठा बेटा।' इसमें बताया गया है कि पिता और पुत्र का जो परंपरागत रिश्ता था वह भावात्मक रिश्ता था। **आज के सभी रिश्ते मात्र आर्थिक रिश्ते हैं।**

इसलिए पारिवारिक रिश्तों के केंद्र में भावना, कर्तव्य और दायित्व के स्थान पर अर्थ संबंध आ गया है। यानी अब आर्थिक स्थितियाँ मानवीय और पारिवारिक संबंधों की प्रकृति को परिभाषित करेंगी। दूसरे दो नाटक हैं, जो क्रम में हैं 'कैद' और 'उड़ान'। ये दो नाटक हैं, लेकिन ये परस्परता में हैं। 1945 में 'कैद' की रचना हुई थी और 1946 में 'उड़ान' की। 'कैद' में सामाजिक रूढ़ियों और यंत्रणाओं की कैद में घुटती हुई स्त्री है तो 'उड़ान' में रूढ़ियों से मुक्त होकर स्वतंत्र हवा में साँस लेती हुई स्त्री। जिस एक नाटक के कारण वह सर्वाधिक चर्चित हुए, वह नाटक था 'अंजु दीदी।' 1954 में यह कृति प्रकाशित हुई थी। यह अश्क जी की सर्वाधिक प्रौढ़ कृति है। अंजु बहुत अनुशासनप्रिय है, परिवार की मुखिया है, परिवार को चलाने वाली है। लेकिन उसका अनुशासन यांत्रिक है। ये परिवार और पारिवारिक संबंधों पर उतरती हुई यांत्रिकता है, जिसकी आहट 'अंजु दीदी' में सुनाई पड़ती है।

आने वाले समय में संबंधों की यांत्रिकता, भावनाओं की यांत्रिकता, जीवन की यांत्रिकता को अश्क ने इस नाटक में उठाया है। ऐसा अनुशासन है, जिसमें परिवार के प्रत्येक सदस्य को उस अनुशासन में यंत्र की तरह काम करना होता है, इसलिए यह यांत्रिकता की ओर संकेत करती हुई 'अंजु दीदी' का एक पात्र कहता है, 'वह इस घर को घड़ी की तरह चलाना चाहती थी, पर वह न जानती थी कि घड़ी मशीन है और इन्सान मशीन नहीं। जब इन्सान मशीन बन जाएगा, तो वह दिन दुनिया के लिए सबसे बड़े खतरे का दिन होगा। लेकिन मैं समझता हूँ कि आज अंजु दीदी की सनक, उसके तिलिस्म को तोड़ना ज़रूरी है, ताकि इस घर के वासी अपनी-अपनी जिंदगी जिएं।' दरअसल मशीनीकरण के कारण टूटती हुई ज़िंदगी और उसके भीतर यांत्रिकता का बढ़ता हुआ वर्चस्व नाटक का मूल कथ्य है, जो एक पारिवारिक ढाँचे में प्रस्तुत किया गया है। इस तरह से अश्क ने हिंदी नाटक को एक परिपक्वता प्रदान की, उसे यथार्थवाद से जोड़ने की कोशिश की और भाषा और दृश्यों की योजना मंचीय आवश्यकताओं के अनुरूप की।

इस युग के दूसरे नाटककार **विष्णु प्रभाकर** हैं। 'डॉक्टर' इनका बहुचर्चित नाटक है। विष्णु प्रभाकर एक तरह से मनोविज्ञान का इस्तेमाल करते हैं। यह भी यथार्थवादी धारा का ही एक पक्ष है। वे पात्रों के मनोवैज्ञानिक संदर्भ को अपना मूल विषय बनाते हैं। 'डॉक्टर' इस दृष्टि से एक बहुत महत्त्वपूर्ण नाटक है। यह एक

मनोवैज्ञानिक-सामाजिक नाटक है और नाटक के केंद्र में दिखाया गया है कि पेशे से इंजीनियर एक व्यक्ति डॉ० शर्मा अपनी पत्नी को एक नर्सिंग होम में ले जाते हैं, बाद में पता चलता है कि जो डॉक्टर है वह डॉ० शर्मा की परित्यक्ता पत्नी है और डॉक्टर को भी पता चलता है कि यह जो औरत है जिसका आपरेशन होना है यह किसकी पत्नी है। उसके पूर्व पति की पत्नी। एक अंतर्द्वंद्व शुरू होता है। हालाँकि इसे अतिवाद तक पहुँचाने की कोशिश की गई है। जो आपरेशन कर रही होती है तब भी उसके मन में अंतर्द्वंद्व है। यह नाटक क्लाईमेक्स पर आता है जब शर्मा को पता चलता है कि उसकी पहली पत्नी ही आपरेशन कर रही है। तब वह उसका नाम लेता है, मधु लक्ष्मी। क्योंकि वह डर रहा होता है कि कहीं प्रतिशोध काम करेगा और इसमें सब स्थितियां गड़बड़ हो सकती हैं। लेकिन उसमें एक पात्र है, जो कहता है कि मधु लक्ष्मी मर गई है, अब जो स्त्री आपरेशन कर रही है, वह डॉक्टर है, वह आपकी पत्नी नहीं है। तो एक तरह से भावना और कर्तव्य को लेकर जो द्वंद्व है, यह मनोवैज्ञानिक द्वंद्व है, इसको विषय बनाया गया है।

प्रभाकर जी के नाटकों में इस आंतरिक अंतर्द्वंद्व को ही मुख्य विषय के रूप में रखा गया है। नवीनता इस बिंदु पर है कि मनोवैज्ञानिक अंतर्द्वंद्व को विषय बनाया गया है और चूँकि विष्णु प्रभाकर पर गांधीवादी नैतिकता का बहुत गहरा प्रभाव है, इसलिए मानसिक अंतर्द्वंद्व की परिणति गांधीवादी आदर्शों में होती है।

प्रसादोत्तर नाटककारों में तीसरा नाम है **जगदीश चंद्र माथुर**। जगदीश चंद्र माथुर अश्क से भिन्न नाट्य दृष्टि विकसित करते हैं। उनके नाटकों का विषय सीधे-सीधे सामाजिक समस्याओं से जुड़ा हुआ नहीं है। उनके तीन नाटक बहुत चर्चित हैं। पहला 'कोणार्क', जो 1951 में प्रकाशित हुआ दूसरा 'पहला राजा' और तीसरा नाटक है 'शारदीया' यह 1953 के आस- पास प्रकाशित हुआ है।

इन तीन नाटकों के द्वारा जगदीश चंद्र माथुर ने अपनी एक स्वतंत्र पहचान बनाई। कोणार्क में जगदीश चंद्र माथुर इतिहास की तथ्यात्मकता का अतिक्रमण करते हैं। वे इतिहास को दरअसल मिथक में रूपांतरित करते हैं और इतिहास से मिथक में रूपांतरित होता हुआ नाटक व्यक्ति के मन से जुड़ता है। इसलिए जगदीश चंद्र माथुर को हिंदी नाटक को एक नई दिशा देने का श्रेय प्राप्त है। अगर थोड़ा पहले जाएँ, तो हम पाते हैं कि प्रसाद के नाटकों का मूल विषय यद्यपि वर्तमान है, लेकिन वे इतिहास का आश्रय लेते हैं। इतिहास एक ढाँचा है, जिसमें वे वर्तमान की बात करते हैं। इतिहास के उपयोग द्वारा वे राष्ट्रीय एकता की स्थापना, अपने सांस्कृतिक श्रेष्ठत्व की स्थापना, परंपरा के औदात्य और महानता की स्थापना करते हैं। हरिकृष्ण प्रेमी हिंदु-मुस्लिम एकता के लिए इतिहास का

सहारा लेते हैं। लेकिन माथुर जी के नाटकों में इतिहास इतिवृत्त के रूप में नहीं है। वे ऐतिहासिक तथ्य को भी मिथक में परिवर्तित करते हैं और इतिहास के मिथक में परिवर्तित होने का अर्थ है कि इतिहास तर्क और बुद्धि का विषय नहीं, बल्कि जातीय विश्वास का विषय है।

इतिहास को मिथक में परिवर्तित करने की प्रक्रिया अधिक सूक्ष्म है और माथुर के नाटकों का विषय ऐसा लगता है कि ऐतिहासिक या पौराणिक है, लेकिन वह गहरे और सूक्ष्म अर्थों में उसका मिथकीकरण करते हैं और उस मिथकीकरण के द्वारा अपने समय की चेतनागत समस्याओं को प्रस्तुत करते हैं। इस तरह से इतिहास को मिथक में रूपांतरित करके जगदीश चंद्र माथुर चेतना के बिंदु पर उत्पन्न होने वाले संकटों को प्रस्तुत करने की कोशिश करते हैं। इसलिए **'कोणार्क' में कलाकार एवं सत्ता के संघर्ष** की समस्या को उठाया गया है। जगदीश माथुर के नाटकों में समस्याएँ एक-दूसरे में गुंथी हुई हैं। कोणार्क में तीन तरह की समस्याएँ हैं, तीन तरह के युग्म है, जिनके बीच टकराहट दिखाई देती हैं, तीन जोड़े टकरा रहे हैं। **सर्जना और विध्वंस के बीच पहली टकराहट है, पुरानी पीढ़ी और नई पीढ़ी के बीच दूसरी और राजसत्ता और जनता की सत्ता के बीच** तीसरी टकराहट है। इस तरह से इतिहास को मिथक में रूपांतरिक करता हुआ यह नाटक जीवन संघर्ष के अनेक आयामों को एक रचनात्मक दिशा देता है।

दूसरा नाटक है 'पहला राजा'। यह जगदीश चंद्र माथुर का एक अति महत्त्वाकांक्षी नाटक है, जिसकी कथा उन्होंने अनेक स्रोतों वेद, महाभारत, भागवत पुराण, विष्णु पुराण आदि से ग्रहण की है। इसके अतिरिक्त हड़प्पा और मोहनजोदड़ो के मिथकों, पुराकथाओं और ऐतिहासिक वृत्तों से इसकी कथा का निर्माण किया गया है। यह नाटक पृथु की कथा पर आधारित है और धरती की अनेक समस्याओं से जुड़कर अपने युग का बहुआयामी नाटक बन गया है। विद्वानों की मान्यता है कि इस नाटक में उठाई गई समस्याएँ नेहरू युग की समस्याएँ हैं। भारतीय मिथकों में पृथु को पहला राजा माना गया है और जवाहर लाल नेहरू स्वतंत्र भारत के पहले प्रधानमंत्री थे। पृथु की समस्याएँ लगभग वही हैं जो नेहरू की समस्याएँ हैं। जैसे—प्रजातंत्र की व्यवस्था, उत्पादन की समस्या, जलाभाव के कारण कृषि उत्पादन में कमी, जातिभेद. संविधान का निर्माण और मंत्रिमंडल के गठन की प्रक्रिया में पैदा होने वाला कलह। इन सारी समस्याओं के मूल में आर्थिक समस्या ही है, माथुर जी की पैनी दृष्टि ने इस यथार्थ को स्थापित किया है।

'शारदीया' तीसरा नाटक है, जिसमें राजसत्ता की परिणति और प्रकृति पर प्रकाश डाला गया है। राजसत्ता किस प्रकार मानवीय भावनाओं को नष्ट कर देती है

और संबंधों से बिल्कुल मुक्त, निर्मम, महत्त्वाकांक्षी मनुष्य का निर्माण करती है, यही 'शारदीया' का मूल विषय है। माथुर जी के नाटकों की विशेषता उसकी एक स्वतंत्र और प्रभावशाली रंगमंचीय दृष्टि है। उन्होंने अपने नाटकों के रंगमंच को एक बहुधरातलीय विधान प्रदान किया है। पश्चिम की नाट्य परंपरा से अनेक प्रभावों को ग्रहण करते हुए भी उन्होंने अपने रंगमंच में भारतीय नाट्य परंपरा के बहुत सारे प्रभावों और रूढ़ियों को स्वीकार किया है। गीतिवाद्य, मुखौटों का प्रयोग जहाँ उन्हें लोकमंच से जोड़ता है, वहीं नट-नटी और सूत्रधार का प्रयोग उन्हें भारतीय रंगमंच की परंपरा से भी जोड़ता है। दरअसल लोक नाट्य परंपरा, पश्चिमी परंपरा और भारतीय रंग परंपरा के श्रेष्ठ तत्वों को मिलाकर जगदीश चंद्र माथुर एक प्रभावशाली रंगमंचीय परंपरा का सूत्रपात करते हैं।

धर्मवीर भारती हिंदी के उन दुर्लभ रचनाकारों में से एक हैं, जिन्होंने नाटक और कविता को एक-दूसरे से विलयित करने में विलक्षण सफलता हासिल की। 'अंधा युग' 1954 की कृति है और इसमें महाभारत के 18वें दिन की कथा को विषय बनाया गया है। इस कथा को चुनने का मूल कारण युद्ध और युद्ध के बाद की परिस्थितियों और मानवीय त्रासदी का साक्षात्कार है। दरअसल युद्ध के तीन संदर्भ भारतीय मानस में मौजूद हैं। पहला विश्वयुद्ध, दूसरा विश्वयुद्ध और भारत-पाकिस्तान विभाजन। ये युद्ध की अलग-अलग त्रासदियाँ हैं, जिनके संदर्भ में मूल्य और मूल्हीनता को पहचानने की कोशिश 'अंधा युग' में की गई है। इसलिए नाटक युद्ध के बाद विघटित चेतना, मूल्यों और अकेलेपन का उद्घाटन करता है। इस नाटक में यह बिंदु भी दिखाया गया है कि युद्ध के पहले और युद्ध के बाद शब्दों के अर्थ बदल जाते हैं। युद्ध के पहले जो शब्द का अर्थ है, युद्ध के बाद वही अर्थ नहीं रह जाता।

इसलिए आस्था अनास्था में बदलती है, मूल्य निर्मूल्यता में बदल जाते हैं। पूरा समाज दिग्भ्रमित होता है। इस नाटक का एक पात्र है युयुत्सु। युयुत्सु एकमात्र ऐसा पात्र है जो दुर्योधन का भाई है और पांडवों की तरफ़ से लड़ता है। युयुत्सु की यह धारणा है कि जो कौरव दल है, वह अन्याय के पक्ष में है। दुर्योधन का आचरण अन्यायपूर्ण है। उसका कथन अन्यायपूर्ण है। उसके दावे अन्यायपूर्ण हैं। अत: युयुत्सु न्याय के लिए पांडवों की तरफ़ से लड़ता है और जब महाभारत खत्म हो जाता है और पांडवों के शिविर में जश्न मनाए जा रहे होते हैं, तब वह हस्तिनापुर लौटता है। गांधारी उससे मिलने से मना कर देती है। विदुर वहाँ पर खड़े हैं। गांधारी एक वाक्य कहती हैं कि विदुर इससे पूछो कि अपने भाइयों का वध करते-करते इसकी बाँहें तो नहीं थक गई हैं। लोग उसे प्रेत समझते हैं, बच्चे उसे पत्थर मारते हैं, कोई पागल कहता है, कोई पैशाचिक कहता है, कोई जादूगर कहता है। बाद में वह

आत्महत्या करता है। लेकिन वह एक वाक्य कहता है कि पक्ष चाहे सत्य का हो, या असत्य का, अपनी अंतिम परिणति में दोनों ही जर्ज़र करते हैं।'' युद्ध से पहले जो सत्य प्रतीत होता है, युद्ध के बाद वह सत्य बना रहे, इसकी कोई प्रामाणिकता नहीं होती। इसलिए युद्ध शब्दों और मूल्यों का अर्थ विपर्यय कर देता है। इस युद्ध के समाप्त होने पर शुरू होता है, अंतर्द्वंद्व का सिलसिला। चेतना के भीतरी धरातल पर सभी अंधे हो जाते हैं, विवेकहीन हो जाते हैं, अकेले हो जाते हैं जैसे अपना ही अस्तित्व एक प्रेत लोक में परिवर्तित हो जाता है।

इसलिए अश्वत्थामा एक स्थान पर कहता है कि मैं मनुष्य रूप में पैदा हुआ था, लेकिन महाभारत में जो घटित हुआ, उसने मुझे पशु के रूप में तब्दील कर दिया। इसलिए वह कहता है कि मैं मात्र पशु हूँ मैं आदमी नहीं हूँ और उसी प्रतिशोध में वह उत्तरा के गर्भ पर ब्रह्मास्त्र का प्रयोग करता है। कई तरह की कथाएँ इस संदर्भ में चलती हैं कि किस तरह से युद्ध एक भीतरी पागलपन पैदा करता है, उन्माद पैदा करता है, जिसमें मूल्यों का, विश्वासों का, आस्थाओं का, मनुष्य बने रहने की शर्तों का नाश हो जाता है। युद्ध के खत्म होने के बाद अंतर्द्वंद्व की प्रक्रिया शुरू होती है। युद्ध बाहरी द्वंद्व होता है पहले धरातल पर और दूसरे धरातल पर होता है अंतर्द्वंद्व। इसलिए युद्ध एक अपाहिज और कभी खत्म न होने वाली एक दंश चेतना को जन्म देता है। वह उत्पन्न करता है निराशा, पीड़ा, निरर्थकता और अकेलापन। 'अंधा युग' वस्तुत: **युद्धोत्तर समाज और मानवीय नियति का आख्यान** है। 'अंधा युग की भाषा अपनी सरलता, उतार-चढ़ाव, लय और क्रियात्मकता के कारण नाटक की संभावनाओं से भरपूर भाषा है। इसका पहला मंचन इब्राहिम अलकाजी ने फिरोजशाह कोटला के किले में किया था, बिल्कुल प्रकृत रूप में। कुछ लगाया नहीं गया था सेटिंग की गई थी, लेकिन उस तरह से प्रकाश की व्यवस्था नहीं। यह हिंदुस्तान के सबसे सफल मंचनों में से एक कहा जाता है। 'अंधा युग' दुनिया की सर्वश्रेष्ठ कही जाने वाली नाट्य कृतियों में से एक है। क्योंकि युद्ध एक सनातन शाश्वत सार्वभौमिक समस्या है और इसे एक मिथकीय और पौराणिक संदर्भ में पुनर्रचित किया गया है, इसलिए रंगमंच की संभावनाओं का विस्तार 'अंधा युग' करता है। एक बहुत सटीक और सार्थक योगदान हिंदी नाटक की विकास परंपरा में 'अंधा युग' का है।

कई लोगों का ऐसा मानना है कि हिंदी नाटक की वास्तविक शुरुआत मोहन राकेश से होती है। अभी तक जो नाटक हैं उनमें रंगमंच और पाठ का एक भेद बना हुआ था। लेकिन **मोहन राकेश ने रंगमंच और नाट्य पाठ के द्वैत को खत्म कर दिया।** नाटक ही जैसे रंगमंच हो गया या रंगमंच में ही नाटक आ गया, अपनी पूरी साहित्यिक प्रभुता के साथ। **मोहन राकेश एक तरह से प्रसाद की साहित्यिकता**

और भारतेंदु की रंगमंचीयता को एक बिंदु पर संगठित करते हैं। हिंदी के रंगमंच की जिन संभावनाओं की खोज चल रही थी, उस खोज को उपलब्ध किया मोहन राकेश ने अपने नाटकों में। इसलिए मोहन राकेश के नाटक मंच की व्यावहारिक भाषा, संवाद की प्रभावशाली योजना और चरित्रों को अंतर्द्वंद्व के बिंदु पर गढ़ने की अभूतपूर्व प्रतिभा से युक्त हैं। तीन नाटकों की सृष्टि मोहन राकेश ने की।

पहला नाटक 'आषाढ़ का एक दिन' 58 में आया, 'लहरों के राजहंस' 63 में प्रकाशित हुआ, तीसरा नाटक आया 'आधे-अधूरे' 1969 में। मोहन राकेश के समूचे साहित्य के बारे में यह कहा जाता है कि इनका पूरा साहित्य, जिसमें कहानी, उपन्यास और नाटक तीनों शामिल हैं, ज़िंदगी की निजी परिस्थितियों की अभिव्यक्ति करते हैं। वस्तुत: निजता और रचनात्मकता के बीच बहुत गहरा संबंध मोहन राकेश में दिखाई देता है। मोहन राकेश के यहाँ ज़िंदगी की दो समस्याएँ महत्त्वपूर्ण समस्याएं हैं, **घर और स्त्री-पुरुष संबंध**। 'आषाढ़ का एक दिन' कालिदास के काल्पनिक जीवनवृत्त पर आधारित नाटक है। इस नाटक के माध्यम से मोहन राकेश ने साहित्यकार के उन संदर्भों की तलाश की है, जो उसकी सर्जना के प्रेरक बिंदु हैं। **व्यक्ति स्वातंत्र्य** एक मुख्य प्रेरणा बिंदु हो सकता है। जब किसी रचनाकार को स्थापित मान्यताओं में, रूढ़ियों में बाँधने की कोशिश की जाती है, तो उसकी सृजनात्मकता खत्म होने लगती है।

इसलिए व्यक्ति स्वातंत्र्य वह प्रेरक बिंदु है, जिसके दबाव में या जिसके अनुसार वह साहित्य की रचना करता है। लेकिन इस प्रक्रिया को रखकर, ऐसा आरोप है कि उन्होंने कालिदास के व्यक्तित्व को विघटित कर दिया है। कालिदास के रूप में यह मोहन राकेश का आत्म-प्रेक्षपण है, ऐसी कुछ आलोचकों की मान्यता है। इसलिए इस नाटक में कालिदास एक दुर्बल, आंतरिक संघर्षों से शून्य, उत्तरदायित्व की चेतना से रिक्त और आत्मलीन व्यक्ति के रूप में दिखाई देते हैं। दरअसल कालिदास कलाकार के व्यक्ति स्वातंत्र्य और राजाश्रय के बीच भटकती हुई चेतना का नाट्य बिंब हैं। इसलिए उसके व्यक्तित्व में एक विशेष प्रकार का द्वैत और विभाजन दिखाई देता है। इस द्वैत और विभाजन ने कालिदास के चरित्र को निहायत कमज़ोर और अप्रामाणिक बना दिया है। दरअसल कथा इस तरह से बनाई गई है कि कालिदास एक गाँव में रहता है और उसी गाँव में एक स्त्री है, जिसका नाम है मल्लिका। मल्लिका से वह बहुत प्यार करता है। मल्लिका जैसे उसकी सृजनात्मकता की प्रेरणा बिंदु है, मल्लिका है और आस-पास का पूरा परिवेश है। इस बीच एक प्रस्ताव आता है, उज्जैनी से, राजकवि बनने के लिए। इसलिए जो कालिदास अभी तक अपनी सृजनात्मकता के प्रति बहुत ईमानदार दिखाई देता है, वह बाद में

राजाश्रय स्वीकार करता है। और धीरे-धीरे अपनी सृजनात्मकता को नष्ट कर लेता है। इसलिए बहुत दुर्बल व्यक्तित्व, जो अपनी प्रतिबद्धता और अवसरवादिता को साथ-साथ निभाता है। इस तरह से रचनाकार के आचरण के द्वंद्व या द्वैत का उद्घाटन ही इस नाटक की मूल विषय-वस्तु है।

एक स्थान पर कालिदास कहता है कि ''मैं अनुभव करता हूँ कि यह ग्राम-प्रांतर मेरी वास्तविक भूमि है। मैं कई सूत्रों से इस भूमि से जुड़ा हुआ हूँ।'' मल्लिका से कहता है कि ''उन सूत्रों में तुम हो, ये आकाश और मेघ हैं, यहाँ की हरितिमा है'' ...एक-दूसरे स्थान पर वह कहता है कि ''मैं राजकीय मुद्राओं से कृत होने के लिए नहीं हूँ।'' लेकिन बाद में जो चरित्र का विकास दिखाया गया है, उसमें अपने सम्मान, अधिकार, सत्ता के मोह से ग्रस्त एक नितांत परिवर्तित व्यक्तित्व दिखाई देता है। इसलिए सृजनात्मकता और सत्ता के प्रलोभन में बँटा हुआ व्यक्तित्व, यही वह वास्तविक समस्या है, जिससे 'आषाढ़ का एक दिन' का निर्माण हुआ है।

'लहरों के राजहंस' दूसरा नाटक है, जिसमें काम और अध्यात्म के बीच की समस्या को उठाया गया है। यहाँ बुद्ध के सौतेले भाई कपिलवस्तु के राजकुमार नंद की कथा है। जिसमें एक तरफ़ वह अपनी पत्नी सुंदरी के प्रति अत्यधिक आकर्षित है और दूसरी तरफ़ वह बुद्ध के व्यक्तित्व के प्रति भी उतना ही आकर्षित है। इसलिए वह बुद्ध और सुंदरी के आकर्षण में दिग्भ्रमित है। वह द्वंद्वों का समाधान पाना चाहता है कि वास्तविक सच कहाँ है। स्त्री का सौंदर्य सच है या बुद्ध का वैराग्य। मन को शांति नहीं मिलती, इसलिए नंद से पूछता है कि तुम तो बुद्ध के बहुत निकट हो, तुम बताओ कि मेरे जीवन की मुक्ति कहाँ है? सौंदर्य में है, स्त्री के सान्निध्य में है या बुद्ध के सान्निध्य में। व्यक्तिवादी रचना होने के नाते मोहन राकेश नंद के माध्यम से एक वाक्य कहलवाते हैं। नंद कहता है कि मुझसे पूछना चाहते हो, परंतु जो व्यक्ति तुम्हारे किसी भी प्रश्न का उत्तर दे सकता है, वह मैं नहीं हूँ, उत्तर तुम्हें केवल एक व्यक्ति से मिलता है और उसका नाम है नंद। हमारे जीवन में जो सवाल आते हैं, हमारी ज़िंदगी में जो प्रश्न उठते हैं, उन प्रश्नों का उत्तरदाता स्वयं वही व्यक्ति हो सकता है, इसलिए जो व्यक्ति की द्वंद्वात्मकता है , दो विरोधी शक्तियों के बीच पैंडुलम की तरह घुलने की चेतना और स्थिति है, यह द्वंद्व, और इस भटकाव का समाधान बाहर नहीं बल्कि स्वयं के निर्णय में निहित है। इसलिए नाटक अंत तक पता नहीं चलने देता कि निष्कर्ष क्या हो सकता है। लेकिन इसमें सुंदरी का एक बहुत महत्त्वपूर्ण कथन है, जब वह कहती है कि **नारी का आकर्षण पुरुष को पुरुष बनाता है और उसका अपकर्षण उसको बुद्ध बना देता है।** नारी का आकर्षण ही केंद्र में है। दो तरह के रिश्ते बनते हैं। यदि वहाँ आकर्षण है तो वह पुरुष बना रहेगा यदि वह अपकर्षण है तो वह बुद्ध बन जाएगा। **स्त्री ही पुरुष**

बनाती है और स्त्री ही बुद्ध बनाती है। दोनों के केंद्र में वही है। इस तरह से स्त्री के आकर्षण और अध्यात्म के बीच में एक कसमकस है और मोहन राकेश के सभी नाटकों में यह कसमकस दिखाई पड़ती है।

अंतिम नाटक 'आधे अधूरे' बहुत विवादास्पद नाटक है। ऐसा कहा गया है कि 'आधे अधूरे' मध्यवर्ग की नई संबंध स्थितियों की दास्तान है। यह संबंधों की धूरियों के टूट जाने की त्रासदी का नाटक है। इसलिए इस नाटक में अजीबोगरीब स्थितियों की योजना की गई है। जिस पुरुष के साथ उस लड़की की माँ प्रेम करती है, वही पुरुष उसकी लड़की से प्रेम करके उसके साथ भाग जाता है। जो सावित्री इस नाटक की नायिका है, वह पाँच अलग-अलग पुरुषों से प्रेम करती है। दरअसल मोहन राकेश एक गंभीर बात उठाना चाहते हैं। सावित्री पाती है कि जो उसका पति है उसमें कमियाँ बहुत हैं, नकारा है, कमाता नहीं है, इसके पति के जो अवगुण हैं वह अवगुण दूसरे में नहीं हैं। लेकिन वह पाती है कि पति के अतिरिक्त जो दूसरा पुरुष आता है, उसमें पति के अवगुण नहीं हैं, लेकिन वह दूसरी तरह से खाली है। यानी प्रत्येक नए पुरुष के अपने-अपने अवगुण हैं। जब कि सावित्री एक आधुनिक नारी की एक तरह एक कंप्लीट मैन चाहती है। मोहन राकेश इस नाटक में बताना चाहते हैं कि **पूर्णत्व की खोज एक भ्रामक खोज है**। अगर पाँचों पुरुषों में से वह किसी को अपनाती, तो अंततः वह महेंद्रनाथ होता। महेंद्रनाथ से मुक्ति संभव नहीं क्योंकि प्रत्येक पुरुष में एक महेंद्रनाथ होता। उसमें यह कमी नहीं होती, तो वह कमी होती, अगर दूसरी नहीं होती, तो कोई तीसरी होती।

आधुनिक स्त्री के भटकाव की नियति को जैसे यह नाटक पहली बार उठाता है। परिस्थितियों ने स्त्री को जो स्वाधीनता दी है, इस स्वाधीनता के साथ जो उत्पन्न होने वाले खतरे हैं, उसके रूबरू यह नाटक खड़ा करता है। नाटक का शीर्षक रखा गया है 'आधे अधूरे।' यह आधा अधूरापन व्यक्तित्व की नियति है। प्रत्येक व्यक्तित्व आधा अधूरा है और इसी आधे अधूरे के बीच से संबंधों के संतुलन की खोज की जानी चाहिए। पारंपरिक संबंधों के विघटन से उत्पन्न शून्य की त्रासदी का चित्रण इस नाटक का कथ्य है और मोहन राकेश इस नाटक के अंत में इस बिंदु पर आते हैं कि इस शून्य को भरने का कोई विकल्प नहीं है। सावित्री कहती है कि जब भी मैं चाहती हूँ कि महेंद्रनाथ का विकल्प मिले, लेकिन हर संबंध में मैं देखती हूँ कि महेंद्रनाथ आ जाता है और नाटक जहाँ खत्म होता है, वहाँ पर मंच की व्यवस्था है कि धुंधला है पता नहीं चलता है और आवाज़ आती है कि संभलकर महेंद्रनाथ. यानी फिर वह वापस लौट आता है। इस तरह से संबंधों में जो नई स्थितियाँ पैदा हुई हैं, उन नई स्थितियों के भटकाव और त्रासदी से अब परिवार को कोई मुक्ति नहीं

है। इस तरह से यह संबंधों के विघटन और व्यक्तित्वों के विघटन का नाटक है जिसमें हज़ारों शून्यों की स्थिर उपस्थिति की ओर इशारा किया गया है।

मोहन राकेश के बाद हिंदी नाटक की दो धाराएँ दिखाई देती हैं। एक धारा **एब्सर्ड नाटकों** की है। एब्सर्ड नाटक का ठीक-ठीक अनुवाद मुश्किल है, लेकिन दिशाहीन, अनुशासनहीन, लक्ष्यहीन, अराजक, ये एब्सर्ड के कई अर्थ किए गए हैं। **जीवन और भविष्य के प्रति गहरी अनास्था** से एब्सर्ड का जन्म होता है। सन् 60 के बाद का जो भारतीय समय है उस समय के कुछ हिस्से में मूल्य विरोधी, परम्परा विरोधी, आस्था विरोधी चेतना का एक ज्वार दिखाई देता है। इससे कविता के क्षेत्र में अकविता, कहानी के क्षेत्र में अकहानी और नाटक के क्षेत्र में एब्सर्ड नाटक का उदय होता है। वस्तुत: नेहरू युग के बाद जिस भयावह रिक्तता के सामने देश ने अपने को पाया, उसी रिक्तता की अभिव्यक्ति अकविता में, अकहानी में या एब्सर्ड नाटकों में दिखाई देती है। दरअसल यह उस पीढ़ी की अभिव्यक्ति है, जिस पीढ़ी के बचपन के सपनों में आज़ादी की बेहद मोहक तस्वीरें दिखाई गई थीं। उनके सपनों की बुनावट में ऐसे भारत की तस्वीर थी, जिसे समाजवादी प्रतिज्ञाओं और समाजवादी लक्ष्यों के अनुरूप गढ़ा जाना था। जब इस पीढ़ी ने यौवन में कदम रखा और व्यावहारिक जीवन का सामना किया, तो उसे लगा कि समूची परंपरा और समूची आस्था झूठे आश्वासनों के षड़यंत्र से आवेशित है। इसलिए एक विशेष प्रकार की नकारवादी मुद्रा उत्पन्न हुई। इतिहास फिर कोई नई चाल चल गया था, जिसमें इतिहास के सूत्रधार अपने को पराजित महसूस कर रहे थे। पंचशील के सिद्धांतों और चीनी-हिंदुस्तानी भाई-भाई के नारे के बावजूद 1962 के युद्ध में हिंदुस्तान की त्रासद पराजय ने नेहरू को भी झकझोर कर रख दिया था। 64 में उनकी मृत्यु हुई है लेकिन वह देह से मृत्यु हुई है। नेहरू 62 में अपनी आस्थाओं और अपने सपनों के बिंदु पर पराजित हो चुके थे। तो इस तरह से एब्सर्ड नाटक, अकहानी और अकविता के बीच में तारतम्यता का संबंध है। अकविता, अकहानी और एब्सर्ड नाटकों की विषय वस्तु एक है और वह है एक **भविष्यहीन हिंदुस्तान, एक असुरक्षित यौवन, एक लक्ष्यहीन ऊर्जा**। इतने लोग थे, मैन पावर था, लेकिन कहीं कोई काम नहीं था।

अराजकता जैसे एक ऐतिहासिक नियति बनकर जनता के दिलोदिमाग और रचनाकारों की रचनाशीलता पर छा रही थी। इन्हीं मानसिकताओं की एक सशक्त अभिव्यक्ति एब्सर्ड नाटकों में दिखाई देती है। पश्चिम में एब्सर्ड नाटकों की परंपरा थोड़ी पुरानी थी। प्रथम विश्वयुद्ध के बाद उत्पन्न हताशा, अकेलेपन, रिक्तता ने एब्सर्ड साहित्य को जन्म दिया था। हिंदी में एब्सर्ड नाटकों की शुरुआत 1960 से होती है। लेकिन इसके आरंभिक सूत्र **भुवनेश्वर** नामक नाटककार में 1936 में

दिखाई देने लगते हैं। उनका एकांकी संग्रह 'कारवाँ' 1936 में प्रकाशित हुआ था। 'शैतान' 1937 में और और 'रोमांस रोमांच' 1935 में प्रकाशित हुआ था। एक तरह से इन नाटकों के केंद्र में प्रेम है। प्रेम के औदात्य और उसकी महानता के सिद्धांत को भुवनेश्वर के नाटक और भुवनेश्वर की एकांकियाँ पूरी तरह से निरस्त करती हैं। वह प्रेम को एक नितांत जैविक आवश्यकता के रूप में परिभाषित करती हैं। 1938 में उनका एक संग्रह आया 'उसर' यानी जिसमें कुछ पैदा नहीं होता। इसे हिंदी में **व्यर्थता बोध** का पहला नाटक कहा गया है। इस नाटक के केंद्र में एक मध्यवर्गीय परिवार है और इस परिवार में संबंधहीनता का तनाव दिखाई देता है। एक घुटन, तनाव, बेचैनी का माहौल पूरे नाटक में है और जीवन की कोई दिशा और लक्ष्य दिखाई नहीं देता है। आदमी की स्थिति जानवरों से बदतर होने वाली है, इसकी घोषणा इस नाटक में एक पात्र करता है–'मैं कहता हूँ कि आने वाली जेनरेशन, चाहे वह बिल्लियों की हो या सर्पों की, हमसे अच्छी होगी।' 1946 में भुवनेश्वर का एकांकी संग्रह 'ताँबे के कीड़े' प्रकाशित हुआ। इसे एब्सर्ड नाटकों का प्रतिनिधि माना गया है। सही अर्थों में एब्सर्ड नाटकों की शुरुआत 'ताँबे की कीड़े' से होती है। एब्सर्ड नाटकों की खासियत **संवादों की संबंधहीनता, भाषा की अव्यवस्था** एवं दृश्यों में योजना का अभाव है। 'ताँबे की कीड़े' अपने पूरे संगठन में बेतरतीब आवाज़ों का एक कोलाज है, क्योंकि इसमें संवाद सुनाने के लिए नहीं बोले जाते। एक पात्र बोल रहा है उसी समय दूसरा पात्र बोलने लगेगा और पहला भी बोलता रहेगा। जैसे पूरी जिंदगी एक शोर में बदल गई हो। इस स्थिति को व्यंजित करने के लिए एब्सर्ड नाटकों में इस तरह की दृश्य योजना की गई है। उसमें **सुनियोजित रूप से एक अव्यवस्था की व्यवस्था** की गई है।

नाटककार पूरे होशोहवाश में नाटक की इस तरह रचना करता है कि **समूचा नाटक एक प्रकार की आराजकता, अव्यवस्था और** लक्ष्यहीनता **की तरफ़** संकेत करे। इस तरह के नाटक **मनुष्य के अकेलेपन, उसकी आध्यात्मिक रिक्तता** और **जीवन के संगमरमर पर जमे हुए खून के धब्बों की** तरफ़ इशारा करते हैं। लेकिन नितांत नकारात्मक दृष्टि के कारण ये अपना गहरा प्रभाव नहीं छोड़ पाते।

एब्सर्ड नाटकों का विकास मुकम्मल तरीके से 1960 के बाद के कई नाटकों में दिखाई पड़ता है। विपिन कुमार अग्रवाल का नाटक '**तीन अपाहिज**', शंभू नाथ सिंह का 'दीवार की वापसी', लक्ष्मीकांत वर्मा का 'अपना अपना जूता' और रमेश बक्शी का नाटक 'देवयानी का कहना है', प्रमुख एब्सर्ड नाटक हैं। 'देवयानी का कहना है' **नाटक अपनी एब्सर्डीटी में भी आधुनिक स्त्री के बोल्ड होने का एक सर्वाधिक चर्चित नाटक माना गया है। उसमें देवयानी के कई पुरुषों के साथ संबंध**

हैं। ये संबंध ऐसे नहीं जो आधे अधूरे हों। आधे अधूरे में तो एक सजग दृष्टि मोहन राकेश की है, स्त्री और पुरुष के जीवन के अर्थ केंद्र की तलाश की गई है, लेकिन इसमें वह एक सिद्धांत देती है कि स्त्री को एक ही पुरुष के प्रति समर्पित रखने वाली दृष्टि स्त्री की स्वतंत्रता और स्त्री की तृप्ति के खिलाफ़ है।

एक तरह से इस नाटक की पहचान एक ऐसी सामाजिक प्रस्तावना के रूप में है, जहाँ संबंध का अर्थ और संबंध का आधार मात्र जैविक आवश्यकताएँ हैं। इसलिए पूरी परंपरा, संस्कृति, आस्था, नैतिकता, धर्म संबंधों को परिभाषित करने वाले जितने भी प्रत्यय हैं, विश्वास हैं, उन सबको नकार दिया गया है। यह देवयानी के माध्यम से अस्वीकृति की चेतना का नाटक है। इस तरह से एब्सर्ड नाटक दो स्थितियों की तरफ संकेत करते हैं। एक तो इनका परिदृश्य, इनके रचे जाने का परिप्रेक्ष्य, वह ऐतिहासिक वातावरण है, जिसमें मोहभंग एक जलवायु की तरह भारतीय समाज और मनुष्य की चेतना पर परिव्याप्त है और दूसरी तरफ़ ये नाटक नाटककारों की वैयक्तिक कामकुंठा को भी अभिव्यक्ति देते हैं। दरअसल **यौन कुंठा और मोहभंग के समन्वित प्रभाव** से इन नाटकों की अंतर्वस्तु का निर्माण किया गया है। इसलिए एब्सर्ड नाटकों में दो ही चीज़ें प्रमुखता से दिखाई पड़ती हैं, एक व्यापक स्तर पर मोहभंग जो कुछ भी है उससे संपूर्ण इनकार और इस इनकार की अभिव्यक्ति मूलतः यौन प्रसंगों, आकांक्षाओं, कुंठाओं और यौन दृष्टि में दिखाई देती है। इसलिए यौन कुंठा और मोहभंग ये एब्सर्ड नाटकों की धुरी के रूप में पहचाने जा सकते हैं।

एब्सर्ड नाटकों का यह दौर बहुत दिनों तक नहीं चला। 70 तक जाते-जाते खत्म हो गया। इस एब्सर्ड नाटक के दौर में कुछ दूसरे तरह के नाटककार भी आए। दो नाटककार, जिनका नाम प्रमुखता से लिया जा सकता है, **लक्ष्मीनारायण लाल** और **सुरेंद्र वर्मा** हैं। ये बहुत महत्त्वपूर्ण रचनाकार हैं, मोहन राकेश के बाद। मोहन राकेश के नाटकों की अंतर्वस्तु और भाषा के विकास में इन दो नाटककारों की भूमिका ऐतिहासिक कही जा सकती है।

लक्ष्मीनारायण लाल का रचनाकार 60 से पहले शुरू हो गया था, लेकिन उनकी स्पष्ट पहचान 60 के बाद बनती है। लगभग एक दर्जन नाटकों की रचना उन्होंने की है। 'अंधा कुआँ, 'मादा कैक्टस', 'तीन आँखों वाली मछली', 'सूखा सरोवर', 'मिस्टर अभिमन्यु' और 'कर्फ्यू' इनके प्रमुख नाटक हैं। इन सभी नाटकों के शीर्षक में एक खास तरह की प्रतीकात्मकता की योजना की गई है। दरअसल लक्ष्मीनारायण लाल के सभी नाटक एक मनोवैज्ञानिक प्रतीक को केंद्र में रखकर रचे गए हैं। 'कर्फ्यू' की रचना अकहानी, अकविता और एब्सर्ड नाटकों की प्रतिक्रिया में जैसे

एक नाटक की रचना की गई है। जो 'कर्फ्यू' है यानी कि वह दौर भी है, जब महिलाएँ अपनी यौन चेतना या अपने सेक्स संबंधी विचारों को बेलगाम अभिव्यक्त करती हुई दिखाई दे रही हैं। 'कर्फ्यू' उस तरह की स्थितियों और उस तरह की लेखिकाओं पर लगाम लगाने की एक कोशिश है। यानी अभिव्यक्ति के स्तर पर जो खास तरह की मर्यादाहीनता और खुलापन है, उस मर्यादाहीनता को रेखांकित और नियंत्रित करने के प्रतीक के रूप में कर्फ्यू का इस्तेमाल किया गया है। 'मादा कैक्टस' भी एक तरह का प्रतीक शीर्षक है, क्योंकि इसमें दिखाया गया है कि स्त्री का संपर्क रचनाकार की सृजनात्मकता को किस तरह खत्म करता है या जीवित रखता है – यह मूल समस्या है, जो मादा कैक्टस में उठाई गई है।

सुरेंद्र वर्मा दूसरी तरह के नाटककार हैं। तीन-चार नाटकों के माध्यम से ही उन्होंने हिंदी नाटक के विकास में अपनी एक स्वतंत्र पहचान कायम की है। 'द्रौपदी', 'सूर्य की अंतिम किरण से सूर्य की पहली किरण तक' 79 में प्रकाशित हुआ। 'आठवाँ सर्ग' 76 में प्रकाशित हुआ।

'आठवाँ सर्ग' में कालिदास के नाटक के अंश को लिया गया है। ये तीन नाटक किसी-न-किसी बिंदु पर यौन प्रसंगों से संदर्भित नाटक हैं। 'द्रौपदी' पाँच पतियों के बावजूद पुरुष व्यक्तित्व की रिक्तता का शिकार होती है। एक तरह से स्त्री और पुरुष के संबंधों में खालीपन या भराव की अनुपस्थिति से उत्पन्न मानसिकता को द्रौपदी में चित्रित किया गया है। यानी पाँच पतियों के बावजूद संबंधों की उपलब्धता के संदर्भ में स्त्री के खाली रह जाने की त्रासदी को, उसके खाली रह जाने की विडंबना को यह नाटक उठाता है। स्त्री संबंधों के किस बिंदु पर तृप्त होती है, 'द्रौपदी' की यह रचनात्मक समस्या है। 'सूर्य की अंतिम किरण से सूर्य की पहली किरण तक' एक नपुंसक पति और पत्नी की नियति का प्रसंग है। कई कहानियों में और पौराणिक कथाओं में हम अब तक पाते आए हैं कि पति अगर किसी भी स्तर पर संतानोत्पत्ति में अक्षम है, तो व्यवस्था की गई है कि परपुरुष की व्यवस्था की जा सकती है। इस नाटक में भी मूलतः इसी विषय को उठाया गया है। जिस आदमी को बुलाया गया है, वह व्यक्ति रानी के बचपन या बीते दिनों का सबसे बड़ा गहरा प्रेमी है। और वह एक रात में संबंधों को जिस गहराई और तन्मयता के साथ जीती है, वह उसके पूरे जीवन को सार्थक कर देने के लिए पर्याप्त है। सुरेंद्र वर्मा ने इस नाटक में इस मिथक को भी तोड़ा है कि यौन सुख की सार्थकता मातृत्व में है। देह के सुख का अपना एक अलग संसार है और स्त्री को इस संसार के निर्माण या इस संसार को उपलब्ध करने का अधिकार है। दरअसल विशुद्ध देह और मन के स्तर पर यौन तृप्ति की अनुभूतियों का रेखांकन इस नाटक की मूल विषय-वस्तु है। यह बहुत सूक्ष्म है, लेकिन बहुत प्रबल स्तर पर इसकी

स्थापना की गई है। सुरेंद्र वर्मा भाषा के अद्भुत कलाकार रचनाकार हैं। भाषा की ऐसी सामर्थ्य बहुत कम लोगों में दिखाई देती है।

एक तीसरी धारा भी 70 के आसपास दिखाई देती है, जिसे **जनवादी नाटक या प्रगतिशील नाटक** के रूप में पहचाना गया है। एक तरह से एक विशेष ऐतिहासिक परिस्थिति में भारतीय समाज की दिशाहीनता, अनास्था को समाप्त करके जनता को और पाठक को एक संघर्ष के लिए तैयार करना इन नाटकों का लक्ष्य दिखाई देता है। एब्सर्ड नाटक यदि परिस्थितियों के प्रति नकारात्मक प्रतिक्रिया के रूप में लिखे गए, तो प्रगतिशील नाटकों में एक सकारात्मक प्रतिक्रिया दिखाई देती है। वे ऐतिहासिक यथार्थ से मुठभेड़ करते हैं और इतिहास को एक नई दिशा और गति देने का प्रयास करते हैं। एक गहरी वैचारिक सोद्देश्यता इन नाटकों की प्राणधारा कही जा सकती है। इस दृष्टि से सर्वेश्वर दयाल सक्सेना का नाटक **'बकरी'** 74 में लिखा गया था। यह बहुत महत्त्वपूर्ण नाटक है। बकरी इसमें गांधीवाद के आदर्श का प्रतीक है, जिसकी हत्या गांधी के अनुयायी करते हैं। यह बकरी दूसरे स्तर पर आम आदमी के यथार्थ का भी प्रतिनिधित्व करती है। आलोचकों का कहना है कि बकरी हमारी स्वाधीनता के तलछट का चित्र है, जो समय बीतने के साथ-साथ गहराती जा रही है। एक तरह से यह भी संकेत है कि किस तरह से सत्ता ने जनता को बकरी के रूप में तब्दील कर दिया है। एक हरा-भरा चरागाह है बकरी की आँखों के सामने। हवा में नाचती और डोलती हुई दूब उसकी आँखों के सामने है लेकिन उसकी पहुँच से बाहर है और उसके ऊपर उसके वध के लिए भ्रष्टाचार लक्ष्यहीनता, बेईमानी, देशद्रोह की तलवार है। इसलिए हत्या और सपनों के बीच में छटपटाती हुई बकरी दिखाई देती है। हत्या होनी है, लेकिन आश्वासनों की घास है। इस तरह बहुत सार्थक प्रतीक है, जिसका इस्तेमाल सर्वेश्वर करते हैं।

इस दौर के एक दूसरे महत्त्वपूर्ण रचनाकार हैं **भीष्म साहनी**। भीष्म साहनी प्रगतिशील नाटककार हैं और वे अपेक्षाकृत अप्रत्यक्ष ढंग से अपने समय के यथार्थ पर प्रकाश डालते हैं। 'हानुश', 'कबीरा खड़ा बाज़ार में' और 'मुआवज़े' इनके बहुत चर्चित नाटक हैं। 'मुआवज़े' का मंचन पूरे देश में हुआ है। नाटकों की मूल विषय वस्तु **सांप्रदायिकता और भारत-पाकिस्तान विभाजन** है। मुआवज़े में यह दिखाने की कोशिश की गई है कि सत्ता के षड्यंत्र और अमानवीय भूख के कारण यह विभाजन हुआ है। हिंदू और मुसलमान का भेद सत्ता पैदा करती है। सत्ता लड़ाने के स्तर पर हिंदू और मुसलमान का भेद पैदा करती है, लेकिन उसकी शोषण की प्रक्रिया एक ही है, चाहे वह पाकिस्तान में हो या हिंदुस्तान में हो। दोनों देशों की सत्ता की प्रकृति का उद्घाटन मुआवज़े में किया गया है। इस तरह से सत्ता के चरित्र

का उद्घाटन जैसे भीष्म साहनी की एक रचनात्मक प्रतिबद्धता है। 'असगर वज़ाहत' भी इधर के बहुत महत्त्वपूर्ण नाटककार हैं।

हिंदी रंगमंच

भारतीय रचनाशीलता की परंपरा में नाटक एक महत्त्वपूर्ण एवं प्राचीन विधा है। काव्यशास्त्र के आद्याचार्य भरतमुनि ने अपने ग्रंथ 'नाट्यशास्त्र' में नाटक एवं रंगमंच से जुड़े सभी संदर्भों पर गंभीरतापूर्वक विचार किया है। भास, कालिदास, एवं भवभूति जैसे महान नाटककारों का होना इस बात का ठोस सबूत है कि हमारे यहाँ नाटक एवं रंगमंच को पूर्ण प्रतिष्ठा मिलती रही है। इसके अतिरिक्त रंगमंच की अनेक लोक-शैलियों की समृद्ध परंपरा भी इस देश में रही है – जैसे स्वांग, रामलीला, रासलीला आदि। नाटक एवं रंगमंच को परस्परता में ही देखने की परंपरा रही है। इसलिए हिंदी रंगमंच पर बात करते हुए उसके नाट्यलेखन की चर्चा उपेक्षित नहीं की जा सकती।

हिंदी-रंगमंच की शुरुआत 19वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में मानी गई है। हिंदी रंगमंच के सूत्रपात एवं उसे विकसित करने का श्रेय पारसी थियेटर को दिया गया है। 1877 में खुर्शीद जी बालीवाला ने **'विक्टोरिया थियेट्रिकल कंपनी'** तथा कावस जी खटाऊ ने एल्फ्रेड कंपनी की स्थापना की। 1890 में मुहम्मद अली जगबुदा तथा सोहराब जी ने 'न्यू एल्फ्रेड कंपनी' खोली। वस्तुतः क्रमबद्ध रूप से पारसी हिंदी रंगमंच का काल 1874 से 1940 के बीच माना गया है। **पारसी थियेटर** के प्रमुख नाटककारों में नारायण प्रसाद बेताब, पंडित राधेश्याम कथावाचक, आगा हश्र कश्मीरी के नाम उल्लेखनीय हैं। इन नाटककारों ने जिन नाटकों की रचना की उनमें 'लैला मजनूँ','शीरी-फरहाद', 'रुस्तम ओ सोहराब', 'यहूदी की लड़की', 'आँख का नशा', 'वीर अभिमन्यु', 'महाभारत' आदि बहुत चर्चित रहे। इन नाटकों के कथानक पौराणिक, ऐतिहासिक, दंतकथाओं एवं आख्यानों पर आधारित होते थे। इनकी प्रवृत्ति रोमानी, शौर्यपरक, उपदेश-शिक्षा आदि से परिपूर्ण एवं पुनरुत्थानवादी होती थी। **अतिनाटकीय प्रसंगों की भरमार, दैव-संयोग एवं काव्यात्मक संवाद-योजना** पारसी रंगमंच की विशेषताएँ थीं। भावुकतापूर्ण सपाट कथानक को सजाने के लिए नाटक के बीच-बीच में **चटपटे गीतों, फड़कते हुए संवादों एवं विदूषकीय प्रसंगों की योजना** की जाती थी। पारसी रंगमंच में भारतीय रंग-परंपरा एवं पश्चिम के शेक्सपियर एवं विक्टोरिया युगीन नाटककारों का प्रभाव था। इनकी **संवाद-योजना उर्दू बहुल भाषा** में होती थी और कथ्य **भी अनुप्रास युक्त** होता था। इन नाटकों ने हिंदी-प्रदेश में अपार लोकप्रियता हासिल की, लेकिन तत्कालीन रचनाकारों एवं साहित्य-चिंतकों ने पारसी थियेटर क़ो विकृति एवं अश्लीलता का स्रोत मानते

हुए इसे स्वीकृति नहीं दी और उसके विकल्पों की खोज शुरू की। इस खोज की पहली बेचैनी भारतेंदु में दिखाई पड़ती है।

पारसी रंगमंच का लक्ष्य मनोरंजन करना था, क्योंकि वह एक व्यावसायिक रंगमंच था। **भारतेंदु** ने नाट्य-लेखन तथा मंचन की नवीन परंपरा का सूत्रपात करते हुए हिंदी-रंगमंच के क्षेत्र में एक सार्थक नाट्यांदोलन को जन्म दिया। भारतेंदु साहित्य की मूल प्रेरक शक्ति तत्कालीन देश एवं समाज है। 'नील देवी', 'भारत-दुर्दशा', 'अंधेर नगरी', 'विषयस्य विषमौषधम्' में भारतेंदु की चिंताएँ देखी जा सकती हैं। वे नाटक एवं रंगमंच की महत्ता से अवगत थे। इसलिए नाटक एवं रंगमंच में उन्होंने युग धर्म को शिक्षा का माध्यम बनाया। अपने 'नाटक' शीर्षक निबंध में भारतेंदु ने 'पारसी रंगमंच' की अश्लीलता पर प्रहार करते हुए हिंदी की अपनी रंग-परंपरा की खोज एवं विकास पर बल दिया। भारतेंदु ने अपने समय में प्रचलित सभी रंगमंचीय प्रवृत्तियों का सामंजस्य करते हुए हिंदी रंगमंच का अपना ढाँचा बनाने की कोशिश की। प्राचीन नाट्य-परंपरा को उन्होंने उतने ही अंशों में ग्रहण किया, जितने अंशों में वह नवीन भावबोध को व्यक्त करने में सक्षम थी। उन्होंने संस्कृत, बंगला एवं अंग्रेज़ी रंगमंच के साथ लोकधर्मी नाट्य-परंपराओं से भी प्रभाव ग्रहण किया। भारतेंदु-युगीन नाटककार नाटक की सफलता रंगमंच पर मानते हैं। इसलिए इस युग में नाटककार नाटक के रंगमंचीय आयामों के प्रति बहुत सजग दिखते हैं। अंक-दृश्य योजना, रंग-संकेत, यवनिका एवं नेपथ्य के संगठन में व्यवस्था लाई गई। नाट्यशास्त्र में वर्णित दृश्य-वर्जनाओं की अवहेलना भी इस युग में की गई। स्नान तथा मैथुन को छोड़कर सभी दृश्य रंगमंच पर प्रस्तुत किए जाते थे। संगीत यंत्रों का भरपूर उपयोग किया जाता था।

भारतेंदु एवं उनके सहयोगियों ने अपने नाटकों के माध्यम से पारसी रंगमंच का एक सूक्ष्म विकल्प खोजने की पहल की, लेकिन इस पहल का समुचित विकास नहीं हो सका। हिंदी नाटक के इतिहास में भारतेंदु के बाद एक ठहराव आया। इस ठहराव को तोड़ने का काम **जयशंकर प्रसाद** ने किया। प्रसाद के समय पारसी रंगमंच अपने चरमोत्कर्ष में था। रंगमंच एवं पारसी थियेटर एक-दूसरे के पर्याय हो गए थे, इसलिए संभवत: प्रसाद में नाटक की रंगमंचीयता के प्रति एक सजग उदासीनता दिखाई पड़ती है। सस्ते और फूहड़ नाटकों की प्रतिक्रिया में प्रसाद ने गंभीर, सांस्कृतिक एवं साहित्यिक नाटकों का प्रणयन किया। आलोचकों की मान्यता है कि पारसी थियेटर के प्रति इस तीखी प्रतिक्रिया के कारण प्रसाद ने रंगमंच की तुलना में नाटक को अधिक महत्त्व दिया और इस प्रकार नाटक और रंगमंच की परस्परता को अस्वीकार कर दिया। उन्होंने कहा कि रंगमंच की चिंता नाटककार का

काम नहीं है, उसकी चिंता निर्देशक करेगा। लेकिन अपने नाटकों से बहुत अलग कर लेने के बावजूद प्रसाद दृश्य-योजनाओं, काव्यात्मकता एवं आकस्मितता के बिंदु पर पारसी-थियेटर के प्रभाव से नहीं बच सके। सैद्धांतिक रूप से उनकी रंग-चेतना में पारसी रंगमंच का विरोध है, लेकिन **नाट्य-रचना के स्तर पर उन्होंने पारसी रंगमंच के साथ पश्चिमी रंगमंच के संघर्ष तत्व को भी ग्रहण किया।** प्रसाद के 'चंद्रगुप्त', 'स्कंदगुप्त', एवं 'ध्रुवस्वामिनी' नाटकों में उनकी राष्ट्रीय चेतना एवं गंभीर साहित्यिक प्रतिभा के दर्शन होते हैं। लेकिन रंगमंच के प्रति उदासीनता के कारण इन नाटकों का मंचन कठिन रहा है। 'ध्रुव स्वामिनी' निस्संदेह अपवाद है। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि प्रसाद ने पारसी रंगमंच का कोई विकल्प नहीं खोजा, इसलिए साहित्यिकता एवं सांस्कृतिक गहनता के बावजूद ढाँचा पारसी थियेटर का ही रहा। काव्यत्व, अतीत को अपने वर्तमान जीवन के साथ सर्जनात्मक स्तर पर जोड़ने की क्षमता अविस्मरणीय एवं मानवीय चरित्रों की सृष्टि प्रसाद के नाट्य-लेखन की महत्तम उपलब्धियाँ हैं।

प्रसादोत्तर नाटककारों में लक्ष्मीनारायण मिश्र, सेठ गोविंददास एवं हरिकृष्ण प्रेमी के नाम महत्त्वपूर्ण हैं। लक्ष्मीनारायण मिश्र ने प्रसाद की काव्यात्मकता के प्रति तीव्र प्रतिक्रिया व्यक्त करते हुए, इब्सन की रंगचेतना एवं यथार्थचेतना को स्वीकार किया। संवाद में काव्यात्मकता के स्थान पर बौद्धिकता को अधिक महत्त्व दिया गया। अपने रंगमंचीय विधान में ये संस्कृत की ओर मुड़े, साथ ही पाश्चात्य रंग पद्धतियों का भी प्रयोग किया। लेकिन नाटकों की अंतर्वस्तु-योजना की मूल प्रकृति वैचारिक होने के कारण इनका पाठ्य रूप ही अधिक महत्त्वपूर्ण बना रहा और हिंदी रंगमंच के विकास में कोई विशेष सहायता नहीं मिल पाई।

वस्तुतः भारतेंदु के बाद हिंदी रंगमंच की सार्थक तलाश 1940 के बाद शुरू हुई। सन् 1942 में '**इंडियन पिपुल थियेटर**' की स्थापना हुई और 1944 में पृथ्वीराज कपूर ने '**पृथ्वी थियेटर**' की शुरुआत की। इप्टा पूर्णतः अव्यावसायिक रंगमंच था, जबकि पृथ्वी थियेटर अर्द्धव्यावसायिक। इन दोनों नाट्य धाराओं ने पारसी रंगमंच का सार्थक विकल्प बनाने का प्रयास किया और हिंदी रंगमंच को एक विशेष पहचान दी। किसान और श्रमिकों को लक्ष्य करके भारतीय साम्यवादियों ने अपने नए जीवन-दर्शन का प्रसार करने के लिए इंडियन पिपुल थियेटर की स्थापना की। मूलतः इन नाटकों का लक्ष्य **साम्राज्यवादी एवं पूंजीवादी नीतियों का विरोध तथा देश में व्याप्त संप्रदायवाद एवं जाति, वर्ग-भेद का उन्मूलन** करना था। इस नाट्यधारा ने अपने लिए एक अलग किस्म के रंगमंच का निर्माण किया। ये नाटक **जनता के बीच जाकर खेले जाते थे**। कोई भी सार्वजनिक **स्थान** इनका

रंगमंच होता था, इसलिए इन्हें नुक्कड़ नाटक भी कहा गया। जनता को आकृष्ट करने के लिए इन नाटकों में **लोक मुहावरों, लोक गीतों एवं लोक नृत्यों** का प्रभावकारी इस्तेमाल किया गया। भीष्म साहनी, हबीब तनवीर, सर्वेश्वर आदि लेखकों ने जन-नाट्य परंपरा को विकसित करने के लिए महत्त्वपूर्ण नाटकों की सृष्टि की। हबीब तनवीर का 'आगरा बाज़ार' विशेष लोकप्रिय हुआ जबकि सर्वेश्वर का 'बकरी' भी काफ़ी चर्चित रहा। इस नाट्यधारा का सबसे बड़ा योगदान यह है कि इसने नाटक को जीवन की बुनियादी समस्याओं से जोड़ा और रंगमंच की एक सहज मुक्त एवं प्रभावशाली जनपरंपरा का सूत्रपात किया। नाटक को जनता के बीच तक ले जाने का ऐतिहासिक श्रेय इप्टा को निस्संदेह दिया जा सकता है।

पृथ्वी थियेटर पूर्णतः व्यावसायिक रंगमंच था। पारसी थियेटर से अलग हटकर इसने रंग कला, सामाजिक आदर्श एवं श्रेष्ठ अभिनय के द्वारा हिंदी रंगमंच की संभावनाओं का नया द्वार खोला। 'पठान', 'दीवार', 'आहूति', 'कलाकार' आदि नाटकों से पृथ्वी थियेटर ने उस शून्य को भरना चाहा और अपार लोकप्रियता हासिल की। लेकिन पृथ्वीराज कपूर के निधन और इसके महत्त्वपूर्ण कलाकारों के सिनेमा में चले जाने से इसकी शक्ति समाप्त प्राय हो गई। लेकिन इस बात में कोई संदेह नहीं कि इन दो नाट्य संस्थाओं की स्थापना से काफ़ी समय से अवरुद्ध रंगकर्म को अभिव्यक्ति का द्वार मिला।

स्वतंत्रता के बाद भारतीय मानस में एक बुनियादी परिवर्तन आया। एक नई सांस्कृतिक चेतना का विकास होने लगा, जिसका प्रभाव हिंदी रंगमंच पर पड़ा। केंद्र तथा राज्य सरकारों की ओर से नाट्य महोत्सव होने लगे। हिंदी क्षेत्र के बड़े नगरों – दिल्ली, लखनऊ, कानपुर, इलाहाबाद, बनारस, पटना, जबलपुर आदि में बीसियों नाट्य संस्थाएँ बनीं। अनेक रंग परंपराओं वाले इस देश में हिंदी रंगमंच को एक अखिल भारतीय स्वरूप देने की दृष्टि से दिल्ली में '**संगीत नाटक अकादमी**' और '**नेशनल स्कूल ऑफ ड्रामा**' की स्थापना की गई। इन दोनों संस्थाओं ने हिंदी रंगमंच को एक नई मर्यादा और स्वर देने की महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई। गत तीन दशकों में इस स्कूल ने हिंदी रंगमंच को अनेक महत्त्वपूर्ण निर्देशक एवं अभिनेता दिए हैं। 'नेशनल स्कूल ऑफ ड्रामा' के पहले निदेशक इब्राहिम अल्काजी के प्रशिक्षण में निकले हुए रंगकर्मियों ने हिंदी रंगमंच को समृद्ध करने में ऐतिहासिक भूमिका निभाई। अल्काजी के निर्देशन और परिकल्पना में स्कूल द्वारा प्रस्तुत अंधा युग, 'आषाढ़ का एक दिन', सूर्य की अंतिम किरण से सूर्य की पहली किरण तक' आदि हिंदी के नए नाटकों के द्वारा यह पहली बार अनुभूत हुआ कि हिंदी रंगमंच की अपनी शक्ति और सीमा क्या है। कन्नड़ से अनूदित 'तुगलक' और अंग्रेज़ी के कई

हिंदी अनुवादों के नाट्य प्रदर्शनों एवं उनकी कलात्मक उपलब्धियों ने हिंदी रंगमंच को ठोस आधार दिए। दिल्ली केंद्र के अतिरिक्त हिंदी रंगमंच का क्षेत्र कोलकाता से लेकर बंबई तक विकसित होना शुरू हुआ। इलाहाबाद में लक्ष्मीनारायण लाल द्वारा संस्थापित और निर्देशित नाट्य केंद्र 'स्कूल ऑफ ड्रेमेटिक आर्ट्स' ने भी हिंदी रंगमंच की नई संभावनाओं की तलाश में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई। स्वतंत्रता के बाद जिन महत्त्वपूर्ण नाट्य संस्थाओं ने हिंदी रंगमंच के विकास में योगदान दिया, उनमें अनामिका (कोलकाता), थियेटर यूनिट (बंबई), प्रयाग मंच (इलाहाबाद), नया थियेटर (हबीब तनवीर), 'दिशांतर' एवं अभियान के नाम उल्लेखनीय हैं। श्यामानंद जालान, सत्यदेव दुबे, हबीब तनवीर, ओम शिवपुरी एवं राजेंद्र नाथ–इन नाट्य संस्थाओं से जुड़े रहे और इन लोगों ने अपने अभिनय और निर्देशन के द्वारा हिंदी रंगमंच की संभावनाओं का भरपूर विकास किया।

समग्रत: यह कहा जा सकता है कि हिंदी रंगमंच ने अपने विकास की प्रक्रिया में एक अखिल भारतीय स्वरूप ग्रहण कर लिया। लेकिन अभी भी बंगला और मराठी की तरह हिंदी रंगमंच को अपना चेहरा नहीं मिल पाया है। सिनेमा के बढ़ते प्रकोप एवं तेज़ी से उमड़ते हुए दूरदर्शनी प्रभाव ने नाटक के प्रति लोगों के रुझान को काफ़ी कम किया है। नाटक के श्री राम सेंटर के मौन प्रेक्षागृह में सिमट जाने के कारण रंगमंच की समस्या का चरित्र भी बहुत सीमित हो गया है। हिंदी रंगमंच को प्राणावान बनाने के लिए उसे लोक-परंपरा से जोड़ना होगा और एक ऐसी परिष्कृत रुचि-निर्माण का वातावरण बनाना होगा कि लोग फूहड़ और अश्लील फिल्मों के कीचड़ से बाहर निकलकर नाटक तक पहुँच सकें। आज के इस उपभोक्तावादी भ्रष्ट मनोरंजन संस्कृति के दौर में हिंदी नाटक एवं रंगमंच का विकास हमारी सांस्कृतिक अस्मिता की ज़रूरत भी है और नाट्यकर्मियों को इस ज़रूरत के प्रति संवेदनशील होना चाहिए।

हिंदी आलोचना का विकास

हिंदी गद्य के विकास में आलोचना एक स्वतंत्र साहित्यिक-विधा के रूप में विकसित हुई। काव्यशास्त्र के रूप में इसकी एक सुदीर्घ परंपरा थी, पर रचना को जीवन से जोड़ने वाली प्रक्रिया के रूप मे आलोचना का विकास आधुनिक काल में ही संभव हुआ। कुछ विद्वानों का मानना है कि हिंदी आलोचना का उदय भारतेंदु के निबंध 'नाटक' 1883 ई० में हुआ, जिसमें नाटक का शास्त्रीय विवेचन और संक्षिप्त इतिहास दिया गया है।

हिंदी आलोचना के विकास को तीन भागों में बाँटकर समझा जा सकता है **शुक्ल-पूर्व युग, शुक्ल-युग तथा शुक्लोत्तर युग।**

शुक्ल-पूर्व आलोचना का काल 19वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध से 20वीं शताब्दी के आरंभिक दो दशकों तक फैला है। इस काल में **सैद्धांतिक ग्रंथों एवं निबंधों का निरूपण, पत्र-पत्रिकाओं में पुस्तक समीक्षाएँ और तुलनात्मक आलोचना** देखने को मिलती है। बालकृष्ण भट्ट की 'सच्ची समालोचना', मिश्रबंधुओं का 'हिंदी नवरत्न', आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी के संपादन में निकलने वाली 'सरस्वती' पत्रिका आदि उल्लेखनीय है।

शुक्ल-पूर्व हिंदी आलोचना में मुख्यत: दो प्रकार की दृष्टियाँ प्रचलित थीं। पहली **रीतिबद्ध आलोचना** दृष्टि से जिसके मुख्य सूत्रधार मिश्रबंधु, पद्म सिंह शर्मा आदि थे। दूसरी दृष्टि नैतिक **उपयोगितावाद** की थी, जिसने काव्य-रचना और आलोचना दोनों के लिए रीतिबद्ध दृष्टिकोण को व्यर्थ सिद्ध किया। नैतिक उपयोगितावाद की बागडोर पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी ने सँभाली।

इस प्रकार शुक्ल-पूर्व आलोचना में कृति के **गुण-दोष-निरूपण, तुलना, शैली-विवेचन** आदि के अतिरिक्त **साहित्य की उपयोगिता** की परख की ओर तो ध्यान दिया जाने लगा था, किंतु कवियों की विशेषताओं और उनकी अंत: प्रवृत्तियों की छानबीन आरंभ नहीं हुई थी।

1920 ई० के आस-पास छायावाद के रूप में नई काव्य-संवेदना और शिल्प का उन्मेष, 'सरस्वती' के संपादन से महावीर प्रसाद द्विवेदी का अवकाश, प्रेमचंद के उपन्यासों के माध्यम से जीवन और साहित्य के सर्वथा नए रिश्ते का सूत्रपात, भारतीय विश्वविद्यालयों में उच्च शिक्षा के लिए हिंदी विभागों की स्थापना आदि परिस्थितियों में 'शुक्ल युग' के रूप में हिंदी आलोचना में नया मोड़ उपस्थित हुआ। हिंदी आलोचना में **आचार्य रामचंद्र शुक्ल** ने कई बुनियादी परिवर्तन किए—

1. **रस की लोकवादी अवधारणा का सूत्रपात :** आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने रस की नयी व्याख्या करते हुए उसका अर्थ किया **अनुभूति** और अनुभूति का अर्थ किया **लोकानुभूति**। इसी आधार पर अत्यंत रसमयता के बावजूद उन्होंने सूर को दूसरे स्थान पर रखा और तुलसी को पहले।

2. **काव्य-प्रयोजन के रूप में लोकमंगल की स्थापना :** लोकमंगल की अवधारणा मूलत: मानवीय दृष्टि से प्रेरित है। शुक्ल जी ने लोकमंगल के आधार पर ही कवि और कविता की श्रेष्ठता का निर्धारण किया।

3. **साधनावस्था की प्राथमिकता :** कर्म-सौंदर्य पर बल—आचार्य शुक्ल ने **सिद्धावस्था** की तुलना में साधनावस्था को अधिक महत्त्व दिया। साधनावस्था के

अंतर्गत उन्होंने '**विरुद्धों के सामंजस्य**' में ही लोकधर्म का सौंदर्य देखा। इस प्रकार सौंदर्य की परिधि के रूप के साथ कर्म, शील और शक्ति के सौंदर्य का समाहार हुआ।

4. **रहस्यवाद, चमत्कार और वैयक्तिता पर प्रहार :** इन तीनों को जीवन विरोधी मानते हुए शुक्ल जी ने इनपर प्रहार किया।

5. **शिल्प :** आचार्य शुक्ल ने मुक्तक की तुलना में **प्रबंध काव्य को वरीयता** प्रदान की। उन्होंने कविता में **बिंबात्मकता पर बहुत बल** दिया।

इन्हीं आधारों पर शुक्ल जी ने आलोचना के केंद्र में मध्यकाल की प्रतिष्ठा की। कबीर और छायावादी कविता को उन्होंने रहस्यवादी माना। शुक्ल जी ने अपनी व्यापक और सजग आलोचना-दृष्टि के कारण आलोचना को गंभीर और सूक्ष्म-दृष्टि से संपन्न बनाया।

शुक्लोत्तर हिंदी आलोचना

शुक्लोत्तर हिंदी आलोचना की दो मुख्य समस्याएँ थीं–शुक्ल जी की साहित्यिक मान्यताएँ तथा छायावाद का पुनर्मूल्यांकन। आचार्य शुक्ल जी की छायावाद-संबंधी अवधारणा का विरोध छायावादी कवियों के अतिरिक्त कुछ सहृदय आलोचकों द्वारा भी शुरू हुआ, जिसके आरंभिक संकेत पंडित शांतिप्रिय द्विवेदी के लेखों में लक्षित होते हैं। पं० शांतिप्रिय द्विवेदी पहले आलोचक थे, जिन्होंने युग की राजनीतिक चेतना और छायावाद की काव्य-चेतना में एक संगति और संबंध देखा। आचार्य शुक्ल की साहित्यिक मान्यताओं और छायावाद के पुनर्मूल्यांकन के प्रश्नों से जूझने वालों में डॉ० देवराज का नाम भी उल्लेखनीय है। '**छायावाद का पतन**' उनकी चर्चित पुस्तक है।

शुक्लोत्तर हिंदी–आलोचना के विकास को तीन संज्ञाओं के अंतर्गत समझा जा सकता है–

1. स्वच्छंदतावादी आलोचना
2. प्रगतिवादी आलोचना
3. नई समीक्षा

स्वच्छंदतावादी आलोचना

पं० नंददुलारे वाजपेयी, पं० हजारी प्रसाद द्विवेदी और डॉ० नगेंद्र ने **शुक्लोत्तर** आलोचना की वृहतत्रयी का निर्माण किया, जिसे स्वच्छंदतावादी धारा के नाम से भी

जाना गया। वस्तुतः यह स्वच्छंदतावादी धारा आचार्य रामचंद्र शुक्ल की स्थापनाओं की असहमति के रूप में विकसित हुई।

पं० नंददुलारे वाजपेयी की आलोचकीय चेतना मूलतः छायावादी थी। वाजपेयी ने छायावाद को लेकर आचार्य शुक्ल को सैद्धांतिक स्तर पर कड़ी चुनौती दी। उन्होंने छायावाद को राष्ट्रीय स्वतंत्रता-आंदोलन और सांस्कृतिक पुनर्जागरण की साहित्यिक अभिव्यक्ति के रूप में प्रतिष्ठित किया। वाजपेयी जी का आलोचना कर्म अपनी ऊपरी रूपरेखा में आचार्य शुक्ल से मिलता-जुलता है। पं० नंददुलारे वाजपेयी की मुख्य पुस्तकें निम्नांकित हैं :

1. आधुनिक साहित्य
2. नया साहित्य : नए प्रश्न
3. हिंदी साहित्य : बीसवीं शताब्दी।

पं० हज़ारी प्रसाद द्विवेदी का आचार्य शुक्ल से मतभेद साहित्य के प्रति संपूर्ण दृष्टिकोण को लेकर था। आचार्य द्विवेदी ने परंपरा और संस्कृति के आलोक में साहित्य की प्रत्येक प्रवृत्ति को व्याख्यायित किया और आचार्य शुक्ल ने निम्नांकित बिंदुओं पर असहमति व्यक्ति की–

1. संत भक्तिकवि रहस्यवादी नहीं थे।

2. हिंदी साहित्य को संस्कृत-पाली, प्राकृत-अपभ्रंश के साहित्यिकों को परंपरा की समवेतता में देखना चाहिए।

3. जैन और सिद्ध साहित्य को सांप्रदायिक न मानकर, उसे हिंदी साहित्य की अमूल्य निधि के रूप में स्वीकार किया जाना चाहिए।

4. भक्ति-आंदोलन इस्लाम की प्रतिक्रिया नहीं बल्कि एक विशाल सांस्कृतिक नवजागरण का परिणाम था।

आचार्य हज़ारी प्रसाद द्विवेदी की निम्नांकित रचनाएँ उल्लेखनीय हैं :

1. हिंदी साहित्य की भूमिका
2. हिंदी साहित्य : उद्भव और विकास
3. आदिकाल।

डॉ० नगेंद्र अपने दृष्टिकोण में व्यक्तिवादी हैं। अतः सामाजिक ऐतिहासिक संदर्भ और युगबोध उनकी रचनाओं में अप्रासंगिक होते हैं। वे कवि की सौंदर्यानुभूति के स्वरूप विश्लेषण पर दृष्टि टिकाकर उसका विश्लेषण करते हैं। आलोचना में डॉ० नगेंद्र ने शास्त्रीय चेतना पैदा की। डॉ० नगेंद्र की मुख्य आलोचनात्मक कृतियां हैं :

1. कामायनी के अध्ययन की समस्याएँ

2. रीतिकाव्य की भूमिका
3. रस-सिद्धांत।

प्रगतिवादी आलोचना

प्राक् आलोचना शास्त्र के नियमों पर अपना ध्यान केंद्रित करती है। आधुनिक युग में पहली बार ऐसा माना जाने लगा कि साहित्य शास्त्र के साथ जीवन के प्रति भी जवाबदेह है। आचार्य रामचंद्र शुक्ल की आलोचना में शास्त्र और जीवन, दोनों एक-दूसरे में घुल-मिल गए हैं। स्वच्छंदतावादी आलोचना के केंद्र में भी शुक्ल जी ही हैं, क्योंकि यह उन्हीं से सहमत या असहमत हैं। आलोचना की एक नितांत नई दृष्टि का विकास प्रगतिवादी समीक्षा में है। यह समीक्षा दृष्टि मार्क्सवाद से प्रभाव ग्रहण कर विकसित हुई। मार्क्सवाद से प्रभावित होकर 1936 में लखनऊ में प्रगतिशील लेखक संघ की स्थापना हुई, जिसकी मान्यता थी कि साहित्य शोषित जनता के लिए लिखा जाना चाहिए तथा इसका लक्ष्य वर्तमान-व्यवस्था में संपूर्ण परिवर्तन होना चाहिए। इसके साथ ही प्रगतिवादी आलोचना की शुरुआत हुई।

मार्क्सवादी आलोचना के मानदंड

1. मार्क्सवादी आलोचना-दृष्टि यह मानती है कि रचनाकर्म एक निश्चित लक्ष्य युक्त सामाजिक-राजनीतिक कर्म है। भाववादी दृष्टि और आचार्य रामचंद्र शुक्ल रचना को अनुभूतिजन्य व्यापार मानते हैं।
2. प्रगतिवादी समीक्षा रचना की अनिर्वचनीयता का निषेध करती है। वह मानती है कि रचना-प्रक्रिया, रचना और रचनाकार, इस सबकी व्याख्या वस्तुगत परिवेश के आधार पर की जा सकती है।
3. प्रगतिवादी समीक्षा के अनुसार साहित्य आत्माभिव्यक्ति नहीं, बल्कि वास्तविकता का पुनर्सृजन है। रचना का रूप-विधान रचनाकार के परिवेश से निर्धारित होता है।
4. भाववादियों के अनुसार जो सुंदर है, वह हमेशा है और सबके लिए है। पर प्रगतिवादी दृष्टि के मत से सौंदर्य शाश्वत और सार्वभौमिक नहीं होता। सौंदर्य के प्रतिमान सामाजिक परिस्थितियों से तय होते हैं, अतः बदलते रहते हैं।
5. प्रगतिवादी समीक्षा मानती है कि कला या रचना के विकास में एक ऐतिहासिक निरंतरता होती है। समीक्षा का लक्ष्य इस ऐतिहासिक निरंतरता की कड़ी की व्याख्या करना है।

प्रमुख प्रगतिवादी आलोचक

हिंदी प्रगतिवादी आलोचकों में **शिवदान सिंह चौहान, प्रकाशचंद गुप्त, रामविलास शर्मा, नामवर सिंह, मुक्तिबोध, अमृतराय** इत्यादि हैं।

सबसे पहले शिवदान सिंह चौहान ने 1937 में 'विशाल भारत' में भारत के 'प्रगतिशील साहित्य की आवश्यकता' पर एक क्रांतिकारी लेख लिखा। इस निबंध में डॉ० सिंह ने समूची साहित्यिक परम्परा की व्याख्या प्रगतिवादी मानदण्डों पर की। सैद्धांतिक-कट्टरता डॉ० सिंह की समीक्षा पद्धति की विशेषता है।

प्रकाशचंद्र गुप्त ने विध्वंसात्मक आलोचना-शैली से परहेज करते हुए अपनी बातों एवं मान्यताओं को तर्क की पद्धति से व्यक्त किया। इनकी पुस्तकों में उल्लेखनीय हैं–

1. आधुनिक हिंदी साहित्य : एक दृष्टि
2. हिंदी साहित्य की जनवादी परंपरा

मार्क्सवादी आलोचना के सर्वाधिक विवादास्पद और अन्यतम आलोचक डॉ० रामविलास शर्मा हैं। डॉ० शर्मा को प्रगतिशील आलोचना का भीष्म पितामह भी कहा जाता है। उन्होंने मार्क्सवादी दृष्टि से समूचे हिंदी साहित्य की परंपरा की नई व्याख्या की है। आचार्य शुक्ल की विरासत को आगे बढ़ाते हुए उन्होंने हिंदी साहित्य की जनवादी-परंपरा को उजागर किया है। उनकी कुछ पुस्तकें हैं :

1. आचार्य रामचंद्र शुक्ल और हिंदी आलोचना
2. प्रेमचंद्र और उनका युग
3. निराला की साहित्य-साधना

डॉ० नामवर सिंह अपने दृष्टिकोण में मार्क्सवादी हैं, पर नई कविता की समीक्षा उन्होंने नए भावबोध से की है। उन्होंने छायावाद की समृद्ध और पुष्ट व्याख्या की तथा कथा-साहित्य की समीक्षा को गांभीर्य और ऊँचाई दी। डॉ० नामवर सिंह की कुछ कृतियाँ हैं :

1. छायावाद
2. कविता के नए प्रतिमान
3. कहानी नई कहानी।

नई समीक्षा

आलोचना में मार्क्सवाद की प्रतिक्रिया में 'नई समीक्षा' का जन्म हुआ। पश्चिम से होकर यह आलोचना-पद्धति हिंदी में आई। नई समीक्षा आलोचना को नितांत स्वतंत्र कर्म मानती है। अतः वह आलोचना में किसी विचारधारा के प्रति प्रतिबद्धता

का निषेध करती है। वह रचना को बाहरी मानदंडों के आधार पर नहीं, अपितु रचना को रचना के भीतर से विश्लेषित करने की बात कहती है। नई समीक्षा में समीक्षा के नए मुहावरों का प्रयोग हुआ है। आलोचकों ने रचना को विश्लेषित करने में **संत्रास, विडंबना, टूटन, अकेलापन, तनाव** इत्यादि शब्दों का प्रयोग किया है।

हिंदी आलोचना (विस्तार से)

शुक्लोत्तर हिंदी आलोचना की तीन धाराएं हैं, जिन्हें अलग-अलग नामों से जाना गया है। पहली धारा स्वच्छंदतावादी आलोचना धारा या स्वच्छंदतावादी आलोचना है, दूसरी मार्क्सवादी आलोचना या प्रगतिवादी आलोचना है और तीसरी है नई समीक्षा। स्वच्छंदतावादी आलोचना का सूत्रपात आचार्य रामचंद्र शुक्ल की समीक्षा दृष्टि और उनकी स्थापनाओं के विरोध में हुआ। इस आलोचना धारा के तीन अलग-अलग आलोचक हैं, जिन्हें आलोचकत्रयी के नाम से भी जाना जाता है। ये हैं – नंददुलारे वाजपेयी, पं० हजारी प्रसाद द्विवेदी और नगेंद्र। ये स्वच्छंदतावादी आलोचना के तीन स्तंभ हैं, जिनकी आलोचना की दिशाएँ अलग-अलग हैं। लेकिन तीनों एक बिंदु पर मिलते हैं और वह बिंदु है आचार्य शुक्ल की समीक्षा दृष्टि का विरोध।

नंददुलारे वाजपेयी की पहली टकराहट अपने गुरु आचार्य रामचंद्र शुक्ल से छायावाद को लेकर हुई। आचार्य शुक्ल ने छायावाद को अनुकरण और काव्य शैली का एक प्रकार माना था। उन्होंने छायावाद को रहस्यवाद का पर्याय मानते हुए उसे मध्य काल या मध्यकालीन रहस्यवाद से भी जोड़ा था। छायावाद को लेकर आचार्य शुक्ल की दो बुनियादी स्थापनाएँ थीं—एक विषयवस्तु की दृष्टि से छायावाद रहस्यवाद है और इस रहस्यवाद की प्रकृति मध्यकालीन संतों वाली है। और अभिव्यक्ति के स्तर पर छायावाद शैली वैचित्र्यवाद का पर्याय है और इन दोनों प्रवृत्तियों को वे मौलिक न मानकर अनुकरणमूलक मानते थे। इसलिए उन्होंने अपने इतिहास में स्पष्ट संकेत दिया कि यूरोप के पुराने ईसाई संतों के यहाँ एक शब्द था फैंटसमाटा, इसका अर्थ होता है, रहस्यानुभूति, उसी फैंटसमाटा का प्रचलन बंगाल में रवींद्रनाथ ठाकुर की कविता में हुआ और बंगाल से वह फिर हिंदी प्रदेश में आया। इसलिए रहस्यवाद भी मौलिक नहीं है। इस प्रकार छायावाद को एक तरह से आचार्य शुक्ल ने निरस्त किया। इन्हीं मूल स्थापनाओं का विरोध नंददुलारे वाजपेयी की आलोचना दृष्टि में दिखाई देता है।

दो-तीन बातें उन्होंने स्पष्ट कीं, एक छायावाद रहस्यवाद का पर्याय नहीं है। छायावाद की वास्तविक चिंता और छायावाद की वास्तविक प्रवृत्ति रहस्यात्मक न

होकर सांस्कृतिक है। इसलिए नंददुलारे वाजपेयी ने आचार्य शुक्ल के रहस्यवाद को अपदस्थ करके छायावाद को एक सांस्कृतिक प्रक्रिया के रूप में या सांस्कृतिक चेतना के संवाहक के रूप में स्थापित किया। यह महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक स्थापना थी। दूसरी स्थापना थी कि छायावाद का एक आध्यात्मिक पक्ष है, लेकिन यह आध्यात्मिकता मध्यकाल की आध्यात्मिकता से भिन्न है। इस आध्यात्मिकता को राष्ट्रीय चेतना के वैराग्य और जातीय अस्मिता और संस्कृति के संदर्भ में व्याख्यायित किया जा सकता है। यानी छायावाद में जो आध्यात्मिकता है, उसकी प्रकृति धार्मिक न होकर सामाजिक और सांस्कृतिक है।

इसके साथ ही उन्होंने छायावाद पर जो शैली वैचित्र्यवाद का आरोप था, उसका भी खंडन किया। उन्होंने कहा कि भारतीय काव्यशास्त्र की परंपरा का ही सहज विकास छायावाद की अभिव्यक्ति में दिखाई देता है। इस तरह से छायावाद को सांस्कृतिक-सामाजिक संदर्भों से जोड़कर नंददुलारे वाजपेयी ने उसकी उपस्थिति और उसकी प्रतिष्ठा को एक ठोस आधार प्रदान किया। आचार्य शुक्ल के क्षितिज को बड़ा करने की ऐतिहासिक भूमिका निभाई।

नंददुलारे वाजपेयी की आलोचना का क्षेत्र बहुत व्यापक है। यह क्षेत्र भक्ति काल से लेकर नई कविता तक फैला हुआ है। इनकी आलोचनात्मक कृतियों में 'महाकवि सूरदास', आधुनिक साहित्य तथा हिंदी साहित्य : बीसवीं शताब्दी महत्त्वपूर्ण है। अंतिम पुस्तक में उन्होंने मैथिलीशरण गुप्त, जयशंकर प्रसाद की कामायनी, प्रेमचंद के गोदान इत्यादि की मौलिक व्याख्याएं प्रस्तुत कीं। छायावाद के तीन कवियों–जयशंकर प्रसाद, सूर्यकांत त्रिपाठी निराला और सुमित्रानन्दन पंत पर अलग से उन्होंने स्वतंत्र पुस्तकें लिखीं। इसके अतिरिक्त 'नई कविताः नए संदर्भ' पुस्तक भी उन्होंने लिखी।

पं० हज़ारी प्रसाद द्विवेदी और आचार्य शुक्ल की टकराहट साहित्य की समूची अवधारणा के बिंदु पर थी। आचार्य शुक्ल साहित्य की व्याख्या परिस्थितियों के संदर्भ में करते हैं। प्रत्येक साहित्य या प्रत्येक साहित्यिक आंदोलन सामाजिक और ऐतिहासिक परिस्थितियों से निर्मित होता है और नष्ट भी होता है। इसलिए अपनी पूरी आलोचना दृष्टि और शैली, इतिहास लेखन में उन्होंने परिस्थितियों को निर्णायक महत्त्व दिया है। जैसे भक्ति आंदोलन की व्याख्या करते समय उन्होंने परिस्थितियों का हवाला दिया और कहा कि भक्ति आंदोलन इस्लाम के आक्रमण से संबंधित है। उन्होंने लिखा– 'अपनी पौरुष से हताश जाति के लिए भगवान की शरण में जाने के सिवाय और रास्ता ही क्या था।' इसके ठीक विपरीत पं० हज़ारी प्रसाद द्विवेदी परिस्थति के स्थान पर परंपरा को महत्त्व देते हैं। **वे साहित्य की**

प्रत्येक प्रवृत्ति को या साहित्य के प्रत्येक आंदोलन को परंपरा से जोड़कर देखते हैं और उसकी व्याख्या करते हैं।

आचार्य शुक्ल से द्विवेदी की पहली टकराहट भक्ति आंदोलन की व्याख्या को लेकर दिखाई देती है। एक तरफ़ शुक्ल जी कहते हैं कि भक्ति आंदोलन इस्लामी आक्रमण की प्रतिक्रिया है, तो दूसरी तरफ़ हिंदी साहित्य की भूमिका में हज़ारी प्रसाद द्विवेदी का कथन है, ''मैं ज़ोर देकर कहना चाहता हूँ कि अगर इस्लाम न भी आया होता, तो भी भक्ति साहित्य बारह आना वैसा ही होता जैसा आज है।''

आचार्य रामचंद्र शुक्ल की स्थापना के विरोध मे उन्होंने कई तर्क दिए। पहला यह दिया कि भक्ति की एक बहुत सुदीर्घ परंपरा भारतीय समाज में मौजूद है। छठी शताब्दी ई०पू० में लगभग बुद्ध के समय भागवत धर्म के विकास के स्पष्ट चिह्न दिखाई देते हैं। यह वह समय है, जब विष्णु नारायण और वासुदेव एक हो जाते हैं। उनसे पहले नारायण, विष्णु और वासुदेव की अलग-अलग सत्ताएँ हैं, लेकिन छठी शताब्दी ई०पू० ये तीनों एक हो जाते हैं और इस तरह भागवत धर्म का विकास होता है। इसलिए भागवत धर्म को उन्होंने भक्ति से जोड़ा है और उसके बाद उन्होंने कहा कि यह परंपरा विकसित होती रही लेकिन इसकी प्रगाढ़ता दक्षिण में निर्मित हुई आलवारों में। आलवारों का जो '**दिव्य प्रबंधम**' है वह भक्ति काव्य की अद्भुत और अनुपम रचना है। फिर उन्होंने कहा कि दक्षिण से यह परंपरा उत्तर में आई। उन्होंने तर्क दिया कि अगर इस्लाम के आक्रमण से भक्ति आंदोलन को पैदा होना था, तो भक्ति की शुरुआत होनी चाहिए उत्तर भारत से, जबकि वह आई दक्षिण भारत से। दक्षिण भारत में इस्लाम बहुत बाद में गया है। इसलिए शुक्ल जी की स्थापनाओं को पं० द्विवेदी ने निरस्त किया, भक्ति आंदोलन की व्याख्या पर।

दूसरी स्थापना जो शुक्ल जी के विरोध में है, वह धार्मिक साहित्य को लेकर है। आचार्य शुक्ल ने आदिकाल का नामकरण करते हुए उसके संपूर्ण धार्मिक साहित्य को साहित्य से बाहर निकाल दिया। सिद्ध, नाथ और जैनियों का जो साहित्य है, उसके बारे में शुक्ल जी की दृष्टि थी कि ये सांप्रदायिक रचनाएँ मात्र हैं। इनमें अपने मतों के प्रचार और सांप्रदायिक कथन दिखाई देते हैं, जीवन और जीवन की वास्तविक अनुभूतियाँ इन कृतियों में नहीं हैं। जिसमें अनुभूति और रसात्मकता नहीं है, वह साहित्य नहीं हो सकता, यह शुक्ल जी की स्पष्ट धारणा है। इसी धारणा से वे अपनी आलोचना पद्धति का निर्माण करते हैं। पं० द्विवेदी ने कविता और साहित्य की भिन्न व्याख्या की और उनका मत था कि मात्र भावना से साहित्य की भावना तय नहीं की जा सकती। **भावना साहित्य का एकमात्र आधार नहीं हो सकती।**

उन्होंने कहा कि **साहित्य की मूल वस्तु है प्रतिरोध और प्रतिपक्ष। जिस रचना से सामाजिक रूढ़ियों को, विषमताओं को और जड़ताओं को तोड़ने में मदद मिलती हो वह सार्थक साहित्य हो सकता है। इसलिए रचना की प्रकृति रसात्मक न होकर प्रतिरोधात्मक होती है।** इसलिए जिस 'सरहपा' को आचार्य शुक्ल ने कवि नहीं माना था, पं० द्विवेदी ने उन्हें हिंदी का पहला कवि कहा। उन्होंने कहा कि सरहपा पहला कवि है, जो वर्ण-व्यवस्था को चुनौती देता है, धार्मिक पाखंडों का खंडन करता है और प्रामाणिक मनुष्य होने पर बल देता है। इसलिए जिस कविता की चिंता के केंद्र में मनुष्य हो, वह रूप के स्तर पर अनगढ़ होते हुए भी, सार्थक कविता हो सकती है।

हिंदी कविता के इतिहास में कबीर के कद को स्थापित करने में पं० द्विवेदी जी की भूमिका ऐतिहासिक है। तीसरा बिंदु जहाँ असहमति दिखाई देती है, वह निर्गुण काव्यधारा को लेकर। आचार्य शुक्ल का बल सगुण साहित्य पर है। उन्होंने तुलसीदास, सूर पर लिखा। जायसी पर इसलिए लिखा क्योंकि जायसी की समूची कविता में इस संसार की सघन और मार्मिक उपस्थिति है। निर्गुण कवियों पर उन्होंने बहुत ध्यान नहीं दिया। कबीर को कवि मानने से इनकार करते हुए, लेकिन उनके महत्त्व को स्वीकार करते हुए, उन्होंने कहा कि कबीर कवि नहीं थे, लेकिन उनमें प्रतिभा बहुत विलक्षण थी, इस बात से इनकार नहीं किया जा सकता है। उन्होंने कहा कि कबीर मूलत: समाज सुधारक उपदेशक थे। इसके ठीक विपरीत निर्गुण काव्य को स्थापित करने में पं० द्विवेदी ने अनेक प्रकार के मौलिक तर्कों का निर्माण किया और एक नई स्थापना की कि कबीर अपनी प्रतिज्ञा से कवि नहीं है। कविता करना उनका लक्ष्य नहीं है, कविता कबीर के यहाँ बाई प्रोडक्ट है, जिसे स्थानीय शब्दावली में उन्होंने कहा कि घलुवे में मिली हुई चीज़। लेकिन उन्होंने कहा कि उसमें इतनी ताज़गी है, अनुभूति की इतनी तीव्रता और प्रामाणिकता है कि वह सहज ही कविता हो गई है। इसलिए कबीर की कविता को कविता के शास्त्र से नहीं समझा जा सकता और कई स्थानों पर उन्होंने भाषा को लेकर वक्तव्य दिया। कबीर भाषा के डिक्टेटर थे। भाषा उनके भावों का अनुसरण करती है, जबकि वे भाषा के प्रति लापरवाह दिखाई देते हैं।

हज़ारी प्रसाद द्विवेदी ने शोधपरक आलेचना का सूत्रपात किया। उनकी आलोचना का क्षेत्र मूलत: मध्यकाल है। उन्होंने स्वतंत्र रूप से एक किताब लिखी 'मध्यकालीन कविता'। इस तरह से हिंदी आलोचना में पं० हज़ारी प्रसाद द्विवेदी का अवदान इस रूप में है कि उन्होंने अपनी आलोचना में संपूर्ण भारतीय परंपरा के रहस्यों को या संपूर्ण भारतीय परंपरा की यात्रा को उद्घाटित किया।

तीसरे आलोचक हैं **डॉ० नगेंद्र**। डॉ० नगेंद्र की स्थापनाएँ भी आचार्य शुक्ल की छायावाद संबंधी मान्यताओं से टकराकर निर्मित हुई हैं। चूंकि डॉ० नगेंद्र पर फ्रायड के मनोविज्ञान का बहुत गहरा प्रभाव था, इसलिए एक तरह से उन्होंने रचनाओं की मनोवैज्ञानिक व्याख्या का सूत्रपात किया। छायावाद की भिन्न व्याख्या करते हुए सूत्र दिया कि छायावाद स्थूल के प्रति सूक्ष्म का विद्रोह है। इसके अतिरिक्त छायावाद में रहस्यवाद की धारणा को अस्वीकार करते हुए इस कथित रहस्यवाद की व्याख्या की और कहा कि रहस्य भावना एक प्रकार की जिज्ञासाएँ हैं। जहाँ भी रहस्यवाद है वहाँ एक जिज्ञासा है। यानी छायावादी रहस्यवाद की भावभूमि मनोवैज्ञानिक है। इसलिए छायावाद में जो दुराव दिखाई पड़ता है, छायावाद में जो एक हल्का-सा कुहासा है, अंधकार है, वह मन की वजह से है। छायावाद का मन सामाजिक वर्जनाओं से टकराकर अंतर्मुखी हो गया है। दरअसल आकांक्षा और सामाजिक स्वीकृति के बीच विपर्यय होने के कारण इन कवियों ने धूमिलता का सहारा लिया है।

रीतिकालीन कवियों की व्याख्या करते हुए भी उन्होंने मनोवैज्ञानिक निष्कर्षों का सहारा लिया। रीतिकालीन कविता में शृंगार और भक्ति की उपस्थिति साथ-साथ है। इसलिए उन्होंने कहा कि रीतिकालीन कविता में जो भक्ति है, वह कवि की मनोवैज्ञानिक ग्रंथियों से बाहर निकलने का एक रास्ता है। एक गहरा अपराधबोध है, भक्ति के द्वारा रचनाकार इसी अपराध-बोध से बाहर निकलने की कोशिश करता है। वास्तविक कारण कवि की चित्तवृत्ति है।

इसके साथ-साथ डॉ० नगेंद्र पर भारतीय काव्यशास्त्र की जो रसवादी परंपरा है उसका भी गहरा प्रभाव है। व्यावहारिक आलोचना को छोड़कर नगेंद्र बाद में शास्त्रीय आलोचना में आए और उन्होंने रस की नई व्याख्या और नए सिरे से प्रतिष्ठा की। उन्होंने काव्यशास्त्र की कई किताबें लिखी हैं, लेकिन जिस किताब के कारण वे चर्चित हुए, उसका नाम है 'रस सिद्धांत'। 'भारतीय काव्यशास्त्र की भूमिका' और 'रस सिद्धांत' उनकी दो मौलिक और महत्त्वपूर्ण आलोचनात्मक कृतियाँ हैं। कुछ कवियों पर भी उन्होंने स्वतंत्र रूप से पुस्तकें लिखीं। उनमें से पहली पुस्तक है 'सुमित्रानंदन पंत।' नगेंद्र जी ने व्यावहारिक आलोचना कवियों पर भी लिखी। डा० नगेंद्र का मौलिक योगदान खासतौर पर रीतिकाल की मनोवैज्ञानिक व्याख्या में है और इसके साथ-ही-साथ छायावाद की व्याख्या को भी एक नया मनोवैज्ञानिक संदर्भ उन्होंने प्रदान किया है। इस तरह से स्वच्छंदतावादी आलोचना के ये तीन स्तंभ आलोचक अपने-अपने तरीके से आचार्य शुक्ल की स्थापनाओं का विरोध करते हैं और साहित्य की नई व्याख्या और नए प्रतिमानों का निर्माण करते हैं।

मार्क्सवादी आलोचना

शुक्लोत्तर हिंदी आलोचना की जो सबसे ताकतवर और एक सीमा तक विवादास्पद आलोचना धारा है, उसे मार्क्सवादी आलोचना के नाम से जाना जाता है। मार्क्सवादी आलोचना के सामने, जिसे हिंदी में प्रगतिवादी आलोचना कहते हैं, आलोचना की कई धाराएँ मौजूद थीं। आचार्य रामचंद्र शुक्ल की लोकमंगलवादी परंपरा, स्वच्छंदवादी परंपरा और मोटे तौर पर विश्वविद्यालयों में जो परंपरा चल रही थी, काव्यशास्त्रीय परंपरा, जिसे मोटे तौर पर हम रसवादी परंपरा भी कह लेते हैं।

1936 में प्रगतिशील लेखक संघ की स्थापना होने के बाद साहित्य की प्रकृति और दिशा में परिवर्तन हुआ। साहित्य को सामाजिक परिवर्तन के माध्यम के रूप में स्वीकृति मिली। एक स्वतंत्र आलोचना शास्त्र के निर्माण की आवश्यकता महसूस हो गई। इसलिए मार्क्स की जो साहित्य संबंधी धारणाएँ थीं, उन धारणाओं को हिंदी साहित्य के संदर्भ में पुनर्व्यवस्थित किया गया। प्रगतिवादी आलोचना का मूल आधार है मार्क्सवादी सौंदर्य शास्त्र। 1938 में 'ऑन आर्ट एंड लिट्रेचर' नाम से उन टिप्पणियों और निबंधों का संकलन किया गया, जो मार्क्स और एंगल्स ने कला और साहित्य के बारे में की थी। इन्हीं टिप्पणियों और सूत्रों के आधार पर आलोचना की जो पद्धति विकसित की गई, उसे हिंदी में प्रगतिवादी आलोचना के नाम से जाना जाता है।

कला के स्वरूप के संबंध में मार्क्सवादी समीक्षा उसकी अनिर्वचनीयता का निषेध करती है। अनिर्वचनीय उसे कहते हैं, जिसे सामाजिक, भौतिक नियमों से व्याख्यायित नहीं किया जा सके। क्रिस्टोफर काडविल ने कहा कि कला वस्तुतः समाज रूपी सीपी से निकला हुआ मोती है। यानी कविता का स्रोत है, समाज। इसलिए कविता की पहचान सामाजिक संदर्भों से ही तय हो पाती है। मार्क्स ने यह स्थापना दी है कि भौतिक जीवन संबंधी उत्पादनों की रीति ही सामान्यतः जीवन की सामाजिक, राजनीतिक और बौद्धिक प्रक्रियाओं का निर्णय करती है। मनुष्य की चेतना उसके अस्तित्व का निर्णय नहीं करती, बल्कि उसका सामाजिक अस्तित्व-बोध ही उसकी चेतना का निर्णय करता है। इसका अर्थ है कि सामाजिक अस्तित्व से ही साहित्य का सीधा संबंध है। इसलिए साहित्य उत्पन्न होता है, एक सामाजिक संरचना के भीतर से। उसी में प्रासंगिक भी होता है और उसी में खत्म भी होता है। श्रम और सामाजिक व्यवस्था से साहित्य की प्रकृति निर्मित होती है और उसकी व्याख्या श्रम और सामाजिक संगठन के परिप्रेक्ष्य में ही हो सकती है।

प्रगतिवादी या मार्क्सवादी आलोचना कला की वर्गीय अवधारणा का सूत्रपात

करती है। 'मेनीफेस्टो ऑफ द कम्यूनिस्ट पार्टी' के आरंभ में मार्क्स कहता है कि अब तक के समाज का इतिहास वर्ग संघर्षों का इतिहास है, जब तक समानता स्थापित नहीं होती जब तक समाज में दो वर्ग बने रहेंगे, एक शोषक वर्ग और एक शोषित वर्ग। उसकी स्थापना है कि वर्गीय समाज में कला की प्रकृति भी वर्गीय होती है। इसलिए साहित्य सनातन और सार्वभौमिक नहीं होता, वह वर्गीय हितों का प्रतिबिंबन करता है। लेकिन साथ-साथ यह संकेत दिया गया है कि सर्वहारा के बढ़ते दबावों के कारण रचनाकार अपनी वर्गीय प्रकृति में परिवर्तन भी कर सकता है, क्योंकि वह देखता है कि उसका भविष्य अब सर्वहारा के हाथ सुरक्षित है।

अगली स्थापना कविता और राजनीति के संबंधों को लेकर है। 'पार्टी आर्गेनाइजेशन एंड पार्टी लिटरेचर' नामक अपने निबंध में लेनिन ने स्पष्ट कहा है कि साहित्य की प्रकृति राजनीतिक होती है। उसका कारण यह है कि **मार्क्सवाद मनुष्य की पहचान एक राजनीतिक प्राणी के रूप में करता है।** उसके अनुसार मनुष्य की नियति राजनीतिक संदर्भों से निर्धारित होती है। मार्क्स का प्रसिद्ध कथन है, जिसमें उसने कहा कि कि राज्यों का उदय ही वर्गीय समाज में शोषकों की सुरक्षा के लिए हुआ था। राज्य अपने-आप में एक राजनीतिक घटना है। दूसरी बात मार्क्सवाद में यह कही गई है कि व्यवस्था परिवर्तन वर्ग संघर्ष का परिणाम होता है। आशीर्वाद से या सद्भावना से व्यवस्था नहीं बदलती। किसी व्यक्ति के हृदय-परिवर्तन हो जाने से भी व्यवस्था नहीं बदलती। व्यवस्था अनिवार्यत: वर्ग संघर्ष से परिवर्तित होगी और प्रत्येक वर्ग संघर्ष राजनीतिक होता है। इसलिए मार्क्सवाद में **राजनीति को मनुष्य की मुक्ति का मार्ग** माना गया है। अत: मार्क्सवादी आलोचना रचना की व्याख्या में निहित राजनीतिक आशयों का उद्घाटन करती है।

इसके अतिरिक्त मार्क्सवादी आलोचना या प्रगतिवादी आलोचना में **प्रतिबद्धता और विचारधारा की भूमिका को बहुत महत्त्व** दिया गया है। मार्क्सवाद में रचना कर्म को एक प्रतिबद्ध कर्म के रूप में देखा गया है और प्रतिबद्धता का अर्थ पक्षधरता से है। मार्क्सवादी चेतना पक्षधरता के प्रश्न को अपनी वैचारिक आस्था से जोड़ती है। उनके यहाँ प्रतिबद्धता का आशय **रचना का सर्वहारा के हाथों को मज़बूत करना और उसके शस्त्र बनने से है।** इसके साथ-साथ, प्रतिबद्धता का प्रश्न साहित्य की प्रयोजनीयता से भी संबंधित है। इस संदर्भ में मार्क्सवादी स्थापना है कि **साहित्य महज आस्वाद, उपभोग या आनंद की वस्तु नहीं है। वह एक सामाजिक सांस्कृतिक कर्म है।** इसके साथ-साथ जहाँ तक विचारधारा का प्रश्न है मार्क्सवाद के अनुसार **साहित्य भाव से नहीं विचारधारा से लिखा जाता है।** वह इस बात की व्याख्या करता है कि विचारधारा का अपना स्वतंत्र इतिहास नहीं होता। वह मूलत:

सामाजिक जीवन का इतिहास होता है। इसलिए विचारधाराएँ सामाजिक सँरचना से स्वतंत्र नहीं होती। विचारधारा इसलिए ज़रूरी है क्योंकि उससे साहित्य को शक्ति और दृष्टि मिलती है।

परंपरा मार्क्सवादी इतिहास दृष्टि का एक बहुत महत्त्वपूर्ण अंग है। **इतिहास** मार्क्सवाद में बहुत महत्त्वपूर्ण है। इतिहास एक तरह से समाज व्यवस्था को संपूर्णता में जानने का माध्यम है। मार्क्सवाद के अनुसार परंपरा के विश्लेषण से ही इतिहास दृष्टि को प्रामाणिक बनाया जा सकता है। परंपरा मनुष्य को संपूर्णता में जानने का माध्यम है, क्योंकि परंपरा ऐतिहासिक विवेक और द्वंद्वात्मक दृष्टि देती है। मार्क्स ने एक स्थान पर कहा कि परंपरा इतिहास का ही एक रूप है, जिसका निर्माण अंतर्विरोधी एवं द्वंद्वात्मक परिस्थितियों से होता है। प्रसिद्ध मार्क्सवादी चिंतक और आलोचक राल्फ फॉक्स ने एक स्थान पर कहा है कि रचनाकार किसी मुर्दा संपत्ति का उत्तराधिकारी नहीं होता, वह परंपरा के आखिरी छोर का हिस्सा होता है। वह परंपरा से प्राप्त अनुभवों में अपना अनुभव जोड़कर उसे समृद्ध करता है। यही परंपरा का इतिहास है। मार्क्सवाद कहता है कि परंपरा के केंद्र में हमेशा वर्तमान होता है। वर्तमान की उपेक्षा करके कोई भी परंपरा बाँझ हो जाती है। परंपरा विकसित ही इसलिए होती है, क्योंकि वह वर्तमान से संपर्कित होती है, वर्तमान से स्पंदित होती है। जो परंपरा वर्तमान को छोड़ देगी वह नष्ट हो जाएगी, रूढ़ि हो जाएगी। इसलिए मार्क्सवादी आलोचना साहित्य की व्याख्या में परंपरा की भूमिका को अत्यधिक महत्त्व देती है। इसलिए कोई भी कृति मार्क्सवाद के अनुसार स्वायत्त नहीं होती, वह समाज और साहित्य की परंपरा का एक अंग होती है।

वह कविता को किसी तात्कालिक मनोद्वेग का परिणाम नहीं मानता। उनके अनुसार कविता एक सजग मानस व्यापार का परिणाम है। इसलिए कविता में क्षण नहीं, बल्कि एक दीर्घ समय की संघनित होती हुई अनुभूतियों की अभिव्यक्ति होती है।

मार्क्सवाद कहता है, **सौंदर्य का वस्तुगत आधार** होता है। वस्तुगत आधार होने के कारण सौंदर्य व्याख्येय है। उसकी व्याख्या की जा सकती है, वह शाश्वत नहीं होता सार्वजनिक नहीं होता। वह कहता है कि चूँकि वस्तुगत सौंदर्य होता है, और वस्तु परिवर्तनशील होती है, इसलिए सौंदर्य भी अनिवार्यत: परिवर्तनशील होता है। मार्क्सवाद सौंदर्य की किसी भी स्थिर सार्वभौमिक और शाश्वत अवधारणा का विरोध करता है। एंगिल्स की मान्यता है कि सौंदर्यबोध मानवीय श्रम, उपयोगिता, इंद्रिय-बोध तथा जटिल भाव विचारों का संश्लिष्ट रूप है। वह कोई दैवीय वस्तु न होकर मानवीय जीवन में विकसित होने वाली धारणा है।

वस्तु और रूप में मार्क्सवाद **वस्तु को प्राथमिक** मानता है। रूप की अपनी

कोई स्वतंत्र सत्ता नहीं होती। इसलिए रचनाकार की वास्तविक चिंता रूप की चिंता न होकर वस्तु की चिंता होती है। यह मार्क्सवाद की कुछ महत्त्वपूर्ण स्थापनाएँ हैं। इनमें से अधिकांश का विरोध जिस आलोचनात्मक पद्धति में हुआ, उसे नई समीक्षा के रूप में जाना जाता है।

रसवादी समीक्षा

रस नाटक या कविता को पढ़ने से उपलब्ध आनंद की अनुभूति का पर्याय है। इसी रस को केंद्र में रखकर जो आलोचना और चिंतन की प्रक्रिया निर्मित हुई, उसे रसवाद के नाम से जाना गया है। इसलिए 14वीं शताब्दी में जब कविता की परिभाषा हो रही थी तो महत्त्वपूर्ण रसवादी आचार्य विश्वनाथ ने कहा था कि 'रसात्मकं वाक्यं काव्यं', रसात्मक वाक्य ही काव्य है। तो रस एक संप्रदाय है और उस रस संप्रदाय की एक आधुनिक शाखा भी मौजूद है या उस धारा के कुछ लोग मौजूद हैं। उन्होंने कुछ स्थापनाएँ दीं, उन्हीं स्थापनाओं से रसवादी आलोचना निर्मित हुई। यह स्थापना मार्क्सवादी स्थापनाओं के ठीक विपरीत है।

रसवादी आलोचना में **कविता एक आस्वाद** है और **इस आस्वाद की प्रकृति आनंदात्मक है।** रस कभी दुखात्मक नहीं हो सकता। रस आस्वाद्य है और उसकी प्रकृति आनंदात्मक है। मार्क्सवादी ठीक इसकी उल्टी व्याख्या करता है। कविता या साहित्य आस्वाद्य नहीं होता। बल्कि वह मनुष्य की सामाजिक-राजनीतिक संरचना को समझने का एक माध्यम है। इसलिए एक तो कविता या साहित्य आस्वाद्य नहीं है, और अगर मान भी लें कि कहीं-न-कहीं साहित्य हमारे संवेदन को स्पर्श करता है तो वह हमेशा आनंदात्मक नहीं हो सकता। मार्क्सवाद कहता है कि साहित्य हमें तनाव से जोड़ता है, क्योंकि साहित्य हमें सामाजिक विसंगतियों और विडंबनाओं की तरफ़ ले जाता है।

दूसरा बिंदु है कि रसवाद में **कविता के विश्लेषण के औजार शास्त्र द्वारा निर्मित होते हैं।** शास्त्र उन औजारों का निर्माण करता है, जिनसे कविता को समझने में मदद मिलती है। इसलिए **अलंकार, छंद, ध्वनि**, आदि काव्यशास्त्र के शब्द हैं। इसके विपरीत मार्क्सवाद मानता है कि कविता का विश्लेषण पूर्व निर्धारित औजारों से नहीं होता, बल्कि कविता के विश्लेषण की समूची प्रक्रिया राजनीतिक-सामाजिक बनावट से नियंत्रित होती है।

तीसरी स्थापना रसवाद की है कि **रचना एक इतिहास निरपेक्ष और समाज निरपेक्ष सत्ता है।** इतिहास और समाज निरपेक्ष सत्ता के रूप में रसवाद रचना को देखता है, क्योंकि रसवाद के अनुसार अनुभूतियाँ शाश्वत हैं, प्रेम भी शाश्वत है,

घृणा भी शाश्वत है। इतिहास जब अनुभूतियों का निर्माण ही नहीं करता, तो इतिहास से कविता को समझना व्यर्थ है। इसके विपरीत मार्क्सवाद इतिहास और समाज की सापेक्षता में ही रचना की व्याख्या पर बल देता है, इसलिए मार्क्सवाद के अनुसार भाव स्थायी होते हैं, भावों के स्थायित्व से इनकार नहीं किया जा सकता है, लेकिन भावों की अभिव्यक्ति की प्रणालियाँ बदलती रहती हैं। जिस तरह से शकुंतला कालिदास से प्रेम करती है, अब आज उस तरह से प्रेम नहीं हो सकता।

रसवाद में **कविता के रूप और संरचना पर अत्यधिक बल** दिया जाता है। रचना के रूप और संरचना ही काव्य व्याख्या की वास्तविक चुनौतियाँ हैं। जबकि मार्क्सवाद में रूप और संरचना का प्रश्न गौण है। विचारधारा, प्रतिबद्धता, राजनीति और कविता का लक्ष्य—ये सवाल अत्यधिक महत्त्वपूर्ण हैं। दूसरी शब्दावली में हम कह सकते हैं कि संरचना के स्थान पर मार्क्सवाद रचना के कथ्य पक्ष पर अत्यधिक बल देता है।

नई समीक्षा

पश्चिम में नई समीक्षा की एक समृद्ध परंपरा है। यह आंदोलन 1930 से 1960 के बीच में सक्रिय है। पश्चिमी नई समीक्षा की एक महत्त्वपूर्ण प्रवृत्ति है स्वच्छंदतावाद का विरोध। स्वच्छंदतावाद साहित्य के केंद्र में भाव को स्थापित करता है। यह बुद्धिवाद, यंत्रवाद, पदार्थवाद, भौतिकवाद के खिलाफ एक गंभीर भावात्मक प्रतिक्रिया है। भाव की प्रधानता का विरोध नई समीक्षा करती है।

नई समीक्षा के अनुसार **भाववाद यथार्थ से पलायन का एक मार्ग** है। नई समीक्षा ने भाव के स्थान पर **वस्तुवादी और विश्लेषणवादी दृष्टि को प्रमुखता** दी। यानी नई समीक्षा के केंद्र में **बौद्धिकता है**। दूसरा, जो नई समीक्षा का संदर्भ है कि नई समीक्षा तकनीक और वैज्ञानिक शोधों से उत्पन्न परिस्थितियों का सामना करती है। इसलिए नयी समीक्षा के दो आरंभिक और बहुत महत्त्वपूर्ण आलोचक टी.एस. इलियट और दूसरे मैथ्यू आर्नाल्ड की स्थापना यह है कि विज्ञान और तकनीकी ने धर्म को अपदस्थ कर दिया है। धर्म एक ऐसा नियंत्रण बिंदु था, परंपरागत समाज में, जो समाज और वैयक्तिक नैतिकता का नियंत्रण करता था। इसलिए एक विराट नैतिक शून्यता में जीने के लिए समाज अभिशप्त है, क्योंकि धर्म खत्म हो गया है और विज्ञान धर्म का स्थान नहीं ले सका है। इसलिए मैथ्यू आर्नाल्ड ने कहा कि धर्म की आवश्यकता है और धर्म की भूमिका आधुनिक युग में साहित्य ही निभा सकता है। इसलिए विज्ञान और प्रौद्योगिकी के बीच और उनके बावजूद नयी समीक्षा साहित्य की नई भूमिका के निर्माण पर बल देती है। इसलिए नई

समीक्षा में **संस्कृति, मूल्य और सामाजिक व्यवस्था का प्रश्न बहुत महत्त्वपूर्ण** हो जाता है।

तीसरे नई समीक्षा में मार्क्सवादी स्थापनाओं का घोर प्रतिकार है। कुछ लोगों ने कहा है कि वस्तुत: नई समीक्षा मार्क्सवाद की स्थापनाओं के विरोध में ही विकसित हुई है। नई समीक्षा की पहली स्थापना है कि **कृति को ऐतिहासिक और सामाजिक वातावरण के संदर्भ में व्याख्यायित नहीं किया जाना चाहिए।** नई समीक्षा **रचना को एक स्वायत्त कर्म** के रूप में देखती है। नई समीक्षा का तर्क है कि अगर कोई भी कृति अपने सामाजिक और ऐतिहासिक ढाँचे का प्रतिफलन है तो कृति और कृतिकार की विशिष्टता का कोई अर्थ नहीं है। जबकि भक्ति आंदोलन में स्थितियाँ एक हैं, लेकिन उसी में मीरा हैं, उसी में रसखान हैं, उसी में तुलसी हैं, उसी में सूरदास हैं जिनकी प्राथमिकताएँ अलग-अलग हैं, संस्कार अलग-अलग हैं। प्रेमचंद्र लिख रहे हैं और प्रेमचंद के साथ-साथ जैनेंद्र लिख रहे हैं। एक ही युग में मैथिलीशरण गुप्त लिख रहे हैं और निराला व प्रसाद लिख रहे हैं और इतनी भिन्नताएँ हैं। जबकि इतिहास और समाज का ढाँचा एक है। इसलिए आलोचना के केंद्र में कृति को होना चाहिए। परिणामस्वरूप नयी समीक्षा में **पाठ विश्लेषण की प्रक्रिया बहुत महत्त्वपूर्ण** हो उठी और नई समीक्षा ने कविता के विस्तृत विश्लेषण और घनिष्ठ पाठ की परंपरा कायम की। बहुत-सी कविताओं के पाठ पर आधारित सूक्ष्म व्याख्याएँ प्रस्तुत की गईं और व्यावहारिक आलोचना के अनेक महत्त्वपूर्ण ग्रंथ सामने आए।

दूसरी स्थापना, जो नई समीक्षा की है कि नयी समीक्षा **कृति की संरचना पर अत्यधिक बल** देती है। कृति की संरचना को अंतिम समझने का एक आंदोलन नयी समीक्षा से अलग भी था यूरोप में जिसे फॉर्मलिस्ट मूवमेंट के रूप में जाना जाता है। रूपवादी समीक्षात्मक आंदोलन, जिसकी मूल स्थापना यह है कि साहित्य मात्र रूप है। विचार महत्त्वपूर्ण नहीं है। साहित्य इसलिए है चूँकि उसका एक फॉर्म है। इसी रूप के कारण उपन्यास अलग है, नाटक अलग है, कविता अलग है। जबकि विचार एक हो सकता है। इसलिए साहित्य केंद्रीय रूप से और अंतिम रूप से एक ढाँचा है। आलोचना का काम इस ढांचे का विश्लेषण करना है। विचार और अनुभवों का प्रकाशन आलोचना का लक्ष्य नहीं है। ये रूपवादी समीक्षा की स्थापना है।

मार्क्सवादी आलोचकों का आरोप है कि नई समीक्षा पर **रूपवादी समीक्षा का बहुत गहरा प्रभाव** है, क्योंकि नई समीक्षा भी रूपवाद की स्थापनाओं को स्वीकार करती है। लेकिन नई समीक्षा और रूपवाद में थोड़ा-सा फ़र्क है। **नई समीक्षा में संरचना को महत्त्व देते हुए रचना और जीवन के संबंधों को स्वीकार किया**

गया है। इसलिए आर्नाल्ड ने कहा कि कविता या साहित्य जीवन की आलोचना है। अतः नयी समीक्षा में कविता महत्त्वपूर्ण होते हुए भी उस संरचना को सामाजिक-सांस्कृतिक संदर्भों से जोड़ा गया है। किंतु उसका आधार अर्थतंत्र नहीं है। नई समीक्षा का जो सामाजिक-सांस्कृतिक संदर्भ है, वह जातीय विशेषताओं, परंपराओं और वैयक्तिक चेतना से निर्मित हुआ है।

तीसरी स्थापना जो नई समीक्षा की है कि नई समीक्षा में **रचना की भाषा के विश्लेषण पर अत्यधिक बल** दिया गया है। भाषा को नई समीक्षा रचना और अनुभव की बुनियादी इकाई मानती है। इसलिए **भाषा साहित्य में मात्र माध्यम नहीं है, बल्कि वह अनुभव का निर्धारक तत्व है।** अज्ञेय ने एक स्थान पर लिखा कि हमारे सोचने की सीमा भी हमारी भाषा की पहचान या हमारी भाषा की क्षमता पर निर्भर करती है। इसलिए नई समीक्षा भाषा के माध्यम से विचार और अनुभव की व्याख्या करती है। जबकि मार्क्सवादी समीक्षा में भाषा एक सामाजिक संपत्ति है जिसे रचनाकार उत्तराधिकार के रूप में प्राप्त करता है। नई समीक्षा कहती है कि प्रत्येक रचनाकार भाषा का स्वतंत्र रूप से निर्माण करता है। इस तरह से ये नयी समीक्षा की मार्क्सवाद से टकराहट के रूप में तीन महत्त्वपूर्ण स्थापनाएँ हैं। इन्हीं स्थापनाओं का विस्तार हिंदी की नई समीक्षा में दिखाई देता है। **अज्ञेय, धर्मवीर भारती, लक्ष्मीकांत वर्मा, विजयदेव नारायण शाही, रामस्वरूप चतुर्वेदी, रघुवंश** इत्यादि नयी समीक्षा के महत्त्वपूर्ण आलोचक हैं।

अनुभूति की निजता का मार्क्सवादी समीक्षा सिद्धांत में कोई स्थान नहीं होता। लेकिन हिंदी की नई समीक्षा इस बात पर बल देती है कि प्रत्येक रचनात्मक अनुभूति निजी होती है और रचना इस निजी अनुभूति को सार्वजनिक कर देती है। यानी अनुभूति की निजता और सामाजिकता के बीच रचना एक सेतु का काम करती है। इस तरह एक तरफ़ वह रचनाकार की अनुभूति का विस्तार करती है और दूसरे स्तर पर वह सामाजिक सत्य का वाहक बनती है।

प्रगतिवादी समीक्षा के अनुसार किसी भी रचना की सार्थकता इस बिंदु से तय होती है कि वह सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रिया में कितना सहायक है। यानी प्रगतिवादी समीक्षा साहित्य को सामाजिक परिवर्तन का माध्यम मानती है। इसलिए जो साहित्य जड़ता के विरोध में है, शोषण के विरोध में है और मज़दूरों और किसानों की क्रांति के पक्ष में है, वही सार्थक साहित्य हो सकता है। इसके विपरीत नयी समीक्षा यह मानती है कि साहित्य किसी भी युग में सामाजिक परिवर्तन का माध्यम नहीं हो सकता। यह बहुत गंभीर मुद्दा है, जिस पर अज्ञेय ने विस्तार से लिखा है। अज्ञेय ने सवाल उठाया है कि पहला पक्ष तो यही है कि क्या एक रचना को पढ़कर

सभी लोगों को एक तरह का अनुभव हो सकता है। यदि कोई एक रचना सभी लोगों के मन में एक तरह का भाव नहीं जगा पाती, तो वह औसत सामाजिक परिवर्तन का माध्यम कैसे बन सकती है। अज्ञेय ने लिखा है कि जब हम किसी रचना का आस्वाद लेते हैं, तो उस आस्वाद में पाठक की परिस्थितियाँ, उसके संस्कार, उसकी स्मृतियाँ, उसके परिवेश ये बहुत महत्त्वपूर्ण होते हैं। अगर साहित्य सामाजिक परिवर्तन का माध्यम नहीं है, तो उसकी रचना का अभिप्राय क्या है, उसकी रचना की अर्थवत्ता क्या है? अज्ञेय ने इस सवाल का उत्तर दिया है कि साहित्य वैयक्तिक संवेदना का संस्कार करता है।

तीसरी स्थापना रचना प्रक्रिया के संदर्भ में है। मार्क्सवादी दृष्टिकोण के अनुसार **रचना प्रक्रिया एक ज्ञानात्मक प्रक्रिया है।** ज्ञानात्मक प्रक्रिया का अर्थ है कि रचना प्रक्रिया होशोहवाश में संपादित होती है, रचना प्रक्रिया का बौद्धिक स्तर पर विश्लेषित किया जा सकता है। यह कोई अज्ञेय और अज्ञात प्रक्रिया नहीं है। इसलिए मुक्तिबोध ने 'कला के तीन क्षण' नामक अपने निबंध में कविता की रचना-प्रक्रिया को व्याख्यायित करते हुए कहा है कि रचना-प्रक्रिया के तीन क्षण होते हैं पहला क्षण यथार्थ की तीव्र अनुभूति, दूसरा क्षण उस यथार्थ से तटस्थता और तीसरा क्षण उस यथार्थ के और अनुभव के शब्दबद्ध होने की प्रक्रिया। तीन स्तरों पर यहाँ रचना प्रक्रिया संपादित होती है।

नई समीक्षा रचना-प्रक्रिया को विशुद्ध बौद्धिक नहीं मानती। यद्यपि वह स्वच्छंदतावादियों की उस धारणा का समर्थन भी नहीं करती कि रचना-प्रक्रिया की प्रकृति विस्फोटात्मक होती है। लेकिन समर्थन न करते हुए भी नई समीक्षा मानती है कि रचना-प्रक्रिया बौद्धिक और योजनाबद्ध नहीं होती। इस प्रक्रिया की प्रकृति अव्याख्येय है। दरअसल रचनात्मक अनुभूति जिस बिंदु पर घटित होती है, उसका विश्लेषण संभव नहीं है। अज्ञेय ने 'सर्जना के क्षण' नामक अपनी कविता में इस बात को इस तरह व्याख्यायित किया है कि जिस तरह से स्वाति की बूँद सीपी को फोड़ कर उसके भीतर प्रवेश करती है, क्षण विशेष में, बूँद सीपी में जाते ही मोती के रूप में परिवर्तित नहीं होता। पानी की उस बूँद को मोती बनने में वर्षों लगते हैं। लेकिन जिस क्षण विशेष में वह प्रवेश करती है, वही क्षण विशेष रचनात्मक अनुभूति का क्षण होता है। बाद में हम उसे बनाते हैं, तैयार करते हैं, काटते-छाँटते हैं। रूप देने की प्रक्रिया बाद में घटित होती रहती है। लेकिन रचनात्मक अनुभूति क्षण-विशेष में घटित होती है। इसलिए नई समीक्षा पर आरोप है कि नयी समीक्षा एक विशेष प्रकार के रहस्यवाद का समर्थन करती है। वह रचना-प्रक्रिया की वैज्ञानिक अवधारणा-को धुंधलाने की कोशिश करती है।

सभी लोगों को एक तरह का अनुभव हो सकता है। यदि कोई एक रचना सभी लोगों के मन में एक तरह का भाव नहीं जगा पाती, तो वह औसत सामाजिक परिवर्तन का माध्यम कैसे बन सकती है। अज्ञेय ने लिखा है कि जब हम किसी रचना का आस्वाद लेते हैं, तो उस आस्वाद में पाठक की परिस्थितियाँ, उसके संस्कार, उसकी स्मृतियाँ, उसके परिवेश ये बहुत महत्त्वपूर्ण होते हैं। अगर साहित्य सामाजिक परिवर्तन का माध्यम नहीं है, तो उसकी रचना का अभिप्राय क्या है, उसकी रचना की अर्थवत्ता क्या है ? अज्ञेय ने इस सवाल का उत्तर दिया है कि साहित्य वैयक्तिक संवेदना का संस्कार करता है।

तीसरी स्थापना रचना प्रक्रिया के संदर्भ में है। मार्क्सवादी दृष्टिकोण के अनुसार **रचना प्रक्रिया एक ज्ञानात्मक प्रक्रिया है।** ज्ञानात्मक प्रक्रिया का अर्थ है कि रचना प्रक्रिया होशोहवाश में संपादित होती है, रचना प्रक्रिया का बौद्धिक स्तर पर विश्लेषित किया जा सकता है। यह कोई अज्ञेय और अज्ञात प्रक्रिया नहीं है। इसलिए मुक्तिबोध ने 'कला के तीन क्षण' नामक अपने निबंध में कविता की रचना-प्रक्रिया को व्याख्यायित करते हुए कहा है कि रचना-प्रक्रिया के तीन क्षण होते हैं पहला क्षण यथार्थ की तीव्र अनुभूति, दूसरा क्षण उस यथार्थ से तटस्थता और तीसरा क्षण उस यथार्थ के और अनुभव के शब्दबद्ध होने की प्रक्रिया। तीन स्तरों पर यहाँ रचना प्रक्रिया संपादित होती है।

नई समीक्षा रचना-प्रक्रिया को विशुद्ध बौद्धिक नहीं मानती। यद्यपि वह स्वच्छंदतावादियों की उस धारणा का समर्थन भी नहीं करती कि रचना-प्रक्रिया की प्रकृति विस्फोटात्मक होती है। लेकिन समर्थन न करते हुए भी नई समीक्षा मानती है कि रचना-प्रक्रिया बौद्धिक और योजनाबद्ध नहीं होती। इस प्रक्रिया की प्रकृति अव्याख्येय है। दरअसल रचनात्मक अनुभूति जिस बिंदु पर घटित होती है, उसका विश्लेषण संभव नहीं है। अज्ञेय ने 'सर्जना के क्षण' नामक अपनी कविता में इस बात को इस तरह व्याख्यायित किया है कि जिस तरह से स्वाति की बूँद सीपी को फोड़ कर उसके भीतर प्रवेश करती है, क्षण विशेष में, बूँद सीपी में जाते ही मोती के रूप में परिवर्तित नहीं होती। सीपी की उस बूँद को मोती बनने में वर्षों लगते हैं। लेकिन जिस क्षण विशेष में वह प्रवेश करती है, वही क्षण विशेष रचनात्मक अनुभूति का क्षण होता है। बाद में हम उसे बनाते हैं, तैयार करते हैं, काटते-छाँटते हैं। रूप देने की प्रक्रिया बाद में घटित होती रहती है। लेकिन रचनात्मक अनुभूति क्षण-विशेष में घटित होती है। इसलिए नई समीक्षा पर आरोप है कि नयी समीक्षा एक विशेष प्रकार के रहस्यवाद का समर्थन करती है। वह रचना-प्रक्रिया की वैज्ञानिक अवधारणा-को धुंधलाने की कोशिश करती है।

चौथा और अंतिम बिंदु है **रूप और वस्तु का संबंध**। मार्क्सवादी समीक्षा यह कहती है कि रचनाकार की वास्तविक समस्या वस्तु संयोजन की समस्या है। यथार्थ को जानने की समस्या है। नई समीक्षा ठीक इसके विपरीत यह स्थापित करती है कि रचनाकार की **वास्तविक समस्या रूप निर्माण की समस्या है,** क्योंकि अनुभूति सभी के पास है, लेकिन सभी रचनाकार नहीं होते। एक ही अनुभव और एक ही अनुभूति, लेकिन नितांत अलग-अलग रूप की रचनाएँ होती हैं। इसलिए रचनाकार की रचना समस्या का संबंध रूप के अन्वेषण से जुड़ा हुआ। जब भी कोई कृतिकार रचना की रचना-प्रक्रिया में उतरता है, तो वह रूप का संधान करता है, उपयुक्त शब्दों की तलाश करता है, बिंबों, प्रतीकों की तलाश करता है, उस तरह की भाषा की तलाश करता है, जिससे उसका अनुभव दूसरों तक पहुँच सके। इसलिए अज्ञेय ने रचना के बारे में कहा कि रचना मूलतः एक व्यक्ति के अनुभव को दूसरे व्यक्ति के अनुभव में संक्रमित करने का माध्यम है। यह अनुभव रूप के माध्यम से संक्रमित होता है। अतः नई समीक्षा पर रूपवादी होने का आरोप है।

इस समय समीक्षा की जो वर्तमान दशा है, उसमें बहुत विचित्र स्थिति है। इस समय समीक्षा जैसी कोई विधा है भी या नहीं, यह कहना बहुत मुश्किल है। कोई नई समीक्षा धारा नहीं दिखाई पड़ रही है। दो तरह की समीक्षा धाराएँ अलग-अलग अस्तित्व में हैं। एक तरफ़ मार्क्सवादी समीक्षा है। दूसरी तरफ़ एक और अतिवाद है – विश्वविद्यालयों में शास्त्रीय आलोचना की पुनर्वापसी प्रबल है। इसलिए रीतिकाल को पुनर्जीवित करने और पुनर्प्रतिष्ठित करने का एक आंदोलन भी दिखाई दे रहा है। इसलिए चरम शास्त्रीयता और शाब्दिक क्रांतिकारिता के बीच समकालीन समीक्षा का परिदृश्य धुंधला गया है। इस तरह से समीक्षा की धारा अवरुद्ध हो गई है। कोई सर्वमान्य और संतुलित विकास प्रक्रिया नहीं दिखाई पड़ ही है, जिसे हम सही मायनों में समीक्षा का विकास कह सकें। समकालीन समीक्षा सांगठनिक पूर्वाग्रहों से ग्रस्त है। केंद्र में दलित और स्त्री हैं, **दलित और स्त्री-विमर्श समकालीन समीक्षा की केंद्रीय चिंता कहे जा सकते हैं।**

मनोवैज्ञानिक समीक्षा

हिंदी में कोई व्यवस्थित मनोवैज्ञानिक समीक्षा नहीं है। मनोवैज्ञानिक समीक्षा के कुछ सूत्रों का इस्तेमाल ज़रूर किया गया है। मसलन **डॉ० नगेंद्र** ने कुछ मनोवैज्ञानिक सूत्रों का इस्तेमाल किया है। मनोवैज्ञानिक समीक्षा का मूल आधार है कि **कृति का संबंध रचनाकार की मानसिक बनावट से है।** दो चीज़ें मनोवैज्ञानिक समीक्षा में महत्त्वपूर्ण मानी गई हैं। एक कृति का सत्य कृतिकार के

अवचेतन का सत्य होता है, इसलिए रचना को सामाजिक संदर्भों में विश्लेषित नहीं किया जा सकता। मार्क्सवादी समीक्षा में रचना की व्याख्या के लिए समाज इतिहास और अर्थ संबंधों का ज्ञान अनिवार्य है। समाज इतिहास और अर्थ संबंधी यानी मार्क्सवादी समीक्षा परिवेश के बाहरी धरातल को आधार बनाती है। लेकिन मनोवैज्ञानिक समीक्षा में कृति से अधिक महत्त्वपूर्ण है कृतिकार, क्योंकि वह कृति के सत्य का सबसे प्रामाणिक स्रोत है और कृतिकार के विचार में है कृतिकार का मन।

फ्रॉयड ने मन के तीन हिस्से किए थे—चेतन, उपचेतन और अवचेतन। उन्होंने कहा था कि सत्य अवचेतन में होता है। इसलिए रचना का विश्लेषण अवचेतन सत्य का विश्लेषण है, इसलिए मनोवैज्ञानिक समीक्षा कृतिकार का विश्लेषण करती है।

उसकी दूसरी स्थापना यह है कि कोई भी कृति रचनाकार की अतृप्त आकांक्षा की पूर्ति का माध्यम होती है। इसलिए अतृप्ति ही रचना की मूल प्रेरणा है। इसका अज्ञेय पर भी थोड़ा प्रभाव है। अज्ञेय ने 'त्रिशंकु' में लिखा है—उसमें कहा है कि जो पूर्ण है और संतुष्ट है, न तो वह रचनाकार हो सकता है और न पाठक हो सकता है। किसी-न-किसी प्रकार की अतृप्ति, अक्षमता, खालीपन रचना के लिए अनिवार्य है। इसलिए मनोवैज्ञानिक समीक्षा अतृप्ति और कुंठा के उन स्रोतों की खोज करती है, जो रचनाकार के जीवन में है। मनोवैज्ञानिक समीक्षा के प्रभावों को डॉ० नगेंद्र ने 'छायावाद और रीतिकाल' की व्याख्या में लिया है।

व्यावहारिक समीक्षा

व्यावहारिक समीक्षा एक तरह से स्वच्छंद समीक्षा कही जा सकती है। वह कृति की प्रकृति के अनुसार अपना रुख बदलती है। अर्थात् व्यावहारिक समीक्षा का अर्थ है कि वह कबीर की व्याख्या कबीर की कृतियों के आधार पर करेगी, तुलसी की व्याख्या तुलसी की कृतियों के आधार पर करेगी। इसलिए व्यावहारिक समीक्षा की प्रकृति उदारतामूलक होती है। व्यावहारिक समीक्षा कृति के संगठन पक्ष, उसके आस्वाद पक्ष और उसकी सामाजिक सार्थकता के बिंदुओं को उद्घाटित करने की कोशिश करती है। एक तरह से व्यावहारिक समीक्षा समूची कृति को उसकी अपनी ही धुरी पर विश्लेषित करने की कोशिश करती है। आयातित और आरोपित शब्दों के अनुसार समीक्षा की जो उपलब्ध प्रणालियाँ हैं, व्यावहारिक समीक्षा उससे परहेज़ करती है। व्यावहारिक समीक्षा में कई लोगों के नाम लिए जा सकते हैं, जैसे रामस्वरूप चतुर्वेदी, रघुवंश, मलयज, विजयदेव नारायण शाही आदि।

आलोचक डॉ० रामविलास शर्मा

डॉ० रामविलास शर्मा को मार्क्सवादी हिंदी समीक्षा का भीष्म पितामह कहा जाता है। डॉ० रामविलास शर्मा के आलोचना के तीन क्षेत्र हैं। निराला, परंपरा और तीसरा क्षेत्र है उनका इतिहास।

दरअसल डॉ० रामविलास शर्मा की आलोचना दृष्टि के आरंभिक स्तर पर तीन प्रतिमान कहे जा सकते हैं। उन्होंने तीन क्षेत्रों के रचनाकारों और चिंतकों पर अपनी आलोचना दृष्टि केंद्रित की है। कविता के क्षेत्र मे किताब का नाम है 'निराला की साहित्य साधना' जो तीन खंडों में है। पहला खंड जीवनी है, दूसरा खंड साहित्य है और तीसरा खंड पत्रों का संकलन है। उपन्यास के क्षेत्र में प्रेमचंद्र, किताब का नाम है 'प्रेमचंद्र और उनका युग'। आलोचना के क्षेत्र में उनके नायक हैं आचार्य रामचंद शुक्ल, किताब का नाम है 'आचार्य रामचंद शुक्ल और हिंदी आलोचना'। कविता, उपन्यास और आलोचना ये तीन विधाएँ हैं, जिनपर आरंभ में डॉ० रामविलास शर्मा ने अपना ध्यान केंद्रित किया था।

निराला और छायावाद की व्याख्या उन्होंने सामाजिक और ऐतिहासिक संदर्भों में की। निराला के माध्यम से छायावाद की व्याख्या करते हुए उन्होंने कहा कि छायावाद साम्राज्यवाद और सामंतवाद के विरुद्ध एक वैचारिक और रचनात्मक संघर्ष है, जिसका प्रतिनिधित्व निराला करते हैं। इसलिए छायावाद में परिवर्तनकारी चेतना के संदर्भों की तलाश ही उनकी व्याख्या की वास्तविक चुनौती है, जिसका सामना उन्होंने किया है। निराला के मन, उनकी कविता में निहित वेदांत और निराला की कविताओं की परिवर्तनकारी चेतना की व्याख्या के माध्यम से उन्होंने निराला को आधुनिक हिंदी कविता की परंपरा का सर्वश्रेष्ठ प्रतिनिधि कवि घोषित किया। निराला की कविता की वास्तविक भावभूमि संघर्ष की है और यह संघर्ष एक ही साथ साम्राज्यवाद और सामंतवाद के गठजोड़ के विरोध में है। इसके साथ ही संघर्ष के जितने भी परिप्रेक्ष्य हो सकते हैं, उन सभी परिप्रेक्ष्यों का उद्घाटन रामविलास जी ने निराला की व्याख्या में किया है। एक स्थान पर उन्होंने कहा कि निराला सौंदर्य के कवि हैं और निराला के यहाँ कोई भी सौंदर्य बिना संघर्ष के नहीं हो सकता। संघर्ष ही सौंदर्य की उत्पत्ति की पीठिका है। यह सौंदर्य कुरूपता के विरोध में है, जड़ता के विरोध में है, मृत्यु के विरोध में है। इसलिए सौंदर्य की चेतना जीवन की पक्षधरता की चेतना है। उन्होंने अपनी कई व्याख्याओं में यह दिखाने की कोशिश की है कि कैसे निराला की कविता का सौंदर्य जीवन के पक्ष में एक सशक्त ऊर्जा के रूप में काम करता है।

'सरोज स्मृति' स्मृति और मृत्यु की कविता है। लेकिन स्मृति और मृत्यु की कविता 'सरोज स्मृति' में सौंदर्य के सबसे सघन बिंब दिखाई देते हैं। सौंदर्य का इतना सघन और प्रभावशाली अंकन निराला फिर दोबारा नहीं कर पाए हैं। स्मृति में बसी हुई मृत्यु की गंध से निराला जूझते हैं और इस जूझने में वे बार-बार सौंदर्य की स्मृति से ऊर्जा लेते हैं। सौंदर्य की मृत्यु की इस मुठभेड में, हालाँकि मृत्यु 'सरोज स्मृति' में विजयी होती है, लेकिन फिर भी सौंदर्य ही है, जो स्मृति की रचना को संभव बनाता है।

वैसे ही 'राम की शक्ति पूजा' में भी रामविलास जी ने व्यावहारिक स्तर पर लिखा है कि राम की शक्ति पूजा में भी ऊपर पंक्ति उन्होंने लिखी 'स्थिर राघवेंद्र को हिला रहा फिर फिर संशय।' एक और पंक्ति आती है 'कल लड़ने को हो रहा विकल वह बार-बार असमर्थ मानता मन उद्धत हो हार हार।' संशय है, विकलता है, बेचैनी है ये सब कमजोरी के लक्षण हैं। और इस कमज़ोरी के क्षण में 'याद आया उपवन विदेह का प्रथम स्नेह का लताअंतराल मिलन'। सीता की बहुत खूबसूरत कुँआरी आँखें याद आती हैं। इसलिए निराला के यहाँ, जहाँ कहीं कमज़ोरी आती है, वहाँ जैसे सौंदर्य प्रकट होकर उन्हें कमज़ोरी से बाहर ले आता है।

इसलिए रामविलास जी ने सौंदर्य के संदर्भ में निराला को एक स्थान पर कोट करते हुए लिखा है कि निराला के यहाँ फूल का खिलना संघर्ष की एक अनवरत प्रक्रिया का परिणाम है। फूल इसलिए सुंदर है कि वह संघर्ष की एक गहरी प्रक्रिया से गुजरकर इस रूप तक पहुँचा है।

इसी तरीके से 'बादल' राग की कविताओं की व्याख्या करते हुए उन्होंने कहा कि बादल राग व्यवस्था परिवर्तन की चेतना से संदर्भित है। दरअसल इस समूची सामंती व्यवस्था को तोड़कर समता, सहजता और भ्रातृत्व पर आधारित एक नई दुनिया के निर्माण का आह्वान ही बादल राग की कविताओं का वास्तविक कथ्य है। तो इस तरह से रामविलास जी ने निराला को एक ऐसे कवि के रूप में देखने की कोशिश की है, जो अपने इतिहास और समाज की उपलब्ध संरचना में हस्तक्षेप करता है।

दूसरे रचनाकार प्रेमचंद हैं। डॉ० शर्मा ने प्रेमचंद को एक ऐसे रचनाकार के रूप में देखा है, जिसने सामाजिक यथार्थ को पहली बार अपनी रचनाओं में कोट किया। समस्याओं को ही नहीं, बल्कि समस्याओं के कारणों की तह तक जाने में भी प्रेमचंद को सफलता मिली और प्रेमचंद की रचनाओं की वास्तविक समस्या है किसान। किसान पर उन्होंने सबसे अधिक बल दिया है। किसान दरअसल इस शोषणवादी व्यवस्था का महत्त्वपूर्ण अंग है। इस किसान के विपक्ष में खड़ा है

सामंत और पूरा- का-पूरा उपनिवेशिक तंत्र, जिसमें न्यायालय, पुलिस, पंचायत सब उसके विरोध में हैं। इसलिए महाजनी सभ्यता की चर्चा के द्वारा प्रेमचंद सिर्फ़ समस्या तक बात को नहीं छोड़ते, बल्कि उस समस्या के निर्माण के पीछे जो शक्तियाँ हैं, उनका भी विश्लेषण करते हैं। इसलिए यथार्थ के चित्रण के साथ-साथ प्रेमचंद्र की रचनाएँ उस ऐतिहासिक सामाजिक बनावट की भी समझ विकसित करती हैं, जिनके भीतर से भारतीय समाज की समस्याएँ पैदा हुई हैं।

प्रेमचंद की अंतिम और महत्त्वपूर्ण कृति गोदान की वास्तविकता की ओर संकेत करते हुए उन्होंने कहा कि गोदान की वास्तविक समस्या ऋण की समस्या है। जाहिर है मार्क्सवादी चिंतक होने के कारण आर्थिक संदर्भों में सामाजिक समस्याओं की पहचान, डॉ० शर्मा के लिए स्वाभाविक थी और ऋण की समस्या के संदर्भ में ही उन्होंने पूरे गोदान की व्याख्या की है। एक स्थान पर लिखा है कि ऋण की समस्या होरी की समस्या भी है और प्रेमचंद की भी है, क्योंकि प्रेमचंद भी बहुत कर्ज में डूबे हुए थे। महाजनी सभ्यता की क्रूरता और आतंक से वे पूरी तरह अवगत थे। इसलिए गोदान महाजनी सभ्यता, जो सूद की सभ्यता है, उस पर आधारित एक महत्त्वपूर्ण भारतीय उपन्यास है।

शुक्ल जी के बारे में डॉ० शर्मा की स्थापनाएँ बहुत महत्त्वपूर्ण हैं। शुक्ल जी के योगदान को उन्होंने कई रूपों में देखा है। पहला तो यही है कि शुक्ल जी ने भारतीय रसवाद की परंपरा की आधुनिक व्याख्या की, क्योंकि परंपरा में रस एक वैयक्तिक आस्वाद है। आचार्य जी ने इस वैयक्तिकता को निरस्त करके रस को एक सामाजिक चेतना के रूप में स्थापित किया। रस एक वैयक्तिक अनुभूति न होकर वस्तुतः एक सामाजिक अनुभूति है। वह सामाजिक संस्कारों से निर्मित होती है। इसलिए शुक्ल जी ने कई स्थानों पर बताया है कि साधारणीकरण की प्रक्रिया पूरी तरह से सामाजिक प्रक्रिया होती है।

शुक्ल जी की आलोचना के योगदान के बारे में एक दूसरी बात स्थापित की कि उन्होंने रहस्यवाद का विरोध किया। रहस्यवाद-गैर साहित्यिक संदर्भों में जादू-टोना का पर्याय कहा जा सकता है। रहस्यवाद एक भावनात्मक अंधविश्वास में ले जाने वाली चेतना है। एक तरह से शर्मा जी के अनुसार आचार्य शुक्ल ने हिंदी आलोचना को अंधविश्वास के खतरे में बचाया या रहस्यवाद से बचाया।

तीसरा उन्होंने कहा कि लोकमंगल की स्थापना शुक्ल जी ने की। लोक में समाज के निचले वर्ग की ध्वनि है। लोकमंगल पर आचार्य जी ने बात की है, जनता के अब तक के शोषित, पिछड़े समाज के प्रति साहित्य की जवाबदेही होनी चाहिए। यह स्थापना अपने-आप में एक तरह से युगांतकारी है। तो इस तरह से कविता

उपन्यास और आलोचना के क्षेत्र में डॉ० शर्मा की स्थापनाओं ने प्रकारान्तर से मार्क्सवाद की यांत्रिकता को कम किया और हिंदी आलोचना की समझ और धारा को प्रशस्त किया।

दूसरा क्षेत्र है **परंपरा,** जिस पर उन्होंने काम किया है। उनकी एक किताब का नाम है 'परंपरा का पुनर्मूल्यांकन'। इस किताब में डॉ० शर्मा ने वाल्मीकि से लेकर आज तक के कवियों की एक अप्रतिहत परंपरा को देखा है और इन सभी कवियों की व्याख्या उन्होंने मार्क्सवादी दृष्टिकोण से की है। दरअसल **समूची भारतीय परंपरा में कवियों और कृतियों की परंपरा में निहित प्रगतिशील चेतना का उद्‌घाटन ही डॉ० रामविलास शर्मा के आलोचनात्मक कर्म का एक महत्त्वपूर्ण उपादेय या उसकी एक महत्त्वपूर्ण उपलिब्ध है।**

तीसरा उनका क्षेत्र **इतिहास** है, जिसका संबंध साहित्यिक आलोचना से नहीं है। लेकिन ये कृतियाँ भारतीय समाज को समझने और उस समझ के माध्यम से रचना के साथ संबंध स्थापित करने में मदद करती हैं। एक तरह से साहित्य का जो समूचा ऐतिहासिक सामाजिक परिदृश्य होता है, उसका उद्‌घाटन डॉ० रामविलास शर्मा की इतिहास पुस्तकें करती हैं। कुछ किताबों के नाम हैं–'भारत में अंग्रेज़ी राज और मार्क्सवाद', 'मार्क्स और पिछड़े समाज', 'भारतीय साहित्य की भूमिका'। इसमें डॉ० शर्मा की कुछ अत्यंत विवादास्पद स्थापनाएँ हैं, जो मार्क्सवादी स्थापनाओं से मेल नहीं खाती। ऋग्वेद पर उन्होंने काम किया है। 'ऋग्वेद और पश्चिम एशिया' में शर्मा जी की स्थापना है कि आर्य बाहर से नहीं आए। एक तरह से जो समूची भारतीय व्यवस्था है, वह उनके आलोचनात्मक कर्म का हिस्सा है। रामविलास जी ने लगातार इस बात पर बल दिया है कि साहित्य निजी कर्म नहीं है, बल्कि वह सामाजिक कर्म है। रचना पर समूची परंपरा का और समाज व्यवस्था का प्रयास होता है। इसलिए समाज व्यवस्था की व्याख्या उन्होंने अपने इतिहास ग्रंथों में की है।

इसके अतिरिक्त उन्होंने कई छुटपुट किताबें भी लिखीं जैसे 'नई कविता और अस्तित्ववाद', 'आस्था और सौंदर्य'।

मार्क्सवाद के तर्कशास्त्र के अनुसार डॉ० रामविलास शर्मा की आलोचना पद्धति पर यह आरोप है कि उनमें खंडनात्मक, मंडनात्मक प्रवृत्ति की प्रबलता है। वे प्रतिष्ठित करने वाले और ध्वस्त करने वाले आलोचक हैं। कई स्थानों पर डॉ० रामविलास शर्मा की आलोचना एक सम्यक दृष्टि नहीं, बल्कि पक्षपाती दृष्टि विकसित करती है। लेकिन इन सीमाओं के बावजूद डॉ० रामविलास शर्मा का आलोचना क्षेत्र बहुत विस्तृत, गहन और विचारोत्तेजना से भरा हुआ है।

भाषा पर भी उन्होंने काम किया है। 'भाषा और समाज' उनकी बहुत महत्त्वपूर्ण

किताब है। इसलिए एक ही साथ आलोचक, भाषाविद् और इतिहासकार तीनों रूपों में इनका योगदान ऐतिहासिक है। कहा जा सकता है कि महावीर प्रसाद द्विवेदी के बाद डॉ० रामविलास शर्मा एकमात्र ऐसे समीक्षक हैं, जिन्होंने हिंदी भाषा को समृद्ध करने में सराहनीय ऐतिहासिक भूमिका निभाई है।

आधुनिक हिंदी उपन्यास और यथार्थवाद का आविर्भाव

'उपन्यास और लोकजीवन' नामक पुस्तक में रॉल्फ फॉक्स ने कहा है – 'पूँजीवादी सभ्यता ने संसार की कल्पना प्रधान संस्कृति को जो भेटें दी हैं, उनमें सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है उपन्यास।' उपन्यास एक आधुनिक विधा है, जिसका जन्म पूँजीवादी व्यवस्था के जटिल परिवेश में हुआ है।

विश्व का पहला उपन्यास सैमुअल रिचर्डसन द्वारा रचित पामेला था, जो सन् 1740 ई० में प्रकाशित हुआ। उपन्यास को आरंभ में साहित्यिक विधा के रूप में मान्यता प्राप्त नहीं हो सकी थी। उसे एक नकारात्मक या घटिया मनोरंजन का साधन मात्र माना जाता था। लेकिन धीरे-धीरे उपन्यास सर्वाधिक संभावनागर्भित साहित्यिक विधा के रूप में स्थापित हुआ और अंततः यह स्वीकार किया गया हैं कि आधुनिक जीवन के जटिल यथार्थ को पकड़ने वाली सशक्ततम विधा उपन्यास ही है। ऐलेन ग्लासगो ने लिखा 'मेरे मत से मानवीय अनुभव की संपूर्ण व्यापकता और मानव-नियति की अपार विस्तृति उपन्यास की परिधि में सिमट आ सकती है।' बीसवीं शताब्दी तक आते-आते उपन्यास आधुनिक युग की केंद्रीय विधा के रूप में स्थापित हो गया।

भारतीय उपन्यासों की शुरुआत बंगला और मराठी उपन्यासों से होती है। बंकिमचंद्र चटर्जी, शरतचंद्र, रवींद्रनाथ टैगोर आदि बंगला उपन्यासकारों के उपन्यासों ने हिंदी उपन्यास के विकास को एक आधार दिया।

हिंदी के प्रथम उपन्यास के संबंध में विद्वानों में मतभेद है। कुछ विद्वानों के मत में 1882 ई. में प्रकाशित लाला श्रीनिवास दास का 'परीक्षागुरु' हिंदी का प्रथम उपन्यास है, जबकि कुछ अन्य विद्वानों के मत में श्रद्धाराम फुल्लौरी का 'भाग्यवती' हिंदी का प्रथम उपन्यास है, जिसकी रचना तो 1877 ई. में हुई, पर जिसका प्रकाशन 1887 ई० में हुआ।

हिंदी उपन्यास का वास्तविक आरंभ प्रेमचंद से होता है, जिन्होंने इसे जीवन के व्यापक और गहरे यथार्थ से जोड़ा था। प्रेमचंद से पहले हिंदी कथा-साहित्य का ढाँचा मध्ययुगीन 'आख्यान' जैसा ही था। 'आख्यान' को आधुनिक उपन्यास के अर्थ में प्रेमचंद ने ही विकसित किया। अतः हिंदी उपन्यास की विकास-यात्रा का

अध्ययन प्रेमचंद को केंद्र में रखकर ही किया जाना चाहिए। प्रेमचंद को केंद्र में रखकर हिंदी उपन्यास के विकास को तीन चरणों में विभक्त किया जा सकता है–

1. प्रेमचंद-पूर्व हिंदी उपन्यास
2. प्रेमचंद युगीन उपन्यास
3. प्रेमचंदोत्तर हिंदी उपन्यास

प्रेमचंद-पूर्व के हिंदी उपन्यासकारों ने पश्चिम से उपन्यास का ढाँचा तो लिया लेकिन उसमें परंपरागत कथा-साहित्य की प्रतिष्ठा अधिक की। इन उपन्यासों में उद्देश्य की दृष्टि से दो प्रवृत्तियाँ लक्षित होती हैं–कोरा **मनोरंजन** एवं **मनोरंजन** के साथ **सुधारवादी भावना**। प्रेमचंद पूर्व उपन्यासों की सबसे प्रमुख और सामान्य विशेषता उनका **घटना-प्रधान** होना है। उपन्यासकार देशकाल और यथार्थ से असंबद्ध घटना-चमत्कार के माध्यम से ही मनोरंजन या उपदेश देना चाहता है। इस युग में तीन प्रकार के उपन्यास दिखाई देते हैं–

1. शुद्ध मनोरंजन प्रधान उपन्यास
2. उपदेश प्रधान सामाजिक उपन्यास
3. ऐतिहासिक उपन्यास।

1. शुद्ध मनोरंजन प्रधान उपन्यासों में तिलस्मी एवं ऐय्यारी उपन्यास तथा जासूसी उपन्यास हैं। ऐय्यारी और तिलस्मी उपन्यासों के सर्वाधिक चर्चित एवं लोकप्रिय रचनाकार देवकी नंदन खत्री हैं। 'चंद्रकांता' एवं 'चंद्रकांता संतति' उनकी सर्वाधिक चर्चित कृतियाँ हैं। जासूसी उपन्यासकारों में श्री गोपालराम गहमरी इस युग के प्रतिनिधि उपन्यासकार हैं। 'अद्‌भुत लाश', 'खूनी कौन', 'जासूस की भूल', 'गुप्तभेद' इनके प्रसिद्ध उपन्यास हैं।

2. उपदेश प्रधान सामाजिक उपन्यासों पर नवजागरण की चेतना का प्रभाव दिखाई देता है। इन उपन्यासों का सबसे बड़ा विषय है – नारी समस्याएँ। बाल-विवाह, विधवा, अनमेल विवाह, आभूषण प्रियता आदि समस्याओं को रचनाकारों ने उठाया है। इन सामाजिक उपन्यासकारों की श्रृंखला में प्रमुख हैं –

लाला श्रीनिवासदास	–	परीक्षागुरु
श्रद्धाराम फिल्लौरी	–	भाग्यवती
बालकृष्ण भट्ट	–	नूतन ब्रह्मचारी, सौ अजान एक सुजान
राधाकृष्ण दास	–	निस्सहाय हिंदू
राधाचरण गोस्वामी	–	विधवा विपत्ति

पर इन उपन्यासों में समाज के बुनियादी सत्यों की पकड़ नहीं है। सतह पर फैली हुई समस्याओं का चित्रण भर किया गया है।

3. नवजागरण की चेतना के प्रभाव से कुछ रचनाकारों ने ऐतिहासिक उपन्यास लिखकर अपनी सांस्कृतिक विरासत को पुनर्जीवित करने की कोशिश की। पर अंतर्वस्तु और शिल्प, दोनों ही धरातलों पर इन उपन्यासों का गठन कमजोर है। इस युग में ऐतिहासिक उपन्यास लिखने वालों में प्रमुख हैं–

ब्रजनंदन सहाय	–	लाल चीन
मिश्र बंधु	–	वीरमणि
किशोरी लाल गोस्वामी	–	आदर्श रमणी, रज़िया बेगम
गंगा प्रसाद गुप्त	–	पृथ्वीराज चौहान, हम्मीर

समग्र रूप से प्रेमचंद-पूर्व युग के हिंदी उपन्यासों की औपन्यासिक संरचना में कसाव की कमी है और उनमें पात्रों की, घटनाओं की, परिस्थिति की तार्किक एवं यथार्थवादी स्थितियाँ दिखाई नहीं देतीं।

हिंदी उपन्यास में प्रेमचंद के आगमन को अनेक आलोचकों ने एक क्रांतिकारी घटना के रूप में देखा है। प्रेमचंद ने उपन्यास की पूरी रचना-प्रक्रिया को बदल दिया। प्रेमचंद की विषयवस्तु बिल्कुल नई नहीं है। प्रेमचंद-पूर्व हिंदी उपन्यास की परंपरा में स्त्री-समस्या और हरिजन-समस्या दो ऐसी समस्याएँ हैं, जिनका सामना भारतेंदुयुगीन उपन्यास भी करता है। डॉ० रामविलास शर्मा ने माना है कि प्रेमचंद के उपन्यासों की विषय वस्तु भारतेंदुयुगीन उपन्यासों का विकास है। किंतु प्रेमचंद की मौलिकता समस्याओं के चित्रण एवं समस्याओं के प्रति दृष्टिकोण में है।

प्रेमचंद-पूर्व हिंदी के सामाजिक उपन्यासों में स्त्री को सनातनी आदर्शों से पुनर्गठित करने का विचार दिखाई दे रहा था। स्त्री की पराधीनता की बात नहीं की गई थी। प्रेमचंद के उपन्यासों में सामाजिक पराधीनता में छटपटाती स्त्री का चित्रण है। स्त्री के अतिरिक्त हरिजन और किसान उनकी मुख्य विषय वस्तु है। प्रेमचंद मात्र इनका चित्रण नहीं करते बल्कि इन्हें समस्या के रूप में परिवर्तित करते हैं और उनका स्रोत सामाजिक संरचना में ढूँढ़ते हैं। पहली बार जीवन की समग्रता को व्यवस्थागत ढाँचे में ढूँढने की कोशिश की गई।

प्रेमचंद की मौलिकता के अन्य संदर्भ भी हैं। प्रेमचंद ने उपन्यास के कथानक, पात्र और भाषा में बुनियादी परिवर्तन किया। प्रेमचंद के यहाँ घटनाएँ मनोरंजन या कथा-विकास का माध्यम मात्र नहीं हैं, वे जीवित और संगठित रचनाएँ हैं, जिनमें जीवन के कई परस्पर विरोधी पहलू निहित होते हैं। उन्होंने घटनाओं को तथ्य के रूप में नहीं सामाजिक समस्याओं के रूप में धारण किया। प्रेमचंद ने बताया कि पात्र मात्र अच्छे या बुरे होकर नैतिकता-अनैतिकता के सिद्धांत नहीं होते, वे परिस्थितियों के दबाव झेलते हुए आशा-निराशा, आकांक्षा, स्वप्न तथा भावों-विचारों के जटिल

संस्थान होते हैं। प्रेमचंद ने अपने उपन्यासों में घटनाओं, स्थितियों और चरित्रों का जंगल खड़ा नहीं किया, बल्कि उन्हें उस अनुपात और बलाघात में संगठित किया है, जिससे तत्कालीन और आधुनिक भारतीय समाज की मानवीय नियति, संघर्ष की दिशा और सार्थकता की संभावना प्रस्तावित व परिभाषित होती है।

प्रेमचंद के उपन्यासों की भाषा कुछ भी व्यक्त करने का माध्यम मात्र नहीं, बल्कि जीवन की सच्चाइयों के निशान, अनुभव की तीव्रता और गति के प्रमाण देने में समर्थ ध्वनि-संगठन है। प्रेमचंद युग राष्ट्रीय और सामाजिक उथल-पुथल का युग था – जिसका रचनात्मक साक्षात्कार प्रेमचंद के उपन्यासों में हुआ है। उनके उपन्यासों में तत्कालीन भारत की यथार्थ-चेतना के प्रायः समस्त आयाम उद्घाटित हुए हैं। 'सेवासदन', 'प्रेमाश्रम', 'निर्मला', 'रंगभूमि', 'गबन', 'कर्मभूमि' एवं 'गोदान' प्रेमचंद की मुख्य औपन्यासिक कृतियाँ हैं। इन उपन्यासों में राष्ट्रीय स्वाधीनता आंदोलन, भारतीय किसानों की दशा, सामाजिक बंधनों में छटपटाती नारी और वर्ण-व्यवस्था के भीतर संत्रस्त हरिजनों की पीड़ा का मार्मिक चित्रण मिलता है। प्रेमचंद युग के अन्य उपन्यासकारों में निम्नांकित उल्लेखनीय हैं–

1.	विश्वंभनाथ शर्मा 'कौशिक'	–	भिखारिणी, माँ
2.	राधिकारमण प्रसाद सिंह	–	राम-रहीम
3.	सियारामशरण गुप्त	–	गोद, अंतिम आकांक्षा
4.	पाण्डेय बेचन शर्मा उग्र	–	बुधुआ की बेटी
5.	जयशंकर प्रसाद	–	कंकाल, तितली

प्रेमचंदोत्तर उपन्यासों में फ्रॉयड के मनोविश्लेषणवाद से प्रभावित मनोवैज्ञानिक उपन्यासों, प्रेमचंदीय चेतना एवं मार्क्स के यथार्थवाद से प्रेरित सामाजिक और समाजवादी उपन्यासों, ऐतिहासिक, पौराणिक और सांस्कृतिक उपन्यासों, अंचल-विशेष के जीवन को चित्रिण करने वाले आंचलिक उपन्यासों, आधुनिक भाव-बोध से अनुप्राणित महानगर बोध के उपन्यासों, नारी-समस्या से संबंधित उपन्यासों, उत्तर आधुनिकतावाद या उपभोक्तावादी संस्कृति से प्रभावित उपन्यासों आदि की धाराएँ देखने को मिलती हैं।

मनोवैज्ञानिक उपन्यासों में निहित मनोवैज्ञानिक चेतना मनोविज्ञान की नवीन खोजों से प्राप्त सत्यों पर आधारित थी। फ्रॉयड के अनुसार यथार्थ बाहर नहीं, बल्कि मनुष्य के अवचेतन में होता है। इन उपन्यासों का संबंध अवचेतन लोक से है। अतः कथा बाहर से हटकर व्यक्ति के भीतर मुड़ गई। घटनाओं एवं पात्रों की बहुलता और सामाजिकता समाप्त हो गई। घटनाओं का स्थान आत्ममंथन और चिंतन ने ले लिया तथा भाषा प्रतीकात्मक हो गई। प्रमुख मनोवैज्ञानिक उपन्यासकार हैं –

जैनेंद्र	–	परख, सुनीता, त्यागपत्र
अज्ञेय	–	शेखर : एक जीवनी, नदी के द्वीप
इलाचंद्र जोशी	–	संन्यासी, जहाज़ का पंछी
डॉ० देवराज	–	अजय की डायरी, पथ की खोज

जैनेंद्र मनोवैज्ञानिक उपन्यास के पहले समर्थ रचनाकार थे। 'परख', 'त्यागपत्र', 'सुनीता', 'परदा', 'कल्याणी', 'मुक्तिबोध' आदि उनके प्रमुख उपन्यास हैं। जैनेंद्र के उपन्यासों का केंद्र विवाह और प्रेम है। ये जैनेंद्र के उपन्यासों को दूर तक ले जाने वाली विषयवस्तु है। उनके सभी उपन्यासों में पत्नी और प्रेमिका का द्वंद्व दिखाई देता है।

'परदा' से यह धारणा शुरू होती है कि पत्नी और प्रेयसी एक ही स्त्री नहीं हो सकती है। पुरुष इस द्वंद्व को झेलने के लिए अभिशप्त है। जैनेंद्र का मानना है कि विवाह संबंधों की निजता को खत्म कर देता है और संबंध निजता की आर्द्रता के बिना रह नहीं सकता। जैनेंद्र के उपन्यास एक प्रकार से सांस्थानिकता एवं निजता के बीच के द्वंद्व के आख्यान हैं। 'त्यागपत्र' इस दृष्टि से हिंदी के सर्वाधिक चर्चित उपन्यासों में से एक है।

जैनेंद्र पर गांधीवाद का ऋणात्मक प्रभाव है। उनके पात्र कहीं प्रतिरोध नहीं करते हैं। वस्तुत: जैनेंद्र के उपन्यास समाज–व्यवस्था को निजता के स्तर पर चुनौती देते हैं। जैनेंद्र पर जैन दर्शन का भी प्रभाव है। उनके पात्र आत्मपीड़न की मानसिकता के शिकार हैं।

प्रेमचंद के बाद ऐसे उपन्यासों की एक लंबी परंपरा है, जो सामाजिक जीवन के यथार्थ को लक्ष्य बनाकर चली। इस धारा के उपन्यासकारों का मानना है कि व्यक्ति को सामाजिक जीवन के परिप्रेक्ष्य में ही देखा जा सकता है। समाज–केंद्रित ऐसे उपन्यासों की दो कोटियाँ हैं, जिन्हें हम सामाजिक और समाजवादी उपन्यास कह सकते हैं। सामाजिक उपन्यासों में सामाजिक यथार्थ का चित्रण रचनाकार के अपने अनुभवों से प्रेरित होता है, न कि किसी संस्थागत दृष्टि से। ऐसे उपन्यासकारों में निम्नांकित रचनाकारों के नाम उल्लेखनीय हैं–

अमृतलाल नागर	–	बूँद और समुद्र, अमृत और विष
भगवतीचरण वर्मा	–	भूले–बिसरे चित्र, टेढ़े–मेढ़े रास्ते
भीष्म साहनी	–	तमस
नरेश मेहता	–	यह पथ बंधु था
राजेंद्र यादव	–	सारा आकाश
धर्मवीर भारती	–	सूरज का सातवाँ घोड़ा
शानी	–	काला जल

श्रीलाल शुक्ल – रागदरबारी
गिरिराज किशोर – लोग
शिवप्रसाद सिंह – बड़ी चम्पा, छोटी चम्पा

समाजवादी उपन्यासों में चित्रित यथार्थ का आधार रचनाकार की अपनी दृष्टि नहीं, बल्कि मार्क्सवादी सैद्धांतिकता है। अतः वर्ग-संघर्ष और सामाजिक समता की कामना इन उपन्यासों में दिखाई देती है। इस धारा के मुख्य उपन्यासकार हैं–

यशपाल – पार्टी कामरेड, दादा कामरेड
अमृतराज़ – बीज, नागफनी का देश
रांगेय राघव – घरौंदा, सीधा-साधा रास्ता
भैरव प्रसाद गुप्त – मशाल, गंगा मैया

मार्क्सवाद से प्रेरित यह रचनाशीलता बहुत दिनों तक नहीं चली। आगे जो मार्क्सवाद से प्रेरित रचनाकार हुए, उन्होंने कट्टरता को छोड़ा और अपने को प्रेमचंदीय सामाजिक चेतना से जोड़ा।

समाजवादी या प्रगतिवादी उपन्यासकारों में यशपाल सबसे चर्चित उपन्यासकार हैं। दादा कामरेड और पार्टी कामरेड के अतिरिक्त 'मनुष्य के रूप', 'दिव्या' और 'झूठा सच' उनके प्रमुख उपन्यास हैं। 'मनुष्य के रूप' के माध्यम से संबंधों के सत्य का उद्घाटन करना चाहते हैं। समान आर्थिक हैसियत में ही प्रेम हो सकता है। इसलिए प्रेम कोई सनातन एवं सार्वभौमिक भाव चेतना नहीं है। प्रेम संबंधों में भी वर्गीय सत्य होता है। इस प्रकार यशपाल 'मनुष्य के रूप' में इस मत को स्थापित करते हैं कि मानवीय संबंध आर्थिक संबंध होते हैं। किस प्रकार व्यक्ति की आर्थिक स्थितियाँ सामाजिक स्थितियों को प्रभावित करती हैं, 'मनुष्य के रूप' में यह सवाल कई कोणों से देखा गया है।

'दिव्या' इतिहास की पृष्ठभूमि में लिखा गया उपन्यास है। मार्क्सवाद के अनुसार इतिहास की प्रकृति वस्तुवादी होती है। इसलिए इतिहास के प्रति यशपाल की दृष्टि भी वस्तुवादी एवं विश्लेषात्मक है। वह वर्तमान को संपूर्णता में समझने की एक पद्धति भी है। 'दिव्या' सामाजिक पराधीनता में स्त्री की कथा है। यशपाल संभवतः यह दिखाना चाहते हैं कि एक विशेष सामाजिक व्यवस्था में स्त्री परतंत्र है। उसे कोई आर्थिक स्वतंत्रता नहीं है, उसे वरण की स्वतंत्रता नहीं है।

'झूठा सच' विभाजन की त्रासदी को अनेक बिंदुओं पर उद्घाटित करता है। सामान्यतः यह माना जाता है कि विभाजन धार्मिक उन्माद की परिणति है। किंतु यशपाल के लिए यह धर्म का मसला नहीं है, बल्कि इसके पीछे आर्थिक-राजनीतिक शक्तियाँ हैं। यशपाल आज़ादी के पूर्व एवं बाद के प्रशासन, राजनीति, मानवीय संबंधों आदि सभी स्थिति-परिस्थितियों को एक बड़े फलक पर चित्रित करते हैं।

मूलत: इस उपन्यास का लक्ष्य इस सत्य की स्थापना है कि इतिहास के प्रत्येक मोड़ का अंतर्वर्ती कारण धार्मिक नहीं आर्थिक होता है।

भीष्म साहनी मार्क्सवादी परंपरा के शांत एवं सहज रचनाकार हैं। वे साधारणता के लेखक हैं। उनकी औपन्यासिक संरचना में चमत्कृत करने वाला कोई तत्व नहीं है लेकिन गति की दुर्लभ व्यवस्था है। 'तमस' भीष्म साहनी का बहुचर्चित उपन्यास है। इस उपन्यास की पृष्ठभूमि विभाजन के दंश को झेलता हुआ पंजाब है। वे विभाजन की त्रासदी को भावात्मक रूप में न लेकर वस्तुवादी आग्रहों से समझने की कोशिश करते हैं। 'तमस' मनुष्य की अमानवीयता की कहानी कहता है, लेकिन स्थिति के अत्यंत निराशाजनक होने के बावजूद वहाँ एक आशा भी है।

इस प्रकार प्रगतिवादी उपन्यासकारों ने समाज और व्यवस्था को देखने एवं चित्रित करने की एक नवीन पद्धति दी। राजनीतिक परिवर्तन एवं सामाजिक संबंधों की पहचान मार्क्सवादी उपन्यासकारों की केंद्रीय चुनौती है। इस स्तर पर ये यथार्थवादी होते हुए भी प्रेमचंद की परंपरा से भिन्न हैं।

प्रेमचंदोत्तर **ऐतिहासिक-पौराणिक-सांस्कृतिक उपन्यासों** में लेखकों ने ऐतिहासिक-पौराणिक परिवेश को उसी सच्चाई में मूर्तिमान करते हुए ऐसे मूल्यों एवं प्रश्नों को उभारा है, जो अधिक व्यापक और गहन होने के नाते वर्तमान जीवन को भी अपनी परिधि में लेते हैं। इस धारा के उल्लेखनीय रचनाकार हैं–

राहुल सांकृत्यायन – सिंह सेनापति, जय यौधेय
भगवती चरण वर्मा – चित्रलेखा
वृंदावन लाल वर्मा – मृगनयनी, गढ़कुण्डार
चतुरसेन शास्त्री – वैशाली की नगर-वधू, सोमनाथ, वयं रक्षाम:
रांगेय राघव – मुर्दों का टीला, पक्षी और आकाश
हज़ारी प्रसाद द्विवेदी – बाण भट्ट की आत्मकथा

वर्तमान मनुष्य के मानसिक क्षितिज के विस्तार में इन उपन्यासों की भूमिका महत्त्वपूर्ण है।

स्वतंत्रता के बाद फणीश्वर नाथ 'रेणु' के उपन्यास 'मैला आँचल' के प्रकाशन के साथ ही हिंदी उपन्यास की विकास-यात्रा में एक नितांत मौलिक कड़ी **आंचलिक उपन्यासों** की जुड़ी। साहित्य में आंचलिकता के उदय के कुछ कारण थे। प्रजातंत्र में मतों का बहुत बड़ा हिस्सा गाँवों में होने के कारण गाँव राजनीति के केंद्र में आ गया। राजनेताओं का, प्रेस का, बुद्धिजीवियों का ध्यान गाँवों की ओर गया। गाँव से जो पीढ़ी शहर आई थी, उसमें नोस्टेलजिया के स्तर पर गाँवों के प्रति मोह का उदय हुआ। राष्ट्रीय लक्ष्य स्वाधीनता की प्राप्ति के बाद सामूहिकता की भावना खंडित हुई और

प्रांतीयता एवं क्षेत्रीयता उभरी। अत:, हिंदी उपन्यास में भी आंचलिकता की प्रवृत्ति आई। स्थानीयता आंचलिक उपन्यासों की बुनियादी इकाई है। एक अंचल विशेष की संस्कृति, जीवन-पद्धति, परंपरा, भाषा आदि का चित्रण इनमें होता है। **कथा-योजना में विकेंद्रण और प्रकृति का व्यापक चित्रण** इनकी विशेषता है। अंचल विशेष को संपूर्णता में उभारना ही इनका लक्ष्य होता है। इस धारा के मुख्य उपन्यासकार हैं–

फणीश्वर नाथ रेणु – मैला आँचल, परती परिकथा
नागार्जुन – बलचनमा, रतिनाथ की चाची
रांगेय राघव – कब तक पुकारूँ
राही मासूम रज़ा – आधा गाँव
रामदरश मिश्र – जल टूटता हुआ।

ये उपन्यास आंचलिकता के प्रामाणिक और अकाट्य दस्तावेज के रूप में समादृत हुए।

आज़ादी के बाद तेज़ी से बढ़ते हुए महानगरों एवं नगरों ने उनमें रहने वाले मनुष्यों के जीवन को भी बदला। इस जीवन के खास लक्षणों का चित्रण जिन उपन्यासों में हुआ है, उन्हें हम **आधुनिक भावबोध या महानगर बोध के उपन्यास** कह सकते हैं। केंद्र का अभाव, मनुष्य और मनुष्य के बीच माध्यमता की अनिवार्य उपस्थिति, प्रतिस्पर्धा, यौन-संबंधों की उन्मुक्तता आदि महानगर के खास लक्षण हैं। स्त्री पुरुष संबंधों के निश्चित ढाँचे के अभाव एवं महानगर की आर्थिक समस्याओं के कारण मनुष्य और मनुष्य के बीच की बढ़ती दूरियों के फलस्वरूप अकेलापन, अजनबीपन, तनाव, बोरियत, आत्मनिर्वासन जैसी स्थितियों का जन्म हुआ। महानगर बोध के उपन्यास इन्हीं से संदर्भित हैं। प्रकृति, संबंधों की आत्मीयता एवं सामाजिक जीवन का अभाव इन उपन्यासों में दिखाई देता है। महानगर-बोध के उल्लेखनीय उपन्यासकार हैं–

निर्मल वर्मा – वे दिन, एक चिथड़ा सुख
मोहन राकेश – अंधेरे बंद कमरे, न आने वाला कल
जगदंबा प्रसाद दीक्षित – मुर्दाघर

कुछ उपन्यास पूरी तरह यौन-चेतना से संबंधित हैं। जीवन के अन्य आयामों का घोर अभाव, काम संबंधों का खुला चित्रण और मनुष्य का जैविक रूप इनकी विशेषताएँ हैं। ऐसे उपन्यासकारों में मुख्य हैं –

राजकमल चौधरी — मछली मरी हुई
कृष्णा सोबती — सूरजमुखी अँधेरे के
मृदुला गर्ग — चितकोबरा
मणिमधुकर — सफ़ेद मेमने

ये उपन्यास अपने इतिहास की उपज़ नहीं है , बल्कि इतिहास के एक खास समय में उत्पन्न मानसिक प्रवृत्तियों के परिणाम हैं।

स्वातंत्र्योत्तर हिंदी उपन्यास की एक धारा **मोहभंग वाले उपन्यासों** की है। स्वप्न, कल्पना और आकांक्षा की संपूर्ण अनुपस्थिति मोहभंग का आधारभूत लक्षण है। इसलिए जीवन की सकारात्मकता और मूल्य-चेतना से रहित स्थितियों के भाव को ही मोहभंग कहा गया है। इस दृष्टि से मोहभंग का सबसे चर्चित उपन्यास है – श्रीलाल शुक्ल का **'रागदरबारी'**। इसमें प्रशासन, राजनीतिक और शिक्षा जीवन, इन तीन महत्त्वपूर्ण स्तरों पर व्याप्त भ्रष्टाचार एवं मूल्यहीनता का व्यंग्यात्मक चित्रण है। अन्य उपन्यास हैं–

विनोद कुमार शुक्ल	–	नौकर की कमीज़
काशीनाथ सिंह	–	अपना मोर्चा
गिरिराज किशोर	–	लोग, ढाई घर, जुगलबंदी

स्त्री-लेखन स्वातंत्र्योत्तर हिंदी साहित्य की महत्त्वपूर्ण घटना है, क्योंकि आज़ादी से पहले महिला-लेखन की कोई धारा नहीं दिखाई देती। स्वातंत्र्योत्तर हिंदी उपन्यास की एक धारा महिला-लेखन के उपन्यासों की है। आज़ादी के बाद भारत की सामाजिक-संरचना में एक खास तरह का बदलाव दिखाई देता है – वह है स्त्री का घर से बाहर निकलना। स्त्रियों का एक बड़ा वर्ग नौकरीपेशा हुआ। इस आर्थिक स्वनिर्भरता से मानसिक स्वाधीनता आई। शिक्षा की समानता एवं कार्य की समानता के कारण उत्पन्न अस्मिता बोध की चेतना ने स्त्री-पुरुष संबंधों को नए तनावपूर्ण आयाम दिए, जो महिला-लेखन के उपन्यासों के विषय हैं। पति-पत्नी के संबंधों का तनाव, तलाक की प्रक्रिया में एवं पति-पत्नी के तनाव में त्रासदी भोगता हुआ बच्चा, समाज के नैतिक मानदंडों की पुनर्व्याख्या आदि को चित्रित करने का काम महिला उपन्यासकारों ने किया। इनमें प्रमुख उपन्यासकार हैं–

1. **कृष्णा सोबती** : एक स्तर पर कृष्णा सोबती ने न केवल स्त्री-लेखन की शुरुआत की, बल्कि उसे पहचान भी दी। उनके उपन्यास 'ज़िंदगीनामा' को एक प्रकार से आंचलिक उपन्यास भी कहा जा सकता है। पंजाब की संस्कृति और जीवन-संबंधों की महागाथा के रूप में इसकी रचना हुई है। 'दिलो-दानिश' दिल्ली की पृष्ठभूमि में लिखा गया उपन्यास है। इसमें बीत गई दिल्ली और बाद की दिल्ली की तहज़ीब और इन्सानी रिश्तों की प्रकृति को जीवंतता से उभारा गया है।

कृष्णा सोबती के लेखन की मुख्य वस्तु समय के दो बिंदुओं में संबंधों की भिन्न-भिन्न स्थितियों को प्रस्तुत करना है। कृष्णा सोबती ने स्त्री-पुरुष के यौन-

संबंधों को भी अपना विषय बनाया है। देह-संबंधों से उत्पन्न अनुभव को सजीव धरातल पर चित्रित करने वाले उनके प्रमुख उपन्यास हैं–

1. सूरजमुखी अँधेरे के
2. यारों के यार
3. मित्रों मरजानी

2. मन्नू भंडारी : मन्नू भंडारी कृष्णा सोबती के बाद सर्वाधिक चर्चित एवं महत्त्वपूर्ण महिला उपन्यासकार हैं। उनके प्रमुख उपन्यास हैं :

1. आपका बंटी
2. महाभोज

इन दोनों उपन्यासों का विषय बिल्कुल भिन्न है। विषय की भिन्न दिशाओं में इतनी समर्थ छलाँग विस्मित करती है। 'आपका बंटी' बच्चे को केंद्र में रखकर लिखा गया उपन्यास है। आज़ादी के बाद स्त्री-पुरुष संबंधों में आए बदलाव और उस बदलाव का बच्चे के जीवन पर आए हुए प्रभाव का इसमें अंकन है। इस उपन्यास की चर्चा महज कथ्य के कारण नहीं है, उसका शिल्प-बोध भी बहुत महत्त्वपूर्ण है। अनेक प्रतीकात्मक संदर्भों में उन्होंने बंटी के मार्मिक जीवन-प्रसंगों का उद्घाटन किया है। साथ ही प्रभावशाली एवं सहज भाषा का प्रयोग भी इस उपन्यास को विशिष्ट बनाता है।

'महाभोज' का महत्त्व दो कारणों से है। एक तो यह उपन्यास स्त्री-लेखन की परंपरागत छवि को तोड़ देता है। स्त्री-लेखिकाएँ सामान्यत: संबंधों पर लिखती रही हैं। स्त्री-पुरुष का दांपत्य-जीवन तथा प्रेम-संबंध उनके विषय रहे हैं। 'महाभोज' इस दायरे से स्त्री-लेखन को बाहर निकालता है। यह आपातकाल के बाद लिखी हुई रचना है। इसमें मन्नू भंडारी ने मूल्यहीन होती राजनीति, सत्ता की तिकड़में और उसकी हीनता को बेहद बेबाकी और प्रभाव के साथ अंकित किया है। संतत्व और शैतानियत बिना किसी कुंठा के धारण करने वाले राजनेताओं को यह उपन्यास बेनकाब करता है। समाज की विपत्ति राजनेताओं के लिए महाभोज का अवसर होती है।

महिला लेखन के अन्य मुख्य उपन्यासकार हैं :

उषा प्रियंवदा – पचपन खंभे लाल दीवारें, रुकोगी नहीं राधिका
मृदुला गर्ग – चितकोबरा, कठगुलाब
मैत्रेयी पुष्पा – इदन्नमम, बेतवा बहती रही, चाक
प्रभा खेतान – छिन्नमस्ता
अलका सरावगी – कलिकथा वाया बाईपास, शेष कादंबरी

समकालीन हिंदी साहित्य में विभिन्न तरह के उपन्यासों की रचना हो रही है। इनमें स्वतंत्रता के बाद आई प्रवृत्तियों का विकास भी दिखाई दे रहा है और कुछ नई प्रवृत्तियों वाले उपन्यास भी लिखे जा रहे हैं।

उत्तर आधुनिकतावादी विचारधारा एवं टेलीविजन क्रांति से उत्पन्न उपभोक्तवादी संस्कृति ने जिस मनुष्य को जन्म दिया है, वह चिंतनहीन दर्शक मनुष्य है, जो प्रतिकार नहीं करता बल्कि स्थितियों में अपने को घुलाता है। उसकी चिंता अपने स्व की है, अपनी सुविधा की है। उपभोक्तावादी संस्कृति से संदर्भित उपन्यासों की रचना हो रही है। इनमें प्रमुख हैं :

मनोहर श्याम जोशी — हरिया हरिक्यूलस की हैरानी, हमजाद
सुरेंद्र वर्मा — मुझे चाँद चाहिए

आतंकवाद समकालीन भारत की त्रासदी है। तरसेम गुजराल के उपन्यास 'जलता गुलाब' में 80 के बाद उदित हुए आतंकवाद को विषय बनाया गया है।

फिल्मों और नाटक से जुड़े हुए लोगों के भीतर जीवन, ग्लैमर, नैतिकता, अनैतिकता का उद्घाटन कुछ उपन्यास करते हैं—

पंकज बिष्ट — लेकिन दरवाज़ा
निर्मल वर्मा — रात का रिपोर्टर

समकालीन उपन्यासों में अन्य प्रमुख रचनाएँ हैं—

अब्दुल विस्मिल्लाह — झीनी झीनी बीनी चदरिया
मंजूर एहतेशाम — सूखा बरगद
गिरिराज किशोर — ढाई घर
विष्णु प्रभाकर — अर्द्धनारीश्वर
वीरेंद्र जैन — डूब, पार

'झीनी–झीनी बीनी चदरिया' एवं 'सूखा बरगद' परिस्थितियों की नकारात्मकता में मनुष्य की हस्तक्षेप शक्ति के अस्तित्व का प्रमाण देते हैं। 'ढाई घर' मूल्य-व्यवस्था के परिवर्तनशील स्वरूप की जाँच-पड़ताल करता है। अर्द्धनारीश्वर एक स्त्री की मानसिक कुंठाओं और उसके प्रति सामाजिक दृष्टियों का गहरा मूल्यांकन विचार और दर्शन के धरातल पर करता है। 'डूब' और 'पार' विस्थापन के दर्द एवं सांस्कृतिक त्रासदी को अभिव्यक्त करने वाले उपन्यास हैं।

समग्रतः यह कहा जा सकता है कि उपन्यास समाज और उसमें रहने वाले मनुष्य की जीवन–परिस्थितियों, उसकी मूल्य–चेतना एवं परंपरा बोध का प्रामाणिक दस्तावेज़ है। हिंदी उपन्यास के शिखर–पुरुष प्रेमचंद ने कहा था कि मैं उपन्यास को मानव-जीवन का चित्र–मात्र समझता हूँ। हिंदी उपन्यास अपनी विकास–यात्रा में वस्तुतः

इतिहास और सामाजिक परिस्थितियों द्वारा उत्पन्न किए गए बदलते हुए मनुष्य का चित्र उभारता है। हालाँकि इस लंबी विकास-यात्रा में कई बार उपन्यास ने अपनी रचनात्मक ऊर्जा एवं सामाजिक लक्ष्यों को धूमिल किया है, लेकिन अपनी समग्रता में यह मनुष्य की आस्था और जिजीविषा की पक्षधरता का आश्वासन देता है।

हिंदी कहानी का विकास

एक साहित्यिक विधा के रूप में हिंदी कहानी की शुरुआत पश्चिमी प्रभाव से बीसवीं शताब्दी में होती है। कुछ विद्वानों का मानना है कि हिंदी की पहली कहानी इंशा अल्लाँ खाँ की 'रानी केतकी की कहानी' है, जिसका रचनाकाल 1901 के आस-पास है। लेकिन यह कहानी अपने गठन में कहानी दिखाई नहीं पड़ती। अब अधिकांश विद्वान इस बात पर सहमत हैं कि हिंदी की पहली कहानी माधवराव सप्रे की 'एक टोकरी भर मिट्टी' (1901) है।

1901 से लेकर 1915 तक के समय को कहानी के विकास का पहला चरण माना गया है। कहानी अपने पहले चरण में भारतीय कथा-परंपरा और नवजागरण के आदर्श से प्रेरित है। रोमानियत, आदर्श और राष्ट्रीयता हिंदी की आरंभिक कहानियों के मूल-आधार हैं और इसमें रचनाकार वास्तविक जीवन की तुलना में अपने मस्तिष्क के आदर्शों से प्रेरित है। इस चरण की प्रमुख कहानियां हैं–

एक टोकरी भर मिट्टी	–	माधवराव सप्रे
प्लेग की चुड़ैल	–	मास्टर भगवानदास
ग्यारह वर्ष का समय	–	आचार्य रामचंद्र शुक्ल
दुलाईवाली	–	बंगमहिला
ग्राम	–	जयशंकर प्रसाद
राखीबंद भाई	–	वृंदावन लाल वर्मा
कानों में कँगना	—	राजा राधिकारमण प्रसाद सिंह
उसने कहा था	—	चंद्रधर शर्मा 'गुलेरी'

'उसने कहा था' कहानी नितांत सहज और यथार्थ परिवेश में अपने को खोलना आरंभ करती है और यह कहानी आधुनिक कथा-उपकरणों की शर्तों को पूरा करती है।

1915 के बाद हिंदी कहानी के क्षितिज पर प्रेमचंद का उदय होता है। प्रेमचंद ने हिंदी को अत्यंत ऊँचाई प्रदान की। प्रेमचंद भारतीय स्वाधीनता आंदोलन के कथाकार हैं। इसकी मूल्य-दृष्टियां और लक्ष्यों की अनुगूंज उनकी कहानियों में दिखाई पड़ती है।

प्रेमचंद की कहानियों की विकास-यात्रा को तीन चरणों में बाँटकर देखा जा सकता है। उनकी कहानियाँ भारतीय स्वाधीनता के मूल्यों को अभिव्यक्त करती हैं। पंचपरमेश्वर उनकी आरंभिक कहानियों का प्रतिनिधित्व करती है। दूसरे चरण में वे यथार्थ का चित्रण करते हुए आदर्श तक पहुँचते हैं। ऐसी कहानियों में 'बड़े घर की बेटी', 'मंत्र', 'मुक्तिपथ', 'नमक का दरोगा' प्रमुख हैं। अपनी इन आदर्शोन्मुख यथार्थवादी कहानियों में प्रेमचंद की भारतीयता के प्रति, मनुष्यता के प्रति गहरी आस्था दिखाई पड़ती है। प्रेमचंद की तीसरे चरण की कहानियाँ पूर्णत: यथार्थवादी हैं। वे इन कहानियों में यथार्थ की कुरूपता और भयावहता को चुनते हैं और इस चित्रण में तटस्थ बने रहते हैं। ईदगाह, सवा सेर गेहूँ, ठाकुर का कुआँ, शतरंज के खिलाड़ी, पूस की रात, कफ़न आदि प्रेमचंद की यथार्थवादी कहानियाँ हैं।

प्रेमचंद की कहानियों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि प्रेमचंद हिंदी कहानी-परंपरा के शीर्ष पुरुष है। उन्होंने हिंदी प्रदेश को उसकी संपूर्णता में चित्रित करने और उसकी समस्याओं को पहचानने का काम किया। प्रेमचंद युग के प्रेमचंदानुगामी अन्य कहानीकारों में सुदर्शन (हार की जीत) और विश्वंभर नाथ शर्मा 'कौशिक' (ताई) प्रमुख हैं।

1915 से लेकर 1935 तक के बीच की प्रेमचंद के समानांतर ही हिंदी-कहानी की दूसरी धारा जयंशकर प्रसाद और उनके अनुवर्ती रचनाकारों की है। प्रेमचंद की कहानियों का संबंध जहाँ भारतीय समाज के वर्तमान, उसकी समस्याओं और यथार्थवाद से है, वहीं प्रसाद की कहानियाँ भाववादी हैं। अत: उनका संबंध अतीत एवं भावात्मक समस्याओं से है। आकाशदीप, पुरस्कार, मधुआ आदि प्रसाद की प्रतिनिधि कहानियां हैं। इस प्रकार भाव और यथार्थ का समानांतर विकास हिंदी कहानी की विकास-यात्रा में 1935 तक दिखाई देता है।

जैनेंद्र और अज्ञेय की कहानियों के आधार पर हिंदी कहानी के एक चरण को मनोवैज्ञानिक कहानियों की संज्ञा दी जा सकती है। इन कहानियों का आधार फ्रॉयड का मनोविश्लेषणवाद है, पर ठीक-ठीक सैद्धांतिक मनोविश्लेषण नहीं। मनोवैज्ञानिक कहानियों में कथानक लगभग खत्म हो जाता है और मानसिक सत्य कथा बन जाती है। आरंभ, उत्कर्ष और अंत की श्रृंखलाबद्धता टूट जाती है एवं कहानी अपने अंत में किसी लक्ष्य या आदर्श को आलोकित नहीं करती है।

जैनेंद्र की कहानियों को तीन हिस्सों में रखकर देखा जा सकता है। उनकी कहानियों का एक हिस्सा मनोविज्ञान से संबंधित कहानियों का है। 'पाज़ेब' और 'खेल' इस दृष्टि से प्रमुख कहानियाँ हैं। जैनेंद्र अपनी दूसरी प्रकार की कहानियों में विचार और दर्शन को कथावस्तु के रूप में रूपांतरित करते हैं। ऐसी कहानियों में

'नीलम देश की राजकन्या' उल्लेखनीय है। जैनेंद्र की कहानियों का एक अन्य हिस्सा पारिवारिक जीवन से संबंध रखता है। 'पत्नी' ऐसी ही कहानी है। जैनेंद्र हिंदी कहानी की बहिर्मुखता को अंतर्मुखता और वैचारिकता प्रदान कर उसे एक नया आयाम देते हैं और साथ ही नई भाषा भी। प्रतीकात्मकता और अमूर्तता जैनेंद्र के कथा-शिल्प के महत्त्वपूर्ण संगठन हैं। घटनाओं की विरलता और पात्रों की सीमित संख्या जैनेंद्र की कहानियों की खास पहचान हैं।

अज्ञेय की मूल चिंता व्यक्ति-अस्मिता की चिंता है। आत्म-विश्लेषण और अस्मिता के प्रश्न उनकी आरंभिक कहानियों में दिखाई देते हैं। 'रोज़' अज्ञेय की प्रतिनिधि कहानी है, जो नई कहानी की पृष्ठभूमि के रूप में लिखी जाती है। 'शरणार्थी' विभाजन और सांप्रदायिकता पर आधारित कहानी है। अज्ञेय की कहानियों की सबसे बड़ी शक्ति है—उसकी भाषा, चित्रण की जीवंतता और उसकी मनोवैज्ञानिक गहराई। इस प्रकार जैनेंद्र और अज्ञेय ने प्रेमचंद की कथा-परंपरा से भिन्न होते हुए भी हिंदी कहानी को अधिक जीवंत और व्यक्त बनाया।

हिंदी कहानी का एक भाग प्रगतिशील आंदोलन से जुड़ा है। प्रगतिवादी कहानियाँ अपनी मूल प्रकृति में गरीब और शोषित जनता की कारुणिक दशा का चित्रण करती हैं। ऐसे कहानीकारों में राहुल सांकृत्यायन, यशपाल, भैरव प्रसाद गुप्त, अमृतराय, इत्यादि के नाम महत्त्वपूर्ण हैं।

इन वैचारिक प्रतिबद्धताओं के खिलाफ़ हिंदी के अत्यंत चर्चित और विवादास्पद कथा-आंदोलन '**नयी कहानी**' का जन्म होता है। 1956 ई० में भैरव प्रसाद गुप्त के संपादन में 'नई कहानी' नाम की पत्रिका का एक विशेषांक निकला। इसी विशेषांक के आधार पर अगली कड़ी की कहानियों को नई कहानी के नाम से संज्ञापित किया गया। नई कहानी ने परंपरागत कहानी के अंतर्वस्तु और शैल्पिक उपकरणों को अस्वीकार किया। मूलत: नयी कहानी का नयापन उस लेखकीय दृष्टिकोण में है, जो सन् 50 से विकसित हुई है। नई कहानी को वैचारिक आयाम प्रदान करने वाले प्रस्तावकों में **कमलेश्वर, मोहन राकेश** और **राजेंद्र यादव** का नाम प्रमुख है।

नई कहानी की महत्त्वपूर्ण घोषणाओं में आधारभूत घोषणा थी – (1) **अनुभूति की प्रामाणिकता**। कहानी विचारों से नहीं, रचनाकार के अनुभव से लिखी जाती है। इसलिए कहानी विचार के प्रति नहीं, अनुभव के प्रति जवाबदेह है। अत: नई कहानी प्रगतिवादी और मनोवैज्ञानिक दोनों प्रकार की कहानियों का निषेध करती है और भोगे हुए यथार्थ को अपने केंद्र के रूप में स्वीकार करती है।

नई कहानी (2) **रिश्तों के टूटने की त्रासदी** को व्यक्त करती है। सामंतवादी

व्यवस्था के खत्म होने और खास तरह के शहरी मध्यवर्ग के उदय के संबंधों की प्रकृति में बदलाव आया और संबंधों के भीतर टूटन का एक नया युग शुरू हुआ। नई कहानी ने बड़े पैमाने पर इस टूटन को अंतर्वस्तु के रूप में चित्रित किया। ऐसी कहानियों में उषा प्रियंवदा की 'वापसी' और भीष्म साहनी की 'चीफ की दावत' अत्यंत चर्चित रही हैं। 'वापसी' में एक रिटायर्ड आदमी की कथा है, जो घर आकर अपने को निहायत अतिरिक्त और फालतू समझने लगता है। 'चीफ की दावत' नये मनुष्य और परंपरागत मनुष्य के बीच आई दरकन को काफ़ी प्रभाव के साथ चित्रित करती है।

'नई कहानी' का सर्वाधिक बल (3) **स्त्री-पुरुष संबंधों में आए बदलाव** को चित्रित करने पर है। स्वातंत्र्योत्तर भारत में **स्त्री की आर्थिक स्वाधीनता और पुरुष के सामंती संस्कारों में टकराव** के कारण कई प्रकार के तनावों और सामाजिक समस्याओं का जन्म हुआ। तलाक और पर-संबंध समाज की नई विकृतियां थीं। संपूर्ण नई कहानी में स्त्री-पुरुष संबंधों का तनाव रचनात्मक स्तर पर प्रतिफलित हुआ है। इस तरह की कहानियों में निम्नांकित प्रमुख हैं –

एक और ज़िंदगी — मोहन राकेश
सावित्री नंबर दो — धर्मवीर भारती
यही सच है — मन्नू भंडारी
अपने-अपने ताजमहल — राजेंद्र यादव
राजा निरबंसिया — कमलेश्वर
लंदन की एक रात — निर्मल वर्मा

इस प्रकार नई कहानी की सामाजिकता बदल जाती है। प्रेमचंद पूरा समाज बदलना चाहते हैं, उनका कारण जानना चाहते हैं। पर नई कहानी पैदा हुई—नई परिस्थितियों के सामने आत्मसमर्पण करती है। यह उनसे टकराती नहीं, संघर्ष नहीं करती, उसे नियति के रूप में स्वीकार करते हुए उसमें विलीन हो जाती है।

नई कहानी (4) **यौन-नैतिकता की अवधारणा की पुनर्व्याख्या करती है**। वह मानती है कि **नैतिकता की व्याख्या यौन-संबंधों से नहीं** हो सकती। अतः सेक्स के प्रति नया दृष्टिकोण नई कहानी में विकसित हुआ, जो नैतिक कुंठा से मुक्त था। फलस्वरूप नई कहानी में यौन का स्वाभाविक चित्रण और व्यक्ति-स्वातंत्र्य का उदय हुआ।

कुछ कहानियाँ यौन-प्रसंगों के अतिरिक्त ठोस सामाजिक प्रसंगों के साथ अपने सरोकार और चिंता जाहिर करती हैं। ऐसी कहानियों में प्रमुख हैं –

दोपहर का भोजन – अमरकांत
ज़िंदगी और जोंक – अमरकांत

पिकनिक	–	भीष्म साहनी
गुलकी बन्नो	–	धर्मवीर भारती
मलबे का मालिक	–	मोहन राकेश

नई कहानी (5) **मध्यवर्गीय जीवन को संपूर्णता** में अपने भीतर धारण करती है। मध्यवर्गीय मनुष्य की आर्थिक परिस्थितियों, शहर की परिस्थितियों के कारण एवं अपनी जड़ों से उखड़ने और नई स्थिति में न जम पाने के कारण पैदा हुआ अकेलापन, अजनबीपन, तनाव, विडंबना, संत्रास, विसंगति, निरर्थकता बोध आदि को यह ब्यौरेवार चित्रित करती है। वस्तुतः नई कहानी मध्यवर्ग तक ही अपने को सीमित रखती है। यह न तो उच्च वर्ग से अपना रिश्ता जोड़ती है और न ही निम्न वर्ग से। यही नई कहानी को संकुचित करता है। मध्यवर्गीय जीवन की उपर्युक्त स्थितियों को अभिव्यक्त करने वाली कहानियों में निम्नलिखित कहानियाँ उल्लेखनीय हैं–

मिस पॉल, आर्द्रा	–	मोहन राकेश
मानस के हंस	–	कमलेश्वर
टूटना	–	राजेंद्र यादव
अकेली, मैं हार गई	–	मन्नू भंडारी

इस प्रकार नई कहानी का पूरा रचना-संसार ऐतिहासिक दबावों से उपजी एक नई सामाजिक ज़िंदगी की कथा है। इस सामाजिक ज़िंदगी में खास तौर पर संबंधों की त्रासदी और मानवीय जीवन की विडंबनाओं पर नई कहानी अपना ध्यान केंद्रित करती है। लेकिन इतिहास की उपज होकर भी नई कहानी इतिहास से मुठभेड़ नहीं करती। इसलिए संपूर्ण रचनात्मक लाघव के बावजूद सार्थकता के धरातल पर यह धारा हताश करती है।

(6) **कथा की संपूर्णता का ह्रास** नई कहानी की संरचनात्मक पहचान है। यह परम्परागत कथा-विधान को तोड़ देती है। जो परिवेश है, वही एक स्तर पर कथा हो जाती है। छोटी-से-छोटी घटना, क्षण, मूड के आधार पर नई कहानी लिखी जाती है।

(7) **समानांतर और दोहरे कथानकों की योजना** भी नई कहानी में की गई है। उदाहरण के लिए कमलेश्वर की कहानी 'राजा निरबंसिया'।

जयशंकर प्रसाद के बाद नई कहानी भाषा का सबसे सशक्त और सर्जनात्मक उपयोग करती है। एक स्तर पर इसकी भाषा लगभग **कविता की भाषा के आस-पास** दिखाई देती है। इसलिए नई कहानियों के शीर्षक में भी एक खास तरह की **प्रतीकात्मकता है। कुछ शीर्षक द्रष्टव्य हैं –**

फौलाद का आकाश,

गिलास टैंक,

उलझते धागे,
छोटे-छोटे ताजमहल,
खुले पंख, टूटे डैने,
ज़िंदगी और गुलाब के फूल, आदि।

नई कहानी की भाषा सामान्यत: (8) **बिंब-बहुला भाषा** है। प्रेमचंद के यहाँ भी बिंब हैं—कफ़न, पूस की रात आदि। पर उसमें कहानी नहीं है। प्रेमचंद की चित्रात्मकता काव्य-चेतना से पैदा न होकर जीवन के गहरे बोध से पैदा होती है। पर नई कहानी में यह काव्यात्मकता के धरातल पर दिखाई देती है। कुछ उदाहरण प्रस्तुत हैं—

क —पर्वतों से आए मेहमान पक्षियों से सफ़ेद दाँत
ख —हवा में चीड़ वृक्षों की सांय-सांय

समग्रत: नई कहानी ने अब तक के कुछ अछूते विषयों को कहानी का विषय बनाया तथा रचना को वैचारिक जड़ता से मुक्त कर उसे आनुभूतिक गरमाहट प्रदान की। भाषा में निहित रचनात्मक संभावनाओं का चरम उपयोग नई कहानी ने किया। इस प्रकार नई कहानी की विकासधारा में एक कड़ी जोड़ते हुए उसे एक नया आयाम देती है और वयस्कता प्रदान करती है।

नई कहानी के पश्चात् **अकहानी, सचेतन कहानी, सहज कहानी, समानांतर कहानी, सक्रिय कहानी** इत्यादि कथा-आंदोलनों से लेकर समकालीन कहानी तक की विकास यात्रा कहानी की बदलती मानसिकता को कायदे से रेखांकित करती है। ये आंदोलन दीर्घजीवी नहीं हुए, पर फिर भी इन्होंने हिंदी कहानी में महत्त्वपूर्ण स्थान बनाया।

छठे-सातवें दशक में 'नई कहानी' की प्रतिक्रिया और पश्चिम के 'एंटी स्टोरी' के अनुकरण में '**अकहानी आंदोलन**' का जन्म हुआ। सार्त्र और कामू की अस्तित्ववादी विचारधारा से प्रभावित इस आंदोलन ने नई कहानी की रोमानियत, आदर्शीकरण और काव्यात्मक भाषा का विरोध किया। वस्तुत: अकहानी सभी प्रकार की नैतिक मान्यताओं, आदर्शों एवं मूल्यों, विशेषत: स्त्री-पुरुष संबंधों में निहित नैतिक चेतना के खिलाफ़ विद्रोह करती है। यह अभिव्यक्ति की निरर्थकता, भाषा और भावों की अमूर्तता तथा व्यक्तित्व की विसंगति को प्रश्रय देती है।

अकहानीकारों ने घोषणा की कि कहानी का मूल लक्ष्य **व्यक्तित्व की खोज** है और इस लक्ष्य को भावुकता और विचार के बगैर पाया जाना चाहिए। पर व्यक्तित्व की खोज के रूप में अकहानी ने जैविकता की ही खोज की और बड़े पैमाने पर यौन-प्रसंगों का अश्लील चित्रण किया। इसने **आत्मपीड़न, संत्रास, मनुष्य की जैविक नियति**

इत्यादि नकारात्मक पक्षों को ही सत्य मानकर रचना की वस्तु के रूप में स्वीकार किया। फैंटेसी, डायरी, एकालाप और असंबद्ध आत्मप्रलाप का शिल्प इस्तेमाल करने वाली इस कहानी में एक अजीब प्रकार की शैल्पिक अराजकता दिखाई देती है। कुल मिलाकर इस कहानी-आंदोलन की कोई रचनात्मक या सामाजिक संभावना दिखाई नहीं देती। **जगदीश चतुर्वेदी, श्रीकांत वर्मा, रवींद्र कालिया, दूधनाथ सिंह, परेशा** इत्यादि अकहानी आंदोलन के प्रमुख कहानीकार हैं।

अकहानी की प्रतिक्रिया में कथाकार महीप सिंह के नेतृत्व में '**सचेतन कहानी**' आंदोलन का प्रादुर्भाव हुआ। सचेतन कहानी ने अँधेरे सुरंग में फंसी हिंदी कहानी को खींचकर प्रकाश में जीवन के सरोकारों में ले आने का काम किया। सचेतन कहानी की मूल घोषणा थी–'सचेतनता एक दृष्टि है, जिसमें जीवन जीया भी जाता है और जाना भी जाता है।' नई कहानी जीवन जीने का चित्रण तो करती है, जानने का चित्रण नहीं करती। जानना मनुष्य होने की अनिवार्य शर्त है, जिससे जड़ स्थितियों में परिवर्तन की शुरुआत होती है।

सचेतन कहानी सक्रिय भावबोध की कहानी है। महीप सिंह के अनुसार यह जीवन की स्वीकृति की कहानी है। इस कहानी ने जीवन और रचना के बीच फिर से रिश्ता जोड़ने की कोशिश की और स्वस्थ रचनात्मकता का द्वार खोला। इसके मुख्य रचनाकार हैं–

महीप सिंह – सुबह के फूल, उजाले के उल्लू, घिराव
हिमांशु जोशी – आदमी जमाने का
मनहर चौहान – बीस सुबहों के बाद
सुदर्शन चोपड़ा – हल्दी के दाग
रामदरश मिश्र –
गंगा प्रसाद विमल –

शीर्षक से ही लगता है कि सचेतन कहानी किस प्रकार कहानी को जैविकता के दलदल से खींचकर जीवन की ठोस ज़मीन पर खड़ा कर देती है। यही सचेतन कहानी का योगदान है।

अमृतराय ने '**सहज कहानी**' की शुरुआत की। सहज कहानी का सचेतन कहानी से कोई विद्रोह नहीं है। यह मानती है कि नई कहानी की खोज में कहानी खो गई। दूसरे शब्दों में कहानी में सहजता खो गई और कहानी सहज होनी चाहिए। सहज कहानी वैचारिक प्रतिबद्धता का तिरस्कार तो करती ही है, साथ-ही-साथ नारों का और कल्पित अनुभूतियों का भी विरोध करती है।

अक्तूबर 1974 से लेकर जुलाई 1984 तक के सारिका के दस अंकों में

'समानांतर कहानी' आंदोलन और बहस बड़े पैमाने पर चला। इस कहानी आंदोलन का महत्त्व इसकी रचनशीलता में नहीं है, बल्कि संपूर्ण हिंदी आलोचना को एक वैचारिक बहस में लपेट लेने में है, जिसने कहानी के कद को ऊँचा किया और हिंदी कहानी के विकास में योगदान किया।

अंतर्वस्तु के स्तर पर या शिल्प के स्तर पर समानांतर कहानी कोई बदलाव नहीं करती। लेकिन इसकी कुछ अपनी महत्त्वपूर्ण घोषणाएँ हैं—

1. समांतर कहानी में 'आम आदमी' को अपनी रचनात्मकता का आधार बनाया। इस कहानी के पुरस्कर्ताओं के अनुसार नई कहानी आम आदमी की बात नहीं करती।
2. ये कहानियाँ समय-संदर्भों में जन्म लेने वाली ज्वलंत प्रश्नों और यथार्थ से गहरा सरोकार रखती हैं।
3. समानांतर कहानी सही अर्थों में विषमतामूलक समाज का प्रामाणिक दस्तावेज़ है।
4. इन कहानियों का आम आदमी सांस्कृतिक निरीहता के खिलाफ लड़ाई में जुटा हुआ बताया गया है।

इस प्रकार समानांतर कहानी ने हिंदी कहानी को आम आदमी के चित्रण और सामाजिक सरोकारों से जोड़ने का काम किया। कमलेश्वर, कामतानाथ, मधुकर सिंह, सतीश जमाली, मृदुला गर्ग इत्यादि समानांतर आंदोलन के प्रमुख रचनाकार हैं।

राकेश वत्स के नेतृत्व में मंच 78 पत्रिका के माध्यम से **सक्रिय कहानी**–आंदोलन की धारणा का सूत्रपात हुआ। इसके अनुसार सक्रिय कहानी का सीधा और स्पष्ट मतलब है—आदमी की सर्जनात्मक ऊर्जा और जीवंतता की कहानी। सक्रिय कहानी उस समझ, इतिहास और बोध की कहानी है, जो आदमी को बेबसी, वैचारिक निहत्थेपन और नपुंसकता से निजात दिलाकर, पहले स्वयं अपने अंदर की कमज़ोरियों के खिलाफ़ खड़ा होने के लिए तैयार करने की ज़िम्मेदारी अपने सिर लेती है। राकेश वत्स, सुरेश सेठ, राजकुमार सैनी, चित्रा मुद्गल इत्यादि 'सक्रिय आंदोलन' के प्रमुख कहानीकार हैं।

'नई कहानी' से लेकर 'सक्रिय कहानी' तक की कहानी के केंद्र में 'नई कहानी' ही है। इसी के समर्थन या विरोध में सभी आंदोलन चले। नई कहानी द्वारा प्रस्तावित रचना-मूल्य और रचना-शिल्प का विकास आगे होता रहा। धीरे-धीरे मध्यवर्ग के संकुचन से निकलकर आम आदमी की कहानी बनी।

सन् 80 से लेकर आज तक की कहानी के दौर को इतिहास में **'समकालीन कहानी'** के रूप में जाना गया है। समकालीन कहानी किसी भी प्रकार की घोषणाबाजी

से परहेज़ करती है। इन कहानीकारों ने घोषणाओं की निरर्थकता को पहचान लिया था, जो रचनाशीलता का क्षरण करती हैं और व्यक्ति को ग्लैमराइज करती है।

समकालीन कहानी रचना की निश्चित प्रकृति तय नहीं करती। रचना-क्षेत्र जीवन की तरह जटिल, बहुआयामी और यथार्थपरक हो गया है, इसलिए इसकी निश्चित प्रकृति तय नहीं हो सकती।

समकालीन कहानी अपने को समय के प्रति जवाबदेह मानते हुए सिर्फ़ चित्रण ही नहीं करती, टिप्पणी भी करती है, इसलिए वह सचेत रचनाकर्म का प्रमाण है।

समकालीन कहानी में चमत्कार प्रदर्शन का कोई स्थान नहीं है। यह कहानी अपनी अंतर्वस्तु के अनुरूप घटनाओं, पात्रों, दृश्यों और भाषा का विधान करती है। जीवन के अत्यधिक निकट होने के कारण समकालीन कहानी में कई-कई बार रचनाहीनता का अहसास होता है और इसलिए हिंदी आलोचना में यह आवाज़ उठाई गई है कि कहानी की रचना अब बंद कर देनी चाहिए। साथ ही, संचार माध्यमों के अप्रत्याशित विस्फोट के इस युग में समकालीन कहानी का पाठक वर्ग संकुचित हुआ है। फिर भी इस बात में संदेह नहीं है कि जीवन की प्रामाणिकता की तलाश में इतिहास को समकालीन कहानियों की दुनिया में ही लौटना होगा। इस दौर के प्रमुख कहानीकार हैं—

उदय प्रकाश — तिरिछ, रामसंजीवन की प्रेम कहानी,
पालगोमरा का स्कूटर, पीली छतरी वाली लडकी

शेखर जोशी — कोसी का घटवार

अब्दुल बिस्मिल्लाह — लंठ

देवी प्रसाद मिश्र — सुलेमान कहाँ हैं, रात

अन्य कहानीकारों में बलराम, संजीव, प्रभा खेतान आदि हैं।

नवगीत : स्वरूप और प्रवृत्तियाँ

नवगीत के अंकुरों के विकसित-प्रस्फुटित होने की पृष्ठभूमि सन् 1950 और 1960 के काव्य-परिदृश्य ने उपस्थित की है। इस दशक की हिंदी कविता का परिदृश्य कई दृष्टियों से जटिल है। 'निराला' आरंभ से ही अपने गीतों को एक वस्तुपरक भूमि पर स्थापित कर रहे थे। 'गर्म पकौड़ी' और 'बाह्मन का लड़का' जैसे उनके गीत सन् 1942 के आस-पास ही इसका संकेत दे चुके थे। बाद में 'भीख माँगता है। जब राह पर/मुट्ठी भर हड्डी का यह नर', 'जल्द-जल्द पैर बढ़ाओ, आओ, आओ', 'बान कूटता है', 'खेत जोतकर घर आए हैं', 'ऊँट बैल का साथ हुआ है', 'मानव जहाँ बैल घोड़ा है' जैसे गीतों ने झटका देकर गीत के गिर्द बुनी हुई 'स्वानुभूति की विवृत्ति' की रूढ़ि को तोड़ दिया। नवगीत के इतिहास और स्वरूप—दोनों का सूत्र हमें यहाँ से प्राप्त

हो जाता है। सन् 1950 और 1960 में विश्व मानव जहाँ पहुँचा था, वहाँ आधुनिक दृष्टि को अनदेखा नहीं किया जा सकता। इस दशक में हम जिस मोहभंग से गुज़रे थे, वह हमें तटस्थ नहीं रहने दे सकता था, समाज जिस वर्ग-विभाजन से त्रस्त था, उस शोषण-व्यवस्था से कविता आँख नहीं मूँद सकती थी, घर, परिवार और समाज को समय के जो आघात लग रहे थे, उनकी उपेक्षा केवल शाश्वततावाद के मोह में नहीं की जा सकती थी। आजादी के साथ जो उन-संवेदना जागृत हुई थी, लोक हमारी चेतना का हिस्सा बना था, आदिवासी स्थितियाँ और लोकरंग हमारे अनुभव के अंग बने थे, उन्हें कविता से अनुपस्थित नहीं रखा जा सकता था। पर हिंदी का पारंपरिक गीत इन सभी स्थितियों से आँख चुराकर एक अवास्तविक दार्शनिक के खोल में लिपटा हुआ आत्माभिव्यक्ति का राग अलाप रहा था। ऐसे गीत की प्रासंगिकता निरंतर घट रही थी। नवगीत का उद्भव इन्हीं परिस्थितियों में हुआ है। पाँचवें और छठवें दशक में युगबोध के प्रति सजगता, समष्टि उन्मुखता एवं वस्तुपरकता नए गीत के अनुभव के अंग बने, दूसरी ओर रागात्मकता को कविता और गीत की अनिवार्यता स्वीकार करते हुए नवगीतकार ने उसे अपनी रचना में समाविष्ट किया। अतएव कहा जा सकता है कि नवगीत **प्रगतिशील चेतना, आधुनिकताबोध, लोकसंवेदना और रागात्मक आवेश के संश्लेषण से तैयार हुआ रसायन** है। किसी भी युग की कविता के मूल और व्यावतर्कक धर्म की श्रेणीबद्ध और एकरस अभिव्यक्ति नहीं हुआ करती, बल्कि उसके व्यक्तित्व के अनेक युगानुरूप आयाम होते हैं और महत्त्वपूर्ण यह भी है कि कोई प्राणवान् कविता-धारा जड़ और विषय की दृष्टि से एकांगी नहीं होती, अपितु उसका सतत् विकास होता है। नवगीत काव्यधारा, प्राणवान, विकसनशील एवं विविधतामुखी काव्यधारा है। अध्ययन की सुविधा के लिए निम्न रूप से वर्गीकृत कर सकते हैं :

1. लोक संवेदनाओं का गीत, 2. जनाकांक्षाओं का गीत, 3. जातीय संस्कारों का गीत, 4. घर की संवेदना का गीत, 5. नवीन ग्राम-बोध का गीत, 6. मध्यवर्गीय नागरिक संघर्ष का गीत, 7. प्रकृति के नवदर्शन का गीत, 8. उत्तर शती के आधुनिक और उत्तर आधुनिक संदर्भों का गीत।

यदि नवगीत का विश्लेषण इसके ऐतिहासिक विकास के समानांतर किया जाए तो इसके विषयगत वैविध्य को और भी सरलता से समझा जा सकता है। सन् 1950 से 1965 तक हिंदी गीत में लोक संवेदनाओं की प्रमुखता रही है जबकि 1965 से 1985 तक काव्य में ग्राम चेतना के समानांतर महानगरीय जटिलताएँ भी नवगीत का विषय बनी हैं। नवगीत का परवर्ती दौर उदारीकरण भूमंडलीकरण एवं उत्तरआधुनिकता से भी प्रभावित हो रहा है।

नवगीत के आरंभिक दौर में लोक संवेदनाओं की अभिव्यक्ति के कारण बहुत

स्पष्ट हैं। स्वतंत्रता के बाद देश की मिट्टी की पहचान के प्रयास में आंचलिकता हिंदी साहित्य में विशेष रूप से उभरने वाली प्रवृत्ति थी। कथा साहित्य और कविता दोनों में इसकी उपस्थिति है। जिसे हम नई कविता का गीत कहने के अभ्यस्त हो चुके हैं, वस्तुतः वह लोकरंग का ही गीत है। अज्ञेय का गीत 'काँगड़े की छोरी हो' या भवानी भाई का गीत 'पीके फूटे आज प्यार के' या केदारनाथ सिंह का 'रात पिया पिछवारे...' गीत हो या शंभुनाथ सिंह का 'टेर रही प्रिया' गीत हो या सर्वेशरदयाल सक्सेना के गीत हों, सभी में इस लोकरंग की उपस्थिति है। इस प्रवृत्ति का परिपाक ठाकुर प्रसाद सिंह की कृति 'वंशी और मादल' में होता है। परंतु यह लोकपरक धारा – आदिम जीवन के चित्रण की यह धारा – अपनी ताज़गी से एक बार सराबोर कर, सातवें दशक में मंद हो जाती है, कुछ-कुछ रूपांतरित भी, और यह कहना कतई संभव नहीं रहता कि सन् 1965 के बाद नवगीत ठाकुर प्रसाद सिंह की परंपरा का नवगीत है। सन् 1949 से 1962 तक के निराला के जिन गीतों की चर्चा हमने की है, उसका विकास जनाविमुख गीत में होता है, जो लोकपरक प्रकृति की रमणीयता की अपेक्षा संघर्ष के साथ अधिक जुड़ा है, और जो प्रकारांतर से शोषणजन्य व्यवस्था को चुनौती दे रहा है। यदि वीरेंद्र मिश्र, माहेश्वरी तिवारी, ओम प्रभाकर, उमाकांत मालवीय और देवेंद्र कुमार के सन् 1960 और 1980 के बीच के गीतों को देखा-परखा जाए, तो स्पष्ट हो जाता है कि ये कवि पूर्ववर्ती गीत की आदिवासी जीवन के चित्रण की प्रवृत्ति को दुहरा नहीं रहे थे, बल्कि वे मध्यवर्गीय जीवन को अधिक मुखर कर रहे थे। इन्हीं के समानांतर शिव बहादुर सिंह भदौरिया तथा नईम और बाद में गुलाब सिंह, अनूप अशेष तथा श्यामसुंदर दूबे नए ग्राम-बोध के गीत लेकर आते हैं। पर यह ग्राम चेतना सन् 1950 और 1960 के बीच की लोक-संवेदना से ज़मीन-आसमान का अंतर रखती है। दोनों के स्वरूप को समझने के लिए दो उद्धरण देख लेना उचित होगा–

1. सूनी तलैया की ओट में/ डूबा दिया चोट ने
   तीर लगे घायल कुरंग-सा/ मन लगा लौटने
   जामुन-सी काली इन भौंहों की छाँह में
   डूबे हम जा रहे / कब से हम गा रहे।

   – ठाकुर प्रसाद सिंह

2. द्वार पर तहसील-सी धमकी हवा
   नीलानियों के इश्तिहार
   पांव से सिर तक / लपेटे हुक्म
   दर न छोड़ने के संस्कार

कुएँ में ठहरा हुआ सूखा / पिपासी गाम
बंधु, हम खुलकर नहीं करते।

— अनूप अशेष

प्रथम उद्धरण की बिंब-योजना और संवेदना अनाधघ्रात क्षेत्रों का उद्घाटन करने के कारण तो मन को छूती है पर इसमें गाँव-देहात के जीवन की कष्टकारक संघर्षमयता की झलक दूर-दूर तक नहीं है और 'निराला' को छोड़कर यह उस काल के संपूर्ण गीत में अनुपस्थित है पर बाद में नवगीत ने गाँव की जो व्यथा-कथा कही है, उसका प्रसारण 'अशेष' की उपर्युक्त पंक्तियों में ही नहीं, गत तीस वर्षों में अनेक नवगीतकारों के शताधिक गीतों में मिलती है।

नवगीत के स्वरूप का व्यापक परिचय प्राप्त करने के लिए यह उचित होगा कि इसकी पूर्वोल्लिखित प्रमुख प्रवृत्तियों का पृथक विवेचन किया जाए।

1. **लोक-संवेदनाओं की अभिव्यक्ति** नवगीत में किस रूप में हुई है, इसका उल्लेख पीछे किया जा चुका है। नवगीत के आरंभ में इस प्रवृत्ति ने जहाँ शिल्पगत ताज़गी दी है, वहीं गीत की बँधी-बँधाई परिपाटी को तोड़ा है, उसे विषयगत विस्तार प्रदान किया है। गीत का बदलता अप्रस्तुत विधान भी तब उसे लोक-संवेदना से जोड़ रहा था। यथा :

तन कातिक मन अगहन / बार-बार हो रहा
मुझमें तेरा कुआर / जैसे कुछ कह रहा।

—देवेंद्र कुमार

पारंपरिक गीत की तुलना में यह स्वर बहुत नया था।

2. **उत्तरशती के गीत की सबसे बड़ी सार्थकता** इसका **जन आकांक्षाओं की अभिव्यक्ति** में समर्थ होना है। चौथे दशक से ही सैद्धांतिक रूप में वामपंथी साहित्य की सर्जना का शोर तो बहुत मचा पर वास्तव में जनभावनाओं से जुड़ने वाला साहित्य थोड़ा ही था। नवगीत सीधे-सीधे जनपक्षधरता का काव्य है। आम आदमी के सपनों की जितनी पैरवी नवगीत में दिखलाई देती है, उतनी सर्जनात्मक स्तर पर—काव्य-संवेदना के स्तर पर किसी अन्य काव्य-रूप में दिखलाई नहीं देती। नवगीतकार ने बहुत सादगी से, बिना बड़बोलापन दिखाए, जनजीवन के भीतर पैठ की है और उसके सुख-दुख को सहलाया-अपनाया है। रमेश रंजक के गीतों में वह सादगी साकार हुई है—

हल्दी भरे हाथ की थापें मारकर
जाने क्या लिख गई अमावस लिपि-पुती दीवार पर
तोड़ गयी मज़दूरी मकड़ी का फीता झीना
आले में रख गई सुनहरी झुमका चमकीला

गेंदे की मेहराब सजाकर द्वार पर।

आम आदमी की जात, उसकी औकात, उसके ठिकाने और नाम-पते को नवगीत में वर्गीकृत नहीं किया गया। वह शहर का भी है, गाँव का भी। मज़दूर भी है, किसान भी। उसकी भाषा-बोली बनावटी नहीं, सहज है। निम्न गीतांश में जनकांक्षा का प्रतिबिंब इसका साक्षी है–

छोड़ आए थे जिसे हम खेत में
पक गई होगी सुनहली धान।
और हँसिये को छुआ होगा
कुँवारी उँगलियों का नेह

नवगीतकार ने आम आदमी के दुख-दर्द को व्यंग्य की तुर्शी के साथ भी अभिव्यक्ति दी है। असामाजिक तत्वों के विद्रुप चेहरों को भी उसने अनावृत्त किया है। विसंगतियों का यह चित्र अन्य समसामयिक काव्यधाराओं से बोध और शिल्प – दोनों दृष्टियों से अंतर रखता है–

ज्योति पुत्र दहलाने वाले / जितने खंभे गड़े हुए हैं
उतना घना अँधेरा है
गांधी की भी एक मूर्ति है इस बस्ती में
यहाँ मवाली जुड़ते / ठर्रे की मस्ती में
पल-पल बदबू ढोने वाले इस हड़ताली नाले के
उस पार, हमारा डेरा है।

—भारतेंदु मिश्र

3. **जातीय संस्कारों की अभिव्यक्ति** भी नवगीत का प्रमुख स्वर है। यहाँ जातीय संस्कारों को केवल हिंदू संस्कार समझ लेने की भ्रांति न की जाए। नवगीत सही मायनों में सेक्यूलर (लोकाचार का) काव्य है। भारतीय जनमानस से जुड़ा होने के कारण इसमें लोकाचारों को प्रमुखता मिली है। नवगीत का सांस्कारिक मन न इसके प्रतिगामी होने की पहचान है और न प्रगति विरोधी होने की। नवगीत की सांस्कृतिक चेतना घर-परिवार के साथ जुड़ी है। यह चेतना धर्मवीर भारती के ऐसे गीतों की परंपरा में भी विकसित हुई है :

गोरी-गोरी सोंधी धरती कारे-कारे बीज / बदरा पानी दे
मैं बोऊँगी मीर-बहूटी / इंद्रधनुष सतरंग
नए सितारे, नई पीढ़ियाँ / नये धान का रंग
हम बाएँगे हरी चुनरियाँ, कजरी, मेंहदी
राखी के कुछ सूत और सावन की पहली तीज / बदरा पानी दे।

नवगीतकार का संस्कार-संपन्न मन कहीं-कहीं अतीतव्रती भी हुआ है, पर वह अतीतमन छायावादी कतई नहीं है। यहाँ अतीत वर्तमान की विसंगतियों की व्याख्या करता है, उसकी शल्य क्रिया का औज़ार बनता है। यथा :

समय अब सहमत नहीं / पूछती सीमांत की टूटी शिला
सर्प-यज्ञ समाप्त कब का हो गया / किंतु मंत्रों का मुखबिर क्यों सिलसिला
सुनो जनमेजय कि समिधा रोक दो / आज तक्षक हुआ शरणागत नहीं

डॉ० शंभुनाथ सिंह के गीतों में पुरातात्विक संदर्भ एक गंभीर जातीय संवेदना लिए हैं। वहाँ भी वे कोरे बिंब भर नहीं हैं, अपितु प्रतीकधर्मिता उन्हें अर्थगत व्यापकता देती है। यह अंश इसका उदाहरण है :

उत्खनन किया है मैंने / गहराई तक अतीत का
सिंधु सभ्यता ये अब तक / मुझको एक ही स्वर मिला
ईंट पत्थरों के घर थे / सोने का नहीं घर मिला
युद्धों के अस्त्र मिले पर / वृत्त नहीं हार जीत का

नई पीढ़ी को देने के लिए एक सांस्कृतिक परंपरा नवगीतकार के पास है। वह अपना वसीयतनामा इसी रूप में लिखता है–

जो भी पास हमारे / सब कुछ है नाम तुम्हारे
दूध, दही, गोरोधन, अक्षत, घृत, तुलसी
मंत्रवती परंपरा वैसंदर झुलसी
रात के अँधेरे में बाढ़ घिरे पुल-सी
मरी हुई नागिन की जीवित केंचुल-सी
दादी के आँचर के दाख छुहारे / दादा की पगड़ी के सैंद कहारे
सब कुछ है नाम तुम्हारे।

–देवेंद्र शर्मा 'इंद्र'

4. **पारंपरिक गीत का कथ्य** मुख्यतः विरह-मिलन अथवा एक कृत्रिम दार्शनिकता है। नवगीत जीवन की साधारणता में, सहजता में संबंधों की ऊष्मा खोजता है। रीतिकाव्य में ही नहीं, इस शती के गीत में भी संबंधों को प्रायः नायक-नायिका के घेरे में बाँध दिया गया है। पर नवगीतकार ने रिश्तों की सहज बनावट को केंद्र में रखा है, उसमें संस्कारों में रचा-बसा घर ही प्रमुखतः प्रतिबिंबित है। इस चित्रण में सहज उल्लास भी है और अपरिहार्य उदासी भी। दिनेश सिंह के गीत का यह अंश इसका उल्लेख उदाहरण है–

दुख मेरे मैके से आया / सासू का बड़बोला जाया
सुख की खेती जोते बोए / बसंती आठ पहर रोए

'भूखिया' ना अंगरेज़ी जाने / चूल्हे की रोटी पहचाने
सेन्हुर के रंग सनी बड़की / तानों की पिचकारी ताने
रंग धुले छिन-छिन पर काया / जूठी थाली जैसी माया
माह की सुधि-हिया करोदे / बसंती आठ पहर रोए

घर की एक तस्वीर ऊपर की पंक्तियों में है। इसकी एक दूसरी तस्वीर अवध बिहारी श्रीवास्तव के गीत में यों उभरी है–

वैसे तो माटी-माटी है / मेरे वाला वह घर
लेकिन यादों का राजमहल / उस घर का कोना-कोना है
भाभी की चपल ठिठोली / माँ के आँचल की छाया है
दादी की परीकथा का वह जादू है, वह रोना है।

ओम प्रभाकर और उमाकांत मालवीय के गीतों में घर-परिवार के सहज चित्र अत्यधिक भावप्रवण रूप में उभरे हैं। उनके बाद की पीढ़ी में यह परंपरा सार्थक सर्जना के रूप में कुमार रवींद्र, कुँवर बेचैन और बाद में आए, यश मालवीय के गीत इसका प्रमाण हैं। उमाकांत मालवीय के गीत का यह अंश परिवार का और बिंब प्रस्तुत करता है–

टूटे आस्तीन के बटन / या कुर्ते की खुले सियन
कदम-कदम पर मौके याद तुम्हें करने के
आठ पहर एक यही काम रहा ले-दे-के
फूल नहीं बदले गुलदस्तों के / धूल मेज़पोश पर जमी हुई
जहाँ-तहाँ पड़ी दस किताबों पर / घनी-सी उदासियाँ थमी हुई
पोर-पोर टूटता बदन, कुछ कहने-कहने का मन...

5. आंचलिकता एवं लोकसंवेदना के चित्रण को कई आलोचक ग्राम-बोध के साथ रखते हैं, परंतु नवगीत में ग्राम-संदर्भ अलग विवेचन की अपेक्षा रखते हैं। शिव बहादुर भदौरिया, नईम, गुलाब सिंह, अनूप अशेष, श्याम सुंदर दूबे, उर्मिलेश और प्रस्तुत लेखक के गीतों में गाँवों का रोमानी चित्र नहीं है, अपितु गत दशकों में पनपने वाले राजनैतिक-आर्थिक शोषण-व्यवस्था के क्रूर उत्पीड़न का दंश गाँवों को झेलना पड़ा है। नवगीत में इस अन्याय एवं उत्पीड़न का प्रभावपूर्ण चित्रण हुआ है। छठे दशक में 'निराला' अपने गीतों में प्रेमचंद का 'गोदान' इस प्रकार लिख रहे थे–

गहरी विभावरी शीत की / काँपी वाले से अरहर की डाली
गुनागरी शीत की गहरी विभावरी
मटर-चने कुछ काम न आए / जौ गेहूँ लड़ते अरगाए

माचे पर किसान का कूकर / मुँहकाया सिहरी शीत की गहरी विभावरी
सूख गया किसान एकाकी / रोया, रहा न लेखा बाकी
दुहरी डगर भरी / शीत की विभावरी।

इसी परंपरा में बाद में नवगीत ने किसान की व्यथा-कथा को विशेष रूप से अंकित किया है। 'जलती यहाँ वहाँ बुझ जाती आँच अलावों की / गोरी कभी साँवली दिखती काया गाँवों की', 'गाँव मेरा लाठी और भैंस की कहावत है' (गुलाब सिंह), 'धान जब भी फूटता है गाँव में / एक बच्चा दुधमुँहा किलकारियाँ भरता हुआ / आ लिपट जाता हमारे पाँव में, (बुद्धिनाथ मिश्र), 'धारा ऊपर तैर रहे हैं सब खादर के गाँव' (राजेंद्र गौतम) जैसे वे अनेक संदर्भ नवगीत में उपलब्ध हैं, जिनमें गाँव की दशा का प्रामाणिक चित्रण है। नईम के कई गीत गाँवों की व्यथा-कथा को साकार करते हैं। यथा–

साहूकारों के सुराज में / निया गए परदेश ब्याज में
सूफी प्रेम पीर ढोए हैं / ज्ञानी इकटक घूरे
होरी गोबर से उकताए / बलचनमा घर लौट न पाए
ठुमरी भूली ठसक तराने / आधे और अधूरे।

गाँव के ये अनुभव शहर में बस जाने वाले गीतकारों को 'हाँट' भी करते हैं। तभी तो माहेश्वर तिवारी लिखते हैं–

'चिट्ठियाँ भिजवा रहा है गाँव / अब घर लौट आओ।'

6. नवगीत में मध्यवर्गीय जीवन का संघर्ष भी प्रमुखता से व्यक्त हुआ है। वीरेंद्र मिश्र का अधिकांश गीत-संसार इसी चेतना की बस्ती है। त्रिमुखी पीड़ा से आरंभ कर वे महानगरीय जीवन के अनेक अनुभवों को व्यक्त करते हैं। कुँवर बेचैन के दो संग्रहों–'दिन बहुत सारे' और 'भीतर साँकल, बाहर साँकल' में अभिव्यक्त मध्यवर्गीय चेतना को हिंदी पाठक भुला नहीं सकता। वीरेंद्र मिश्र के निम्न गीतांश से इस प्रवृत्ति को पहचाना जा सकता है–

रोटी की आयु बड़ी छंद की अवस्था में
इसी लिए शब्दों का युद्ध है व्यवस्था में
लाभ अँधेरे में नाप रहे व्यापारी
मृत्यु के महोत्सव में रस की ठेकेदारी
विष से है सराबोर अमृता सुराही।

योगेंद्रदत्त शर्मा ने मध्यवर्गीय जीवन की टूटन को प्रतीकों के माध्यम से यों व्यक्त किया है–

चाँदनी ने गंध अपनी / कौड़ियों में बेच दी है! त्रासदी है
झुर्रियों, शिकनों लकीरों से ढका हर एक चेहरा

दृष्टियों का अजनबीपन हो रहा हर रोज़ गहरा
खोखलेपन के वजन से 'पीठ' आदमी की लदी है त्रासदी है

7. नवगीत काव्य का एक बहुत बड़ा हिस्सा प्रकृतिमय है तथापि वह उस रूप में प्रकृति काव्य नहीं है। एक रूप में छायावाद को माना जाता है। **प्रकृति को** सूक्ष्म दर्शन की अभिव्यक्ति का माध्यम बनाने की अपेक्षा नवगीतकार ने उसे **परिवेश के समानांतर एक व्यक्तित्व प्रदान किया** है। इसी रूप में वह कवि और समाज का समन्वित अनुभव बन जाता है।

कन्हैया लाल नंदन के इस गीतांश में बादल से किया गया आग्रह इसी प्रवृत्ति का संकेतक है—

बिन बरसे मत जाना रे बादल / बिन बरसे मत जाना
मेरा सावन रूठ गया है / मुझको उसे मनाना रे बादल
एक अपरिचित आँगन में तुलसी के दल बोए,
फँसे कुशंकाओं के जंगल में / चुपचुप रोए,
चुप-चुप रोना भर असली है / बाकी सिर्फ़ बहाना रे बादल।

मौसम की कहानी नवगीत ने प्रकृति की जुबानी कही है। इस कथा में प्यार के रंग हों या जन की भूख-प्यास, यह बात दूसरी है, पर प्रकृति का जितना विस्तृत फलक नवगीत में है, इतना किसी अन्य काव्य-धारा में नहीं। उल्लास और विषाद के अनेक मूड नवगीतकार ने प्रकृति के माध्यम से दर्शाए हैं। उत्फुल्लता का रंग निम्न पंक्तियों में निखरा है—

लौट आए 'गुलमुद्रा से दिन'...लौट आए
नभ...यों ज्यों खुला हो/...किसी का
गूँजता है स्वर प्रपातों का हँसी का
दूर तक जैसे कि कोई गुनगुनाए। —इसाक अश्क

8. शिल्पपरक प्रत्य...मनोहारी के साथ अपने युग के बोध के साथ स्वर मिलाने की सजगता नवगीत में निरंतर विद्यमान रही है। आधुनिकता के समस्त कोणों की अभिव्यक्ति तो नवगीत में है ही, उत्तरशती में उभरने वाली उत्तरआधुनिकता की प्रवृत्तियाँ भी नवगीत में हैं। जटिल आधुनिकता में समानांतर जीवन को रखने वाले 'तिवारी–त्रय' के गीतों के तीन अंश यहाँ विशेष रूप से दर्शनीय हैं—

(क) धूप थे, बादल हुए तिनके हुए / सैकड़ों हिस्से गए दिन के हुए
दफ़्तरों से लौट आया शहर / हम कहीं उनके हुए, उनके हुए।
—माहेश्वर तिवारी

(ख) आ गए काली नदी के दायरों में लोग-बाग
ज़िंदगी की वापसी की बात क्या होगी
एक गहराते हुए आतंक की परछाइयाँ लावा उगलती हैं
कौन जाने इस तरह कैसे हवाएँ / रोज़ अपने रूप बदलती हैं
हर तरफ़ मुखबिर अँधेरे चौकसी पर हैं
अब सुबह की रोशनी की बात क्या होगी।

—उमाशंकर तिवारी

(ग) झीलों ने बाँट लिए वन / राजा को खबर तक नहीं
पाप चढ़ा राजा के सिर / दूध की नदी हुई ज़हर
गाँव नगर धूप की तरह / फैली गई यह नई खबर
रानी हो गई बदचलन / राजा को खबर तक नहीं।

—श्रीकृष्ण तिवारी

उदारीकरण, उपभोक्तावादी, भूमंडलीकरण और सूचना युग के आगमन के साथ विषय के अंत की घोषणा की जाने लगी। 'पाठ' की निजता पर बल दिया जाने लगा। तब...ही चुनौती आ खड़ी हुई। नवगीत ने इस संदर्भ को निरंतर रेखांकित किया है। प्रस्तुत लेखक के गीत का अंश इसका उदाहरण है :

बहुत कठिन संवाद समय से / शब्द सभी पथराए
हमने शब्द लिखा था रिश्ते / अर्थ हुआ बाज़ार
कविता के माने चाकू है / संवेदन व्यापार
भटकन की उँगली थामे हम / विश्वग्राम तक आए।

जीवन भयंकर रूप से यंत्रीकृत होता जा रहा है। संबंध तो छीने ही हैं, संवेदनाओं को भी नीलाम किया जा रहा है। इस दौर में मूल्य विपर्यास का नाम ही चतुर्दिक हो रहा है। नवगीतकार ने इस संदर्भ को यों व्यक्त किया है—

महानगर में अब के सावन / मना इस तरह तीजा
एक किलो वीरन ले आई / आधा किलो भतीजा
टका सेर थे बाबुल भी / झोला भरकर ले आती
अधनंगी बस्ती में घर है / उनको कहाँ बिठाती
कचरे में फिंकवा देता वो वर्दी वाला जीजा।

—महेश अनघ

इस प्रकार हम देखते हैं कि नवगीत आज अपने समय की जिह्वा है। वह युगबोध को समग्रता से व्यक्त कर रहा है। काव्य-तत्व को अक्षुण्ण रखकर समय के सत्य का उद्घाटन करने का महत् कर्म नवगीत कर रहा है।

नवगीत–2

नवगीत समकालीन हिंदी कविता का विशेष काव्यांदोलन है। छायावादोत्तर काल की रचना प्रवृत्तियों से यह स्पष्ट होता है कि उसमें समूचे छायावाद के ही निषेध का प्रयास दिखाई पड़ता है। अज्ञेय द्वारा गीत को 'गतानुगतिक रचना' कह देने से गीतकारों ने गीत लिखना लगभग छोड़ दिया था। ऐतिहासिक विकास-क्रम की दृष्टि से देखा जाए तो छायावाद से प्रगतिवाद तक गीत लिखने की परंपरा चलती रही। प्रयोगवाद और नई कविता के दौर में यह परंपरा अवरुद्ध हो गई थी, परंतु नई कविता के बाद गीत पुन: लिखे जाने लगे, जिस पर छायावादी रोमानियता का प्रभाव नहीं था। इसे ही 'नवगीत' कहा गया है। सियाराम शरण ने इसे 'आज का गीत' बालस्वरूप राही, नगेंद्र एवं शंभूनाथ सिंह ने 'नया गीत' कहा है। गीतांगनी के संपादकीय में राजेंद्र सिंह द्वारा 1950 के बाद लिखे जाने वाले गीतों को 'नवगीत' की संज्ञा दी गई है। नवगीत के रचनाकारों में राजेंद्र प्रसाद सिंह, केदारनाथ सिंह, बालस्वरूप राही, शंभूनाथ सिंह, डा० रवींद्र भ्रमर, वीरेंद्र मिश्र, शेरजंग गर्ग, मणि मधुकर, रमानाथ अवस्थी तथा नरेश सक्सेना अग्रगण्य हैं।

नई कविता यह दावा करती है कि गीतों की रचना समकालीन युग-बोध एवं युगाभिव्यक्ति के नितांत प्रतिकूल है। यह सत्य है कि आज के व्यक्ति के सुख-दुख, राग-विराग की संवेदना आदिकालीन मानव की तरह प्रत्यक्ष, सीधी और आवेगात्मक नहीं है – उसमें बौद्धिक युग की बहुत-सी जटिलताएँ आ गई हैं। इसलिए आज की संवेदना आदिकालीन, मध्ययुगीन और आधुनिक काल के रूमानी गीतों की तरह एक वेग से न फूटकर आंतरिक अनुशासन से चलती है। इसी कारण, अज्ञेय, नामवर एवं धर्मवीर जैसे चिंतक नवगीत को जहाँ नयी कविता से अलग अस्तित्व मानने के पक्षधर हैं वहीं भवानी प्रसाद मिश्र, रामदरश मिश्र, रवींद्र भ्रमर तथा माहेश्वर तिवारी जैसे विद्वान इसे नई कविता का पूरक घोषित करते हैं। ठाकुर प्रसाद सिंह के अनुसार–"नई कविता की बौद्धिकता तथा नए गीतों की हार्दिकता को परस्पर एक-दूसरे का पूरक मानते हुए भी यह स्वीकार करने में कोई हिचक नहीं होनी चाहिए कि ये दोनों दो परिस्थितियों और मन:स्थितियों के काव्य हैं।"

नवगीत में न तो छायावादी कल्पना लोक एवं आध्यात्मिक भावबोध है न प्रगतिवाद के समान मार्क्सवाद का राजनैतिक आधार। यह जीवन के विसंगतिमय यथार्थ एवं व्यक्ति के आहत अनुभवों के वैसे ही चित्र उभारता है जैसे नई कविता। नई कविता जिस युग यथार्थ को मुक्त छंदों में देखती है नवगीत उसे लयात्मक बोध देता है तथा छायावादी किस्म के अति वैयक्तिक वायवीय रोमानी गीतों के स्थान पर

लोक-चेतना एवं लोक-धुनों को गीतों का आधार बनाता है। इसलिए नई कविता को तीव्र काव्यात्मकता प्रदान करने पर श्रेय नवगीत को है, जिसकी निम्नलिखित विशेषताएँ हैं—

1. **सौंदर्य के प्रति नया दृष्टिकोण** : नवगीत ने सौंदर्य को छायावाद की भाँति वायवीय और काल्पनिक न मानकर उसकी भोगपरकता को अंगीकार किया है। उसने अपने गीतों का सौंदर्य ह्रासशील मूल्यों में खोजकर, तराशकर उसे नवीनता के आवरण में प्रस्तुत किया है और इसी बहाने परंपरा सौंदर्य दृष्टि का तिरस्कार किया है। उदाहरण—

> ''हमको क्या लेना है परदेशी केशर से / बूढ़े हिमपात
> सड़ते तालाबों में खिले हुए बासी-जलजात से
> हमको लिखने हैं गीत नए पिघले इस्पात से।।' —राही

गणतांत्रिक व्यवस्था ने गीतकारों के मानस में न तो वैयक्तिक राग-बोध उत्पन्न किया न ही रोमानियत या उल्लास का भाव। अस्सी का दशक आते-आते तो इसने जनवादी परंपरा को अपनाया। उदाहरण—

> ''सौ में सत्तर आदमी फिलहाल जब नाशाद हैं
> दिल पर हाथ रखकर कहिए देश क्या आज़ाद है।'' —अदम गौडवी

2. **प्रणय-दृष्टि** : एंटी रोमांटिक वृत्ति से साक्षात्कार करने के कारण इन्होंने **'प्रेम की ऊब'** का चित्रण किया है।

> ''चीज़ों के कोने टूटे / बातों के स्वर डूब गए
> हम कुछ इतना अधिक मिले / मिलते-मिलते ऊब गए।''
>
> —ओम प्रभाकर

एंटी रोमांटिक एप्रोच ने भावुकता को रागात्मकता में पर्यवसित कर दिया—

> ''आओ उस मौन को दिशा दे दें
> जो अपने होंठों पर अलग-अलग पिघलता है।'' —चंद्रदेव सिंह

3. **महानगरीय संत्रास** : औद्योगिक सभ्यता के विकास से ग्रामीण जीवन में विस्थापन की प्रक्रिया शुरू होती है, जिससे नगरों, शहरों एवं महानगरों के समक्ष सांस्कृतिक संकट उत्पन्न होता है। यह सभ्यता मनुष्य की कौटुंबी दुनिया का क्षरण कर उसमें ऊब, संशय, तनाव, कुंठा को जन्म देती है। नवगीतकारों ने लिखा भी है कि—

> ''केवल औपचारिकता बाँहों में कसते हैं
> हँस-हँसकर रोते हैं, रो-रोकर हँसते हैं।'' —शेरजंग गर्ग

शहरी वातावरण के संत्रास से त्रस्त ने निषेधात्मक मूल्यों को उकेरा है—

"भागती हुई ज़िंदगी का / हर भोगा हुआ क्षण
एक नया उपक्रम है / स्वयं से टूटने की तरफ़।।" —भूपेंद्र स्नेही

4. जनपक्षधरता : 70 के आस-पास उभरी नई जनचेतना का असर कविता के साथ नवगीतों पर भी पड़ा। इससे इस दौर के गीतों की विषयवस्तु में परिवर्तन हुआ। अब किसान, मजूदर और आम आदमी के दुख-दर्द एवं संघर्ष के गीत गाए जाने लगे। गीतों को रोमानियत से मुक्त कर जीवन यथार्थ से जोड़ा गया। उदाहरण–

"भूमि पर मन पर बदन पर/ है अमावस का बसेरा
चंद लोहे की छड़ों में / बंद है युग का सवेरा।" – रमेश रंजक

यांत्रिक विकास आज मानव जीवन की उपलब्धि है। हम सिर्फ़ आँकड़ों में सोचते हैं तथा अपने को छोड़ शेष दुनिया की घटनाओं को समाचार-पत्रों के कॉलम का विषय स्वीकार कर लेते हैं। इस यांत्रिक प्रगति एवं मुनाफ़ाखोर इशारों पर चलकर हम जीवन में सुख की वर्षा तो कर लेते हैं परंतु इसके समानांतर जो दमघोटू वातावरण तैयार हो रहा है, उसे नहीं समझ पाते हैं। नवगीत ने इसे यथार्थ रूप में अंकित किया है–

"सूखे में बाढ़ में फँसे हैं। दिन/ अजगर की पाढ़ में फंसे हैं दिन
हम है विकलांग नियति के दावेदार / रद्दी में बिके हुए बासी अखबार।।"
—माहेश्वर तिवारी

5. व्यवस्था के प्रति असंतोष : नवगीतकारों में आधुनिकता बोध प्रखर होने के कारण तत्कालीन व्यवस्था के प्रति असंतोष का भाव भी परिलक्षित होता है।

"हर जुलूस कुछ नारों का अनुगामी है
भीड़ों का कोई व्यक्तित्व नहीं होता
सबसे अधिक सुनी जाती हैं अफवाहें
बहुमत में सच का अस्तित्व नहीं होता।"

6. मोहभंग : पूँजीवादी शोषण, आत्मपोषक राजनीति, भ्रष्ट शासन तंत्र और सुविधाभोगी बुद्धिजीवी के कारण स्वातंत्र्योत्तर भारत में जो छल-छद्म, शोषण उत्पीड़न, अन्याय व स्वार्थ की स्थिति पैदा हुई, उस कारुणिक स्थिति का चित्रण भी नवगीतकारों ने किया है–

"भीतर-भीतर जो टूटे हैं/ उनके नाम लिखो
जलते अँगारों पर जिसने उम्र लुटाई है/ धरती बनी बिछौना
उसकी यही कमाई है/मुट्ठी भर आकाश नहीं है
उनके नाम लिखो। —जगदीश श्रीवास्तव
मोहभंग से उत्पन्न पराजय-बोध–
मेरे पंख कट गए हैं / वरना मैं गगन को गाता।" —रमानाथ अवस्थी

यांत्रिक सभ्यता से मोहभंग :

"घिस गए ज़िंदगी के सारे मनसूबे
दफ़्तर की सीढ़ी चढ़ते और उतरते।" –राही

7. **आस्था का स्वर** :

"दरपन दो जिससे मैं पर्तहीन दिख पाऊँ
साहस दो जैसा भी देखूँ/ मैं वैसा ही लिख पाऊँ।" –राही

8. **नारी** : आज मंडी हाउस संस्कृति में स्त्री-पुरुष समानता के नारे लगाए जाते हैं। नारी-अधिकारों की चर्चा अनधिकृत विद्वान खूब करते हैं, पर आज भी नारी वर्ग को जो स्वतंत्रता प्राप्त हुई है, वह कनाट प्लेस सभ्यता का ही अंग है। मज़दूर वर्ग और गाँव के नारी के बदतर जीवन की करुण गाथा आज भी अधिकारों की माँग में मुँह बाए खड़ी है। नवगीत इस नारी को गहरे स्तर पर अभिव्यक्त करती है। उदाहरण :

"नागिन सी उठती / है पेट में लहर
आँतों में पलता है / भूख का शहर
आगे से हटती है / बेचन की माँ
ठेलों से कटती है / बेचन की माँ। –सुधांशु उपाध्याय

9. **आयातित विचारों का विरोध** : नवगीत विभिन्न दर्शनों का आयात करने की अपेक्षा सीधे जीवन यथार्थ से जुड़ना उचित मानती है, इसी बहाने नई कविता द्वारा गृहित विदेशी चिंतन पर भी करारा व्यंग्य करती है। यथा–

"यह कब हुआ कि हमने अनुभव से सीखा हो
कुछ उधार के लिए भाव
कुछ ओढ़ लिया चिंतन को।" –पुष्पा राही

10. **शिल्प** : नवगीत की भाषा छायावादोत्तर प्रगीत की निरर्थक, शिथिल एवं बासी हो गए शिल्पिक उपकरण का विकल्प प्रस्तुत करती है। यह बौखलाए बुद्धिजीवियों, राजनीतिज्ञों की भाषा न होकर सामाजिक संताप का स्वर प्रमुख है। लोकजीवन से जुड़ा होने के कारण लोकगीत, लोकधुन एवं लोक बिंबों का बहुतायत प्रयोग हुआ है। उदाहरण–

"रंग के भाग ठिठोली लिखी है/ रूप के भाग में चीर
अपने तो भाग मजूर के भाग हैं/ भाल पै स्याम लकीर।।"

छंद मुक्ति का जो प्रयास निराला में है उसी का विकसित रूप नवगीत में मिलता है। गीत होने के नाते उसमें लय रहती है, चाहे संगीत हो या न हो।

''गीत नया जन्मा है
रीत गए छंदों की रूढ़ियाँ तोड़ेगा।''
—राही

''छंद से स्वच्छंद होकर गा
मत कहीं भी बंद होकर गा।।''
—वीरेंद्र मिश्र

प्रतीक में पूरे परिवेश को चित्रित करने का सामर्थ्य है –

''अंधी है/ जल की संज्ञाएँ/ बढ़ती ही जाती
तृष्णाएँ/ रेतीले टीलों की बस्ती/ शहर हुआ मीलों की बस्ती।।''
—कु० रवींद्र

नवगीतकारों की मान्यता है कि संगीतातिरेक कवित्व को क्षति पहुँचाता है। वह गीत को गाना बना देता है। इसी आधार पर इन्होंने गीतों की सार्थकता में संगीत का बहिष्कार किया, लेकिन ग़ज़ल जैसी विधा इनके हाथों में पड़कर अपनी व्यक्तिगत इश्कमिज़ाजी को छोड़कर सामाजिक यथार्थ से जुड़ने लगती है। उदाहरण—

''कहाँ तो तय था चिराग हर शहर के लिए
कहाँ चिराग मयस्सर नहीं घर के लिए।'' —दुष्यंत

समग्रतः नवगीत विभिन्न दर्शनों का आयात करने की अपेक्षा सीधे जीवन यथार्थ से जुड़ना उचित मानती है तथा आत्माभिव्यक्ति की रूढ़ अवधारणा को बदलकर व्यष्टि एवं समष्टि के संश्लेषण का सार्थक प्रयास करती है। इसलिए रमेश कुंतल मेघ ने नवगीत को इतिहास बोध के परिवर्तन से संयुक्त कर उसमें आगत बदलाव को इतिहास का अनिवार्य संदर्भ सिद्ध किया है। अतः हम कह सकते हैं कि नवगीत समकालीन युग-बोध के नितांत अनुकूल है, जिसमें आत्मसत्य की अपेक्षा लोकसत्य की परिकल्पना है। नई कविता जिस युग यथार्थ को मुक्त छंद में देखती है, नवगीत उसे लयात्मक बोध देता है। इसलिए यह लोकजीवन आधारित साहित्यिक सौंदर्य को जहाँ नए धरातल पर प्रतिष्ठित करता है वहीं वर्तमान जीवन की चेतना एवं चुनौती से भी सार्थक रूप में रू-ब-रू करवाता है।

अद्यतन नाटक

हिंदी के समकालीन नाटक-साहित्य में यथार्थ-अन्वेषी सृजनात्मकता के मोड़ों और प्रवृत्तियों के सार्थक संकेत साफ़ तौर पर उभरकर सामने आए हैं। हालाँकि यह सच है कि इस दौर में बहुत सारा नाट्य-सृजन किसी बड़ी नाट्य-संभावना का बिंब प्रस्तुत नहीं कर पाया। उसमें स्तरीयता और गहन वैचारिक रचनात्मकता का अर्थवान स्वर अब तक नहीं आ पाया है।

काव्य-कहानी जैसी विधाओं की तुलना में नाटक पर अन्य कई तरह के दबाव-प्रभाव काम करते हैं। नाटक को अभिनय, संगीत, नृत्य तथा अन्य दृश्यकलाओं से समन्वित होना पड़ता है। इस अर्थ में नाटक एक जटिल रूप विधा है। साथ ही निरंतर जटिल से जटिलतर होते युग के भाव-बोध को दर्शक के सामने नाट्य प्रस्तुतीकरण में सहज संप्रेषणीयता से पहुँचाने की समस्या भी विकराल रूप धारण कर उठी है। एक ओर हिंदी का पिछड़ा रंगमंच और दूसरी ओर सहज जन-बोधगम्य भाषा का सवाल हिंदी के नाटककार को नाट्य-सृजन में लगातार ललकार कर तोड़ता रहा है। चूँकि ऊँचे दर्ज़े का रंगमंच और निरंतर नाटक खेलने वाली मँडलियाँ नहीं आ सकी हैं। नतीजा यह हुआ कि ऊंचे दर्जे का नाट्य सृजन भी अपनी जड़ों से हरा-भरा रूप लेकर नहीं आ सका। फिर भी पिछले दो दशकों में हिंदी-नाटक में 'प्रयोग' की चर्चा सार्थक-रूप में सामने आई है। नाटक में 'नएपन' या 'प्रयोगशीलता' ने नई नाट्य-भूमि को खोजने और रचने की ओर कदम उठाया है। इस प्रयत्न से इस दौर में हिंदी नाटक का जैसे नया जन्म हुआ है। नाटक का नई रंग-चेतना के बहुस्तरीय कार्य कलाप से एक जीवंत संबंध तो बना ही है—वह रंगमंच की अपनी दुनिया को पूरी शक्ति से जीने और रचने की ओर भी प्रवृत्त हुआ है।

मोहन राकेश के बाद का हिंदी-नाटक निराशा और पराजय बोध के संसार से निकलकर संघर्ष में टूटते पर हिम्मत बाँधते-जीते आदमी की आस्था की ओर कदम उठाता है। यह नाट्य-सृजन आज की ज़िंदगी को पहचानने, समझने और उसे ज्ञानात्मक-संवेदना से रचना की दिशा अपनाता है। उसमें प्रयोगशीलता और नाटकपन दोनों की तलाश जारी है। दिलचस्प बात यह है कि विदेशी अंधानुकरण की निस्सारता को पहचानकर यह नया नाटक अपनी ज़मीन में जड़ें जमाता है और लोक-संवेदना और लोक भाषा में अपनी लोक-नाट्यधर्मी परंपरा को फिर-से दुहता है। नाटक के रचनातंत्र की बहुत-सी रूढ़ियों से मुक्ति पा लेता है और नए नाटक का रूप उसके कथ्य के भीतर से ही फूटता और बढ़ता है। कहना न होगा कि काव्य के क्षेत्र में 'प्रयोग' और 'प्रयोगवाद' कितना ही संदिग्ध रहा हो — पर नाटक के क्षेत्र में उसकी इज़्जत बरकरार है, बल्कि 'प्रयोग' में नई संभावनाएँ निष्पत्ति पा रही हैं।

प्रत्येक जीवित-जाति का यह स्वभाव रहा है कि वह अपनी सांस्कृतिक-अस्मिता को ऐतिहासिक-बोध से संपन्न बनाकर उसमें ही नए-नए जीवन-अर्थ खोजती है। इतिहास और पुराण का नए सिरे से अर्थान्वेषण और अर्थ-रचना जीवित-जाति को नई शक्ति देती है। इस बात को इधर के नए नाटककारों ने पुराने नाटककारों की भाँति ही ठीक से पहचाना है। यही कारण है कि इस काल

में **ऐतिहासिक-पौराणिक नाटकों** की भरमार रही है और मिथकों में दृष्टि ही आधुनिकता हीरे की भाँति रगड़ खाकर चमक उठी है। एक प्रकार से इन नाटकों में हमारी पूरी परंपरा बोल उठती है। नाटककार और नाटक, परंपरा के भीतर ही बड़ा होता है या कहिए परंपरा में ही उसकी सार्थकता निहित रहती है। इस दौर में इस दृष्टि से शंकर शेष के 'खजुराहो का शिल्पी', दयाप्रकाश सिंह का 'इतिहास-चक्र', लक्ष्मीनारायण भारद्वाज का 'अश्वत्थामा', जयशंकर त्रिपाठी का 'कुरुक्षेत्र का सवेरा', लक्ष्मीनारायण लाल का 'राम की लड़ाई', 'नरसिंह कथा', 'एक सत्य हरिश्चंद्र', गिरिराज किशोर का 'प्रजा ही रहने दो', नरेंद्र कोहली का 'शंबूक की हत्या', मणि मधुकर का 'इकतारे की आँख', ललित सहगल का 'हत्या एक आकार की', रेवतीशरण शर्मा का 'राजा बलि की नई कथा', सुरेंद्र वर्मा का 'छोटे सैयद-बड़े सैयद', 'आठवाँ सर्ग', बृजमोहन शाह का 'त्रिशंकु', डॉ० विजय का 'एक प्रश्न और' आदि का नाम स्मरणीय है। मिथकों के नये उपयोग ने आधुनिक जीवन की विसंगतियों—विद्रूपताओं—विडंबनाओं को तीखे अर्थ-बोध से अभिव्यक्त किया है। व्यवस्था के भ्रष्ट और ढोंगी चरित्र पर इन नाटकों ने टिप्पणियाँ की हैं और नाटक का ध्वन्यर्थ दर्शक या पाठक को भीतर तक झकझोर देता है। 'आठवां सर्ग' सत्ता और साहित्यकार के बीच चलने वाले द्वंद्व—तनाव को नया अर्थ-संदर्भ प्रदान कर देता है। सुरेंद्र वर्मा 'छोटे सैयद-बड़े सैयद' में मुगलकालीन इतिहास के एक चरित्र से आधुनिक राजनीतिक त्रासदी सामने ला देते हैं। अतः अतीत की वर्तमानता को अर्थवत्ता देने वाले ये नाटक नाट्य-सृजन की नई धार से पैनापन देते रहे हैं।

सातवें-आठवें दशक में देश की **विशिष्ट राजनीतिक स्थितियों का संघर्ष** काफ़ी तीव्र हो गया। परिणामतः नाटककार परिवेश और अनुभव को नाट्य-सृजन में परिभाषित और निर्धारित करने के लिए बाध्य होता गया। राजनीति की सिद्धांतहीनता, अवसरवादिता, सरलीकरण और बौद्धिक दिवालियेपन ने आदमी के भीतर के आदमी को हड़बड़ा दिया। राजनीतिक जीवन में इतने रूपों में घुस पड़ी है कि किसी भी विचारवान व्यक्ति का उससे दूर रह पाना असंभव हो गया। रचनाकार को राजनीति से दूर रहने का नारा काम नहीं आया और इधर रचना और राजनीति परस्पर एक-दूसरे में रचते-पचते गुंथ गए। सृजन-प्रेरणा में राजनीति का प्रभाव- दवाब बढ़ गया। साथ ही राजनीति इतनी मानवद्रोही और टुच्ची हो गयी कि व्यवस्था तंत्रों के बीच आदमी एकदम अकेला पड़ गया। फिर भी रचनाकार ने अनुभव किया कि आज की ज़िंदगी का अर्थ खोजने वाला कोई भी व्यक्ति अंततः राजनीतिक प्रश्नों से बचकर जी ही नहीं सकता। इस गलतफहमी

से इस दौर का रचनाकार मुक्त हो गया कि राजनीति के संसर्ग से कविता या नाटक भ्रष्ट हो जाता है। यथास्थिति बाकी राजनीतिक संस्थाओं, मठों पर नज़र उठाते हुए डॉ० लक्ष्मीनारायण लाल ने 'रक्तकमल', 'चतुर्भुज राक्षस', 'पंचपुरुष', 'गंगा माटी', संतोष कुमार नौटियाल ने 'चाय पार्टियाँ', कणाद ऋषि भटनागर ने 'ज़हर', 'जनता का सेवक, ज्ञानदेव अग्निहोत्री ने 'शुतुरमुर्ग', शंकर शेष ने 'फंदी', 'बंधन अपने-अपने', बृजमोहन शाह ने 'शह ये मात', सर्वेश्वरदयाल सक्सेना ने 'बकरी', 'अब गरीबी हटाओ', हमीदुल्ला ने 'दरिंदे', 'उत्तर उर्वशी', मणि मधुकर ने 'बुलबुल सराय' 'खेला पोलमपुर', सुदर्शन चोपड़ा ने 'काला पहाड़' कुसुम कुमार ने 'रावण', 'ओम क्रांति क्रांति', 'दिल्ली ऊँचा सुनती है', भीष्म साहनी ने 'कबिरा खड़ा बाज़ार में', रमेश उपाध्याय ने 'पेपरवेट' आदि नाटक लिखे हैं। इन नाटकों की रंगमंचीय सफलताओं ने हिंदी-दर्शक की चेतना को काफ़ी दूर तक बदलने का कार्य किया है। कथ्य की दृष्टि से हाल के इन नाटकों की गिनती से यह बात धूप की तरह साफ़ है कि इन नाटकों में राजनीतिक-सामाजिक और व्यक्तिगत अनुभव के कई स्तर तक साथ उभरे हैं। इनमें समकालीन यथार्थ में गहरे जाकर अपने समय के व्यापक प्रश्नों से जुड़ने-समझने की कोशिश है। अमृतराय ने 'चिंदियों की एक झालर' में भूतपूर्व क्रांतिकारी के मोहभंग को युवा-पीढ़ी की टकराहट के साथ रखकर यह दर्शाया है कि मोहभंग कितनी दर्दनाक स्थिति से उपजा है।

पुरानी नाट्य-रूढ़ियों और घिसे-पिटे ढाँचों-साँचों को तोड़ने में **विसंगतिवादी नाट्य-रूप** ने भी काफ़ी महत्त्वपूर्ण पहल की है। मुद्राराक्षस ने 'तिलचट्टा', विपिन कुमार अग्रवाल ने 'लोटन', बृजमोहन शाह ने 'त्रिशंकु' आदि में इस दृष्टि से नया प्रयोग किया है। आज के जीवन की संपूर्ण अराजकता का कोलाहल इन नाटकों की संरचना और भाषा में पाया जा सकता है।

समसामयिक नाटककारों में एक प्रवृत्ति इस रूप में भी विकसित हुई है कि वे **समकालीन विकृतियों-विद्रूपताओं का अंकन** करते हुए जीवन के नए मानवीय मूल्यों की महत्त्व-प्रतिष्ठा करते हैं। इस प्रवृत्ति के दर्शन विनोद रस्तोगी के 'नये हाथ', ज्ञानदेव अग्निहोत्री के 'माटी जागी रे', शंकर शेष के 'बिन बाती के दीप', लक्ष्मीनारायण लाल के 'सुंदर रस', सत्यप्रकाश संगर के 'दीप से दीप जले' आदि नाटकों में दृष्टिगत होती है। मानववादी विचारधारा के बोध ने इन नाटकों में नया जीवन-बोध पैदा किया है।

प्रयोगधर्मी नाटककारों ने काव्य-नाटक या पद्य-नाटक की ओर अपना ध्यान बराबर केंद्रित किया है। काव्य-नाटकों में वीरेंद्रनारायण का 'सूरदास', अज्ञेय का

'उत्तर प्रियदर्शी', रामेश्वर सिंह कश्यप का 'अपराजेय निराला', 'समाधान', डॉ० विनय का 'रंग ब्रह्म', विनोद रस्तोगी का 'सूतपुत्र', भारतभूषण अग्रवाल का 'अग्निलीक', चंद्रशेखर का 'शिवधनुष', कुंथा जैन का 'बाहुबली' आदि का नाम उल्लेखनीय है। इस दौर के अधिकांश काव्य-नाटकों में अतिशय काव्यात्मकता को स्थान न देकर नाटकीयता को कथ्य-भंगिमा से उत्पन्न किया गया है। साथ ही इनका मिज़ाज गैर-रोमांटिक कला का नमूना है। भाषा की प्रतीकात्मकता, बिंबात्मकता ने संप्रेषणीयता की वृद्धि की हैं।

शिक्षित-अशिक्षित जनता को जगाने-झकझोरने और सोचने-समझने के लिए इधर **नुक्कड़ नाटकों** की भूमिका काफ़ी सराहनीय रही है। जन-नाट्य-मंच दिल्ली में 'हत्यारे', 'मशीन', गाँव से शहर' जैसे नुक्कड़ नाटकों की सैकड़ों प्रस्तुतियाँ की हैं। इन नुक्कड़ नाटकों में जाति-पाँति, ऊँच-नीच, सांप्रदायिकता, दहेज, भ्रष्टाचार और हर तरह के शोषण के खिलाफ़ स्वर ऊँचा किया जाता है। मार्क्सवादी विचारधारा से प्रेरित और आंदोलित नाटककार, अभिनेता और नाट्य-निर्देशक नुक्कड़ नाटकों की ओर काफ़ी ध्यान दे रहे हैं। इन नाटकों को खेलने में सबसे बड़ी सुविधा यह है कि मंच की साज-धाज का तामझाम नहीं जुटाना पड़ता। किसी भी खुले चौराहे, पार्क, गली के भीतर इसे किया जा सकता है। वस्त्र सज्जा लगभग नहीं के बराबर और न कोई मंच न दृश्य बंधों की ज़रूरत। दर्शकों की सीधे-भागेदारी से इस तरह के नाटकों में जन-संवाद को सीधे कायम करने की शक्ति रहती है। बोलचाल की भाषा में सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक, धार्मिक किसी भी तरह की समस्या को बिना जनता का ध्यान केंद्रित करते हैं— इसलिए इनकी प्रभाव-क्षमता अधिक बलवान होती है। ऐसी स्थिति में जनता तक नए विचारों की रोशनी ले जाने का नुक्कड़ नाटक सबसे कारगर अस्त्र सिद्ध हो सकता है।

अच्छे साहित्य को जनता तक पहुँचाने के लिए कल्पनाशील नाट्यकर्मियों और नाट्य-मण्डलियों ने कविता, कहानी, उपन्यास आदि के **नाट्य-रूपांतरों** का सहारा लिया है। प्रेमचंद, यशपाल, श्रीकांत वर्मा की कहानियों, मुक्तिबोध, रघुवीर सहाय, सर्वेश्वर, भवानीप्रसाद मिश्र आदि ख्यातिलब्ध कवियों की कविताओं के नाट्य-रूपांतर और पाठ बड़ी सफलता से किए गए हैं। मन्नू भंडारी के 'महाभोज' का नाट्य-रूपांतर बेहद जनप्रिय हुआ। नाट्य-रूपांतर की इस कला से देश-विदेश के किसी भी रचनाकार की कृतियों को दर्शकों तक पहुँचाया जा सकता है और इस टेकनीक से हम श्रेष्ठ साहित्य के प्रति संस्कारवान दर्शक भी तैयार कर सकते हैं। विष्णु प्रभाकर ने प्रभात कुमार मुखोपाध्याय की कहानी '*देवी*' का 'बंदिनी' नाम से

नाट्य-रूपांतर किया है। मुद्राराक्षस ने गोगोल के नाटक 'दि गवर्नमेंट अफ़सर' का नाट्य-रूपांतर 'आला अफसर' शीर्षक से किया, जिसकी रंगमंचीय सफलता ने दर्शकों को मुग्ध किए रखा।

इसी काल में शेक्सपियर, वाइल्डर, ब्रेख्ट, सैमुअलबैकेट, कैरेल, चेयव आदि पश्चिमी नाटककारों के प्रसिद्ध नाटकों का भारतीय रंग-परंपरा के अनुसार **अनुवाद** किया गया है। इस क्षेत्र का सबसे समर्थ उदाहरण रघुवीर सहाय द्वारा शेक्सपियर के नाटक 'मेकबेथ' का 'बरनम वन' शीर्षक से अनुवाद है। अनुवादक ने इस महान त्रासदी के अनुवाद को मुख्यतया कविता छंद में ढाला है। 'बरनम वन' यानी मानव की उद्दाम आकांक्षाओं का एक ऐसा जंगल जिसमें मानव को पीड़ा और अंधकार के अतिरिक्त कुछ भी नहीं मिलता। शेक्सपियर के नाटक का यह इतना रचनात्मक अनुवाद है कि नाटक के अनुवाद-क्षेत्र में नया कीर्तिमान स्थापित करता है। अनुवाद के लिए यह बहुत ज़रूरी शर्त है कि वह अपनी भाषा में भी उस मूल संयोजन, अन्विति, संवाद शक्ति की गति आदि की तलाश करे, जो मूल कृति के व्यंजना-लोक को प्रतिध्वनित कर सके। रघुवीर सहाय ने शब्दों, वाक्यों, बिंबों, प्रतीकों और अन्य नाट्य-गतियों के कोणों को बहुमुखी व्यंजनाओं और भावनात्मक ध्वनियों-प्रतिध्वनियों के साथ लोक-संवदेना की भाव-भूमि पर पकड़कर अनुवाद किया है। विदेशी-भाषाओं के नाटकों के साथ भारतीय-भाषाओं के नाटकों के हिंदी-अनुवाद भी बहुत लोकप्रिय हुए हैं। बादल सरकार, उत्पलदत्त, गिरीश करनाड, विजय तेंदुलकर, वसंत कानेटकर, बी.पी सूर्यरख, जयवंत दलवी आदि के नाटकों के अनुवाद तो हिंदी-रंगमंच पर छाए रहे हैं। इन सभी देशी-विदेशी नाटकों की प्रस्तुतियों ने हिंदी-रंगमंच और हिंदी-नाटक को नई दिशा और दृष्टि दी है। संस्कृत के नाटकों में 'उरुभंग', 'मृच्छकटिक', 'अभिज्ञान शाकुंतलम्', 'मुद्राराक्षस' आदि को कारंत जैसे समर्थ नाट्य-निर्देशक ने हिंदी-रंगमंच पर प्रस्तुत किया है। जयशंकर प्रसाद के नाटक 'चंद्रगुप्त' और 'स्कंदगुप्त' की प्रस्तुतियों से यह मिथ खंडित कर दिया है कि प्रसाद के नाटक पाठ्य-पुस्तकों में समाहित करने के लिए हैं। उनका अभिनय नहीं किया जा सकता है। कल्पनाशील प्रतीकात्मक रंगमंच पर प्रसाद के इन नाटकों की सफल प्रस्तुति दर्शकों का अविस्मणीय अनुभव रहा है।

हिंदी नाटक का सातवाँ-आठवाँ दशक **प्रयोगधर्मी नाट्य-परंपरा** की दृष्टि से पूरे हिंदी-नाटक के विकास में एक नया अध्याय जोड़ता है। नए-पुराने हिंदी नाटकों को जो महत्त्व मिला है, उसके मूल में हिंदी रंगमंच का सही दिशा में विकास है। अब हिंदी रंगमंच विदेशी नाटकों, शैलियों का मुहताज नहीं है—उसकी एक अपनी रंग-परंपरा और रंग-दृष्टि विकसित हुई है। इन वर्षों में हिंदी नाटक और रंगमंच को, ब.व. कारंत

नाट्य-रूपांतर किया है। मुद्राराक्षस ने गोगोल के नाटक 'दि गवर्नमेंट अफ़सर' का नाट्य-रूपांतर 'आला अफसर' शीर्षक से किया, जिसकी रंगमंचीय सफलता ने दर्शकों को मुग्ध किए रखा।

इसी काल में शेक्सपियर, वाइल्डर, ब्रेख्ट, सैमुअलबैकेट, कैरेल, चेयव आदि पश्चिमी नाटककारों के प्रसिद्ध नाटकों का भारतीय रंग-परंपरा के अनुसार **अनुवाद** किया गया है। इस क्षेत्र का सबसे समर्थ उदाहरण रघुवीर सहाय द्वारा शेक्सपियर के नाटक 'मेकबेथ' का 'बरनम वन' शीर्षक से अनुवाद है। अनुवादक ने इस महान त्रासदी के अनुवाद को मुख्यतया कविता छंद में ढाला है। 'बरनम वन' यानी मानव की उद्दाम आकांक्षाओं का एक ऐसा जंगल जिसमें मानव को पीड़ा और अंधकार के अतिरिक्त कुछ भी नहीं मिलता। शेक्सपियर के नाटक का यह इतना रचनात्मक अनुवाद है कि नाटक के अनुवाद-क्षेत्र में नया कीर्तिमान स्थापित करता है। अनुवाद के लिए यह बहुत ज़रूरी शर्त है कि वह अपनी भाषा में भी उस मूल संयोजन, अन्विति, संवाद शक्ति की गति आदि की तलाश करे, जो मूल कृति के व्यंजना-लोक को प्रतिध्वनित कर सके। रघुवीर सहाय ने शब्दों, वाक्यों, बिंबों, प्रतीकों और अन्य नाट्य-गतियों के कोणों को बहुमुखी व्यंजनाओं और भावनात्मक ध्वनियों-प्रतिध्वनियों के साथ लोक-संवदेना की भाव-भूमि पर पकड़कर अनुवाद किया है। विदेशी-भाषाओं के नाटकों के साथ भारतीय-भाषाओं के नाटकों के हिंदी-अनुवाद भी बहुत लोकप्रिय हुए हैं। बादल सरकार, उत्पलदत्त, गिरीश करनाड, विजय तेंदुलकर, वसंत कानेटकर, बी.पी सूर्यरख, जयवंत दलवी आदि के नाटकों के अनुवाद तो हिंदी-रंगमंच पर छाए रहे हैं। इन सभी देशी-विदेशी नाटकों की प्रस्तुतियों ने हिंदी-रंगमंच और हिंदी-नाटक को नई दिशा और दृष्टि दी है। संस्कृत के नाटकों में 'उरुभंग', 'मृच्छकटिक', 'अभिज्ञान शाकुंतलम्', 'मुद्राराक्षस' आदि को कारंत जैसे समर्थ नाट्य-निर्देशक ने हिंदी-रंगमंच पर प्रस्तुत किया है। जयशंकर प्रसाद के नाटक 'चंद्रगुप्त' और 'स्कंदगुप्त' की प्रस्तुतियों से यह मिथ खंडित कर दिया है कि प्रसाद के नाटक पाठ्य-पुस्तकों में समाहित करने के लिए हैं। उनका अभिनय नहीं किया जा सकता है। कल्पनाशील प्रतीकात्मक रंगमंच पर प्रसाद के इन नाटकों की सफल प्रस्तुति दर्शकों का अविस्मणीय अनुभव रहा है।

हिंदी नाटक का सातवाँ-आठवाँ दशक **प्रयोगधर्मी नाट्य-परंपरा** की दृष्टि से पूरे हिंदी-नाटक के विकास में एक नया अध्याय जोड़ता है। नए-पुराने हिंदी नाटकों को जो महत्त्व मिला है, उसके मूल में हिंदी रंगमंच का सही दिशा में विकास है। अब हिंदी रंगमंच विदेशी नाटकों, शैलियों का मुहताज नहीं है—उसकी एक अपनी रंग-परंपरा और रंग-दृष्टि विकसित हुई है। इन वर्षों में हिंदी नाटक और रंगमंच को, ब.व. कारंत

इब्राहिम अल्का जी, सत्यदेव दुबे, श्यामानंद जालान, राजिंदरनाथ, बंसी कौल, बृजमोहन शाह, एम.के. रैना, भानु भारती, देवेंद्र अंकुर जैसे निर्देशकों की प्रतिभा का सुयोग प्राप्त हुआ है। इन सभी ने अपनी रंग-दृष्टि की सृजनात्मकता, कल्पनाशीलता और विचार-क्षमता से हिंदी रंगमंच को संपन्न और समृद्ध बनाया है। आज के हिंदी-नाटक में देश भर के नाटकों की सृजनात्मक-चेतना का स्पर्श समा रहा है। इस ढंग से हिंदी नाटक का एक अखिल भारतीय-नाट्य-चक्र तैयर हुआ है और लक्ष्मीनारायण, सर्वेश्वर दयाल सक्सेना, ज्ञानदेव अग्निहोत्री, सुरेंद्र वर्मा आदि के नाटक हिंदी से दूसरी भाषाओं में भी अनूदित होकर खेले गए हैं। इस प्रकार हिंदी नाटक अन्य भारतीय भाषाओं के नाटकों से लेन-देन बनाकर संपूर्ण अस्मिता को नाटक में उजागर कर रहा है। अपनी भारतीय अस्मिता को रक्षित रखने के कारण हिंदी नाटक सीमित परिधि में निकल रहा है और नाट्य-प्रयोग की दिशा में उसने नई जमीन को तोड़ा है। नए नाटककार आज ऐसे नाटक लिख रहे हैं जिनमें आज का समग्र जीवन धड़कता हुआ महसूस किया जा सकता है। अतः हिंदी नाटक और रंगमंच से नवीन संभावनाओं के प्रति आश्वस्त हुआ जा सकता है। सबसे बड़ी बात यह है कि वह भारतीय रंग-परंपरा को खोजकर उसमें ही नई नाट्य-दृष्टि और रंग-दर्शन पा रहा है।

अद्यतन कहानी

सन् 70 तक पहुँचते-पहुँचते हिंदी-कहानी ने साहित्य के अन्य रूपों की तुलना में केंद्रीय स्थान बना लिया है। कहानी की आंतरिक संरचना और बनावट में दस-पंद्रह वर्षों के भीतर ही इतनी तेज़ी से परिवर्तन कि प्रक्रिया घटित हुई कि पिछली प्रवृत्तियों की रुझानें और अंदरुनी मुहावरेबाजी बेअसर दृष्टिगत होने लगी। राजनीतिक, सामाजिक रूपांतरण की प्रक्रिया ने भटकाव में एक नई पीढ़ी को जवाब दिया। इसी जवान पीढ़ी ने सृजनात्मक क्षेत्र में उस मानसिकता को जन्म दिया, जो पिछली पीढ़ी की मानसिकता से मूल्यों और विचारों में एकदम भिन्न है। इन नए कहानीकारों की चेतना उन रचनाकारों-समूहों से एकदम भिन्न है, जो अब तक लिखते आ रहे थे। यही कारण है कि आठवें दशक के कहानीकारों ने जीवन के विविध, अंतरंग और तनावपूर्ण छवियों के जो चित्र 'यथार्थ' रूप में अंकित किए हैं—वह पहले वाले 'यथार्थ' का पर्याय नहीं कहा जा सकता। इन नए कहानीकारों ने अनुभव किया कि जीवन से, परिवेश से अपनी निजता जोड़े रहना सरल नहीं है। इसलिए नई पीढ़ी के कथाकारों ने परंपरा को नए बोध से समझा, ऊपर से छीला और साफ़ किया तथा उसे अपनी रचनात्मक ज़रूरतों के अनुकूल ढालकर ग्रहण किया। उसमें नए मानव-संघर्षों की नई तड़प और सूई पैदा की। परिणामतः इन कहानीकारों में कई तरह की

स्थितियों के प्रति आक्रोश है, खीझ है, चीख है, प्रश्नाकुलता है, आत्ममंथन है, आत्मालोचन है, आत्मसाक्षात्कार का निर्भय भाव है और जीवन की विद्रूपताओं, विसंगतियों, संत्रासों, यंत्रणाओं में भी डटकर जी पाने की साहसिकता का भाव है। पिछली पीढ़ी की तरह यह तकलीफों से भागते नहीं है, उन्हें काबू में लाकर भोगते हैं। अब इस कहानी का स्वर अस्तित्ववादी न रहकर मानववादी हो गया है।

वह यहाँ शेखर जोशी, ज्ञानरंजन, भीष्म साहनी, विष्णु प्रभाकर, यादवेंद्र शर्मा 'चंद्र', राकेश वत्स, सुरेश सेठ, उदयप्रकाश, प्रयाग शुक्ल, राजी सेठ, मंजुल भगत, राजेश जोशी, दिनेश पालीवाल, मिथिलेश्वर, ब्रजेश्वर मदान, योगेश गुप्त आदि की कहानियों में एकदम गायब हो गया।

इन युवा कहानीकारों और इनका साथ देते विष्णु प्रभाकर जैसे कथाकारों को यह भ्रम नहीं रहा कि सामाजिक-शोषण, हिंसा, अन्याय, दहेज आदि पर कहानी लिखने मात्र से रचनाकार का सामाजिक दायित्व पूरा हो जाता है। उसने पहचान लिया कि यह एक घटिया नुस्खा और टूटा घाट है। उसने ईमानदार से यह सच भी महसूस किया है कि नागरिक-दायित्व, सामाजिक दायित्व और रचना के दायित्व में ऊपर से भिन्नता दृष्टिगत होने पर भी कोई बुनियादी फ़र्क नहीं है। रचनाकार ऊपर से नहीं उतरा है। वह अन्य नागरिकों की भाँति ही पत्नी से गाली खाता, परिवार के लिए नमक-तेल जुटाता, बस के पीछे भागता, भीगी पलकों से व्यवस्था के नरक को हेरता-जीता, नौकरी के लिए दफ़्तरों की सीढ़ियाँ घिसता प्राणी है। वह न तो मानव आत्मा का डॉक्टर है, न इंजीनियर है। हाँ, समाज को जगाने वाला, राह दिखाने वाला अवश्य है। आज के रचनाकार ने महसूस किया है कि पूरा विश्व एक वैचारिक-बौद्धिक संक्रांति से गुज़र रहा है। सिद्धांतों, मूल्यों, मान्यताओं की इतनी भारी टूट-फूट और सांस्कृतिक विघटन की हालत इतनी हाय-हत्या और हाहाकार के साथ शायद कभी नहीं आई। पश्चिमी समाज की टेक्नालॉजी और विज्ञान ने अपने प्रभाव से विश्व भर की मूल मूल्य दृष्टि में शंका पैदा कर दी है। विज्ञान ने मानव को शक्ति दी, पर विनाश का एक रास्ता भी खोल दिया। बुद्धिजीवी – असहाय, लाचार और बौना हो गया। तीसरी दुनिया के देश थरथराहट में हाँफ उठे हैं। इस दृष्टि से ज्ञान का नया समाज शास्त्र विकसित हुआ है। जिसमें न अब फ्रॉयड महत्त्वपूर्ण है न किर्केगार्द। जीवन की भांति साहित्य निरंतर बदलता-विकसित होता है। जिसे चेतना नियंत्रित नहीं करती, परिस्थितियाँ निर्धारित करती हैं।

आठवें दशक की कहानियों का ढाँचा पश्चिमी कहानियों की अनुकृति और प्रतिकृति नहीं है। कहानी का एक भारतीय साँचा उभरकर सामने आया है, जिसमें तीनों काल एक साथ प्रवाहित रहते हैं। जिसमें न अतीत मरता है—न भविष्य फूटता

है-केवल वर्तमान अपनी वर्तमानता, निरंतरता, विकासमयता के साथ मानव को मथता-उद्वेलित करता चलता है। काल का जो कृत्रिम विभाजन पश्चिम में हुआ और जिस पर अस्तित्ववादी दर्शन ने अपनी जोरदार मुहर लगाई। उसका आदर भारतीय-जीवन में कभी नहीं रहा। यही कारण है कि अनास्था-संत्रास, यंत्रणा, अकेलेपन, विवशता की बात करने पर भी सातवें-आठवें दशक की कहानियाँ आस्था बटोरते आदमी की कहानियाँ हैं। इस काली-धारा में कहानी ने फैलाव में नहीं, जमीन में धँसकर गहराई पैदा की है। नया कहानीकार भारतीय अस्मिता को तलाशने और रचने में संकल्पबद्ध होकर निकल पड़ा है। उसके लिए अपने समय और समाज की स्थितियों के यथार्थ की पहचान विशेष महत्त्व रखती है। और यह पहचान उसे स्थिति के मूल-स्रोत तक पहुँचाने में मदद करती है।

'नयी कहानी' से आगे के समसामयिक कहानीकार जीवन के नए संदर्भों-संबंधों के बदलाव को वर्णनात्मकता के झाड़ू से बटोरकर नहीं दिखलाता, बल्कि संबंधों को प्रतीकों-बिंबों में सतर्कता से परिभाषित करता है। गोविंद मिश्र 'गिद्ध' कहानी में दफ़्तरों में भ्रष्ट अधिकारियों की देहगाथा एक बिंब में कह देते हैं। इसराइल 'अर्थहीन' शीर्षक कहानी में शिक्षित युवक की शिक्षा और योग्यता का एक दारुण बिंब पैदा करते हैं—जो पढ़-लिखकर किसी मतलब का नहीं रहा। उसे हमेशा लगता रहा कि 'एक भयावह डरावना खालीपन उसको निगल जाएगा।' पूरी व्यवस्था की विसंगतियों पर कहानी घूँसा मारकर जगा देती है। महानगरों ने इच्छा जगाकर आदमी को कैसे तोड़ा है, यह इधर की तमाम कहानियों में एक-साथ दिखाई देता है। योगेश गुप्त की कहानी 'एनक्लोजर' यंत्र दानव की व्यथा का दारुण इतिहास है। मशीनमैन घनश्याम 'उसका दम घुटने लगा। सामने आसमानों को छूती एक कतार। पीछ के आसमान को छूती हुई इमारतों की कतार।' बाहर निकलने का रास्ता नहीं है। ऐसे ही वेद राही की कहानी 'हररोज' महानगर के अभिशाप का नमूना है। असगर वजाहत 'केक', अमितेश्वर 'हुक्कापानी', उदयप्रकाश 'टेपचू', बलराम 'पालन हारे', धीरेंद्र अस्थाना 'अपनी दुनिया', राजकुमार गौतम 'रिश्ते', नरेंद्र मौर्य 'बिखरते-बिखरते संदर्भ' रमेश उपध्याय 'आत्मसमर्पण', श्रीकांत वर्मा 'टुकड़ों में बँटी ज़िंदगी', 'ठंड', दिनेश पालीवाल 'तोता चश्म', 'स्वीकारोक्ति', अमितेश्वर 'तीलियाँ' आदि कहानियों में समकालीन यथार्थ के विभिन्न रूपों को उघाड़ा गया है। महत्त्वपूर्ण बात यह है कि यथार्थ यहाँ रचना का फार्मूला नहीं है — वह एक जटिल और संश्लिष्ट प्रक्रिया का अंग है। ये कहानियाँ यथार्थ का अतिक्रमण करती हैं और विसंगति-विद्रूपता को फैलाकर रचती हैं। समाज की संघर्षशील और विद्रोही मानसिकता के विविध प्रतीक पत्तों में नसों की तरह नत्थी हैं। इसका कारण है कि इनमें उन ऐतिहासिक परिस्थितियों का दबाव है—जिन्हें रचे

बिना कहानीकार भरोसे का नहीं बन पाता। फिर यहाँ पिछली कहानियों की 'काव्यात्मकता' को ठेलकर वैचारिक गद्यात्मकता ने केंद्रीय स्थिति बना ली है। अब कहानीकार भाषा में 'लिखता' नहीं है – भाषा में बोलता है। हर हरकत भाषा की सतह नहीं होती, भाषा के भीतर से फूटती है। ऐसी स्थिति में अद्यतन कहानी-कथ्य और रूप की अन्विति में बौद्धिक और भावनात्मक शोषण के खिलाफ़ सृजनात्मक गद्य में सबसे तेज़ कार्रवाई है। 'परिंदे ' की काव्यात्मकता जहाँ श्लेषणात्मक–चरमता में वैचारिकता को घुलाकर भावुकता में बदल देती थी–वहाँ 'टेपचू' कहानी ठोस गद्य की संगठित अनुशासन-क्षमता-शक्ति से संश्लेषणात्मक चरमता में वैचारिकता को ठोस हीरे के क्रिस्टल में बदल देती है। विचार-आलोचनात्मक-विवेक-चेतना से आगे बढ़कर उसे उसकी मूल जड़ से ही गह लेता है। पाठक को स्थिति की बोधमयता के साथ विचार के वेग को सँभालकर चलना पड़ता है। संपूर्ण मोहभंग के बीच यह मानवीय अनुभव की ऐसी पकड़ है, जहाँ कोरी वैयक्तिक भावना और आदर्शीकरण की कोई गुंजाइश नहीं बच पाती। कहानी के कथ्य का पूरा 'परिवेश' नाटकीयता में सक्रिय रहता है और अनेक दृश्य मिलकर एक मुकम्मल दृश्य-बोध देते हैं। आज की कहानी का पूरा अर्थशास्त्र-समाजशास्त्र और मनोविश्लेषण शास्त्र मानव-मुक्ति के रास्ते खोज रहा है। कहानी आभिजात्य को तोड़कर लोक-तत्व को स्थापित कर रही है। इसीलिए इसमें लोक-तत्व और लोक-माध्यम खास ढंग से सर्जनात्मक उत्साह का रक्षक बना है।

आठवें दशक की कहानियों ने संवाद-तत्व में **नाटकीयता, प्रतीकात्मकता** और रूप की स्वच्छता उत्पन्न की, जिससे इनका 'कथ्य' काफ़ी दिलचस्प हो उठा। संवादों में परिवेश की व्यंजकता ने ध्वनि और भंगिमाओं का खुला विकास किया। मंजुल भगत ने 'सफ़ेद कौआ' में एक ढंग से प्रतीक साधकर व्यंग्य किया तो 'मृत्यु की ओर' में मरणासन्न व्यक्ति में माँ और पत्नी के अवचेतन का खुलासा किया। रमेश बत्तरा ने 'थप्पड़' कहानी में शिक्षित मध्यवर्ग के आदमी की कायरता और रिक्शा वाले व्यक्ति की निर्भयता और तड़प को व्यक्त किया तो 'लड़ाई' कहानी में प्राचीन कारेस के शिल्प का अच्छा उपयोग किया। मृदुला गर्ग ने 'दुनिया का कायदा' में पैसे के सामने मानवीयता की हत्या दिखाई, तो सुरेंद्र तिवारी ने 'वार्ड नंबर टू' में सरकारी अस्पतालों का कच्चा चिट्ठा खोल दिया। इस ढंग से कहानियों की संरचना अपनी बुनावट में काफ़ी नई है। कहानीकार मार्क्सवादी रुझान के हों या गैर-मार्क्सवाद प्रतिबद्धता के हों–सभी में किसान-कारीगर के साथ एकाकार करने वाली संवेदना मौजूद है। यह संवेदना मधुकर सिंह की कहानी 'लहू पुकारे आदमी' धीरेंद्र अस्थाना की 'सूरज लापता है' जैसी कहानियों में बड़ी शक्ति से उभरती है। इस संवेदना को गहरे यथार्थ की पकड़ देने के लिए रमेश उपाध्याय जैसे लंबी कहानियों के कहानीकार

ने 'नदी के साथ एक रात' में प्रतीकात्मकता को फंतासी में उतार दिया है। यह बात साफ़ है कि दस-पंद्रह वर्षों से हिंदी के कहानीकार ने रूपवाद, संरचनावाद, भाववाद, कलावाद, अध्यात्मवाद जैसे वाहियात तत्वों से जमकर संघर्ष किया है और इन बुराइयों से कहानी को बचाने में उसकी अंतर्दृष्टि अधिक प्रदीप्त रही है।

ठीक से देखा जाए तो आठवें दशक की कहानियों ने यह मिथ खंडित कर दिया है कि सार्थक और प्रयोगधर्मी नवीनता की कलात्मक उपलब्धि के लिए इस या उस विचारधारा के प्रति प्रतिबद्धता अनिवार्य होती है। क्योंकि विचारधारा का उलथा सृजनात्मकता नहीं है। सृजनात्मकता को विचारधारा दृष्टि दे सकती है – पर सभी लेखकों को दिशा-दृष्टि दे सके– यह आवश्यक नहीं है। फिर समय से घिसकर हर विचारधारा सृजनात्मकता में अपने खाने स्वयं बना लेती है और उसका ज़रूरत से ज़्यादा कसाव-बढ़ाव रचनात्मकता की शक्ति को वैसे ही नष्ट कर देता है जैसे ज़रूरत से ज़्यादा खाद-पानी पौधे को जला-सड़ा देता है। रचनात्मकता विचार संवेदना के संतुलन से निखरती है। दरअसल, सम-सामयिक कहानीकार के पास बड़ा 'विज़न' नहीं है—वह अपने सीमित परिवेश के भीतर ही रचना को घुमाता-फिराता रहता है। यथार्थ शिल्प के चक्कर में 'कला की तमीज़' सीखना नहीं चाहता। परिणामतः उसकी रचनाएँ प्रभान्विति के स्तर पर निराश कर देती हैं।

आज का कहानीकार कहानी में अपने 'परिवेश' को ही रचकर खुश है—वह उन मिथकों को छूता तक नहीं है, जिनसे ज़िंदगी के बृहत्तर अर्थ-संदर्भों को उजागर किया जा सकता है। श्रम का परायापन, अमानवीकरण, आत्मनिर्वासन उसे अभी भी कसे हैं। इसलिए इन कहानियों का प्रमुख कमज़ोर पहलू यह है कि ये सतह पर बड़बड़ाते आदमी की नियति भर हैं।

अक्सर ध्यान इस बात पर भी जाता है कि इस पूरे दौर में एक भी ऐसा कहानीकार क्यों नहीं उभरा, जो परिवर्तनशील सामाजिक-सांस्कृतिक, राजनीतिक-आर्थिक, नैतिक-धार्मिक शक्तियों की समझ का गहरा प्रमाण देता। ज़्यादातर कहानियों में व्यवस्था-विरोध का गुस्सा भर है। पर गुस्से को सृजनात्मक उपयोग किसी बड़ी तैयारी का प्रमाण नहीं देता। आज की उपभोक्तावादी संस्कृति किस तरह और किस बेरहमी से मानवतावादी मूल्यों और भारतीय-संस्कारों का सिलसिलेवार ढंग से संहार कर रही है—इसकी चिंता बहुत कम कहानीकारों को है। सामाजिक-सांस्कृतिक वेदना-तंत्र के साथ घनिष्ठ संबंध की जो अवधारणा प्रेमचंद, यशपाल और विष्णु प्रभाकर ने विकसित की है उसकी डोर ही हमारे हाथ से खिसकती जा रही है। इन सब कमियों के बावजूद अच्छी बात यह है कि प्रेमचंद से अज्ञेय और अज्ञेय से ब्रजेश्वर मदान तक की कहानियों में सामाजिक सजगता, शिल्पगत परिष्कार और रूपान्वेष में अन्विति और अंतर्योजना

स्थापित करने वाली जो प्रक्रिया शुरू हुई थी वह आज भी लोक-भाषा और लोक-चेतना की संवेदनात्मक गतियों में विकसित होती देखी जा सकती है। पिछले दौर की कहानी में बोध संवेदन और अभिव्यक्ति के स्तर पर जो ठहराव आ गया था, उसे इस दौर के कहानीकारों ने निर्ममता और निर्भयता से तोड़कर नई गति दी है। नए लोगों में आदमी की बुनियादी हालत को बयान करने की तड़प का अहसास तो बढ़ा है, पर अप्रासंगिक सवालों में उलझे रहने का खतरा भी कम दृष्टिगत नहीं होता। बहुत से कहानीकार आज भी पुराने मुद्दों को ढोए जा रहे हैं और इधर बहुत-सा लिखने पर भी प्रासंगिक लिख नहीं पा रहे हैं। इस स्थिति के कारण युवा कहानीकारों की सृजन-संभावनाएँ ही भरोसा बँधाती हैं।

अद्यतन उपन्यास

सातवें-आठवें दशक के हिंदी उपन्यासों में कथ्यगत संवेदना, रूपबंध और दृष्टि को लेकर गुणात्मक परिवर्तन परिलक्षित होता है। आज का उपन्यास समग्र परिवेश में फैलकर देश और काल की प्रामाणिक-चेतना से पाठकीय संवेदना को झकझोर देता है। समय और समाज की समस्याओं, प्रश्नाकुलताओं, चुनौतियों, अंतर्विरोधों, विसंगतियों, विद्रूपताओं और आधुनिक समाज की जटिलताओं-यंत्रणाओं को व्यक्त करने के लिए उपन्यास से उपयुक्त और समर्थ माध्यम आज दूसरा नहीं है। एक लंबे समय तक सभी विधाओं पर कविता अपना चक्रवर्तित्व स्थापित किए रही। लेकिन आज़ादी के बाद कविता धीरे-धीरे अपनी केंद्रीय स्थिति खोती गई और अन्य सभी विधाओं को दायें-बायें कोने में खिसकाकर कथा-साहित्य केंद्र में आ गया। जीवन के मोहभंग और जटिलता को व्यापक संदर्भों में प्रतिबिंबित करने का बड़ा हौसला आज उपन्यास में ही ठीक से दृष्टिगत होता है।

सातवें-आठवें दशक की चेतना का प्रतिनिधित्व लक्ष्मीकांत वर्मा के 'एक कटी हुई ज़िंदगी : एक कटा हुआ कागज़' (1965), 'टेराकोटा' (1971), लक्ष्मीनारायण लाल 'प्रेम अपवित्र नदी', कृष्णा सोबती के 'सूरजमुखी अँधेरे के' (1972), 'मित्रो मरजानी' (1967), उपेंद्रनाथ अश्क का 'शहर में घूमता आईना' (1963), भारतभूषण अग्रवाल का 'लौटती लहरों की बाँसुरी' (1964), राजेंद्र यादव 'अनदेखे अनजान पुल' (1963), मन्मथगुप्त 'शहीद और शोहदे' (1970), फणीश्वरनाथ रेणु 'जुलूस' (1965), 'कितने चौराहे' (1966), 'कलंक मुक्ति' (1976), हिमांशु श्रीवास्तव 'कथा सूर्य की नई यात्रा', शैलेश मटियानी 'किस्सा नर्मदाबेन गंगूबाई', रमेशचंद्र शाह 'गोबर गणेश', 'किस्सा गुलाम' (1986), रमाकांत 'प्यारा फ़र्जी अर्दब', डॉ० देवराज 'न भेजे गए पत्र', शिवप्रसाद सिंह 'अलग अलग वैतरणी' (1967)

रामदरश मिश्र 'जल टूटता हुआ' (1969), 'सूखता हुआ तालाब' (1972), जगदीशचंद्र 'धरती धन न अपना' (1972), मणि मधुकर 'सफ़ेद मेमने' (1971), रामकुमार भ्रमर 'काँच घर' (1971), भीष्म साहनी 'कड़ियाँ' (1970), 'तमस' (1973), शमशेर सिंह नरूला 'एक पंखड़ी की तेज़ धार ' (1965), राजकमल चौधरी 'मछली मरी हुई' (1966), रमेश बक्षी 'वैसाखियों वाली इमारतें' (1966), 'एक घिसा हुआ चेहरा' (1964), 'अठारह सूरज के पौधे' (1965), 'चलता हुआ लावा', उषा प्रियंवदा 'पचपन खम्भे लाल दीवारें' (1961), 'रुकोगी नहीं राधिका' (1967), मन्नू भंडारी ''आपका बँटी' (1971), 'महाभोज', कमलेश्वर 'डाक बँगला' (1962), 'तीसरा आदमी' (1964), 'समुद्र में खोया हुआ आदमी' (1965), 'आगामी अतीत' (1976), 'काली आँधी', प्रयाग शुक्ल 'गठरी' (1986), मोहन राकेश 'अँधेरे बंद कमरे' (1961), 'अंतराल' (1972), निर्मल वर्मा 'वे दिन' (1964), 'लाल टीन की छत', गिरिराज किशोर 'यात्राएं' (1971), 'जुगलबंदी', 'चिड़ियाघर', हृदयेश 'गाँठ' (1970), 'हत्या' (1971), गंगा प्रसाद विमल 'अपने से अलग', मुदृला गर्ग 'चित्तकोबरा', मंजुल भगत 'लेडी क्लब', 'अनारो', श्याम व्यास 'एक प्यासा तालाब', ओमप्रकाश दीपक 'कुछ जिंदगियाँ बेमतलब', गोविंद मिश्र 'वह अपना चेहरा' (1971), 'लाल पीली ज़मीन', 'उतरती हुई धूप', शिवानी 'कृष्णाकली' (1969), मृणाल पांडे 'पंढरपुर पुराण', 'बदी उज्जमा', 'एक चूहे की मौत', 'छठा ब्राह्मण', जगदंबा प्रसाद दीक्षित 'मुरादघर' (1974), राही मासूम रज़ा 'आधा गाँव' (1966), टोपी शुक्ला 'हिम्मत जौनपुरी', 'दिल एक सादा कागज़', श्री लाल शुक्ल 'रागदरबारी' (1968), 'अज्ञातवास', आदमी का ज़हर', कृष्णा अग्निहोत्री 'टपरेवाले', निरूपमा सेवती 'बँटता हुआ आदमी', मालती तफ़कर 'इन्नी', रजनी पनीकर 'महानगर की गीता', 'दूरियां', मेहरून्निसा परवेज़ 'आँखों की देहलीज', 'उसका घर', मालती जोशी 'पाषाण युग', ममता कालिया 'बेघर', शशिप्रभा शास्त्री 'सीढ़ियाँ', नरेंद्र कोहली 'दीक्षा', 'अवसर', हरिशंकर परसाई 'रानी नागमती की कहानी', सर्वेश्वरदयाल सक्सेना 'पागल कुत्तों का मसीहा' (1977), 'सोया हुआ जल' (1977), 'कच्ची सड़क' (1987), 'उड़ते हुए रंग' (1974), 'अँधेरे पर अँधेरा' (1970), 'मीनाक्षी पुरी अँजाने 'पहचाने अजनबी', हरिप्रकाश त्यागी 'दूसरा आदमी लाओ, 'श्रीकांत वर्मा 'दूसरी बार', सुरेंद्र तिवारी 'फिर भी कुछ', प्रभाकर माचवे 'तीस-चालीस-पचास', 'दर्द के पैबंद', 'किसलिए', 'द्यूत', विष्णु प्रभाकर 'स्वप्नमयी', रवींद्र कालिया 'खुदा सही सलामत है', नरेंद्र कोहली 'युद्ध' (दो भाग), 'जंगल की कहानी', 'अवसर', 'साथ सहा गया दुख', 'अभिज्ञान', नासिरा शर्मा 'सात नदियाँ एक समुंदर', यादवेंद्र शर्मा 'चंद्र', 'हजार

घोड़ों का सवार', राजी सेठ 'तत्सत', सुदर्शन चोपड़ा 'सम्मोहन', विवेकी राय 'सोना माटी', शिवसागर मिश्र 'अजन्मा वह', 'अक्षत', द्रोणवीर 'टूटे हुए सूर्य' आदि उपन्यासों की एक लंबी सूची पर ध्यान जाता है। कोहली 'टप्पर गाड़ी' पानू खोलिया बिंब? अनिरुद्ध पांडेय 'पन्ना पुखराज', 'मुद्राराक्षस', 'हम सब मंसाराम'।

हिंदी के समकालीन उपन्यास-साहित्य ने पिछले दिनों अपरिचित और अमूर्त्त व्यापक से बचकर भोगे हुए जीवन-यथार्थ की निजी दुनिया के सीमित संसार को तात्कालिकता और आधुनिकता के मुहावरे में सृजित किया है। इस दौर का अधिकांश लेखन व्यक्ति-केंद्रित रहा और रचनाकार व्यक्ति के माध्यम से समय और समाज के हालत को सामने लाया। इस प्रवृत्ति का सर्वाधिक मुखर विस्फोट 'गोबर गणेश', 'किस्सा गुलाम', 'आपका बंटी' जैसे उपन्यासों में हुआ है। व्यक्ति के माध्यम से कथाकार 'स्व' और उसके आस-पास के परिवेश से उलझता है– उसका ध्यान राजनीतिक-आर्थिक स्थितियों पर जाता है–जिसने आज के ईमानदार व्यक्ति को भीतर से अकेला करके छील दिया है। उपन्यासों में सोचने-समझने-बहस करने वाले नर-नारियों की बौद्धिक-विवेक-वयस्कता इधर काफ़ी बढ़ी-चढ़ी दृष्टिगत होती है। ये पात्र अपनी नियति भी पहचानते हैं और राजनीति के तोताचश्म की उधेड़बुन में भी प्रवृत्त रहते हैं। उनके इच्छा-आकांक्षा, विचारधारा-राजनीति, मित्रता-शत्रुता, धर्म, साहित्य आदि सभी के प्रति निश्चित राय रहती है।

'स्व' के संबंधों की प्रासंगिकता-अप्रासंगिकता दिखाने के लिए इन स्व-केंद्रित उपन्यासों में नर-नारी संबंधों की दैहिक-भौतिक संबंधों की छानबीन बहुत बारीकी से की जाती है। बदलते हुए सामाजिक-आर्थिक-नैतिक संबंधों ने स्त्री-पुरुष की आदिम-राग-शक्ति, काम और प्रेम को भी दूषित कर दिया है। निर्मल वर्मा के 'वे दिन' में काम के आवेग की धारा का सूक्ष्म अंकन है। संभोग तक पहुँचने से पहले दो व्यक्तियों की मानसिकता का पूरा सूक्ष्म ब्यौरा दिया गया है। श्रीकांत वर्मा ने 'दूसरी बार' स्त्री के सामने पुरुष की हीनभावना और नफ़रत को प्रतीकों की नई गतियों-छवियों से उभारा है। ऐसे भी उपन्यास हैं, जो पति-पत्नी के बीच के दैहिक-संबंधों पर आँख गड़ाते हैं – जैसे गिरिराज किशोर का 'यात्राएँ'। 'यात्राएँ' नवविवाहित पति का पत्नी से संभोग न कर पाने की व्यथा-कथा है। पर इस विषय-वस्तु का सबसे जीवंत उपन्यास कृष्णा सोबती का 'सूरजमुखी अँधेरे के' है।

इस काल-खंड में हिंदी-उपन्यास में एक नई प्रवृत्ति यह भी उभरी है– **नौकरीपेशा मध्यवर्ग के लोगों की शहरी ज़िंदगी का केंद्र में आ जाना**। सन् 70 **के बाद आंचलिकता से मुक्ति पाकर कथाकार शहरी मध्यवर्ग की समस्याओं चुनौतियों-स्थितियों की ओर मुड़े और उनके चित्रण में प्रवृत्त होते गए हैं। शहरी-**

जीवन के चित्रण में सर्वाधिक चर्चा का केंद्र दफ़्तर की भ्रष्ट स्थितियों को उभारता है, जिसमें एक अफसर उससे बड़ी अफसर स्त्री के राग-रंग संबंधों को उभारा है। गोविंद मिश्र ने 'वह अपना चेहरा' में स्त्री क्लर्क और पुरुष अफसर की कथा को रोचक दास्तानों से उठाया है। भीष्म साहनी के उपन्यास 'कड़ियाँ' में दफ़्तर के नर-नारी की ही कथा है। बदी उज्जमा के उपन्यास 'एक चूहे की मौत' में दफ़्तरी-जीवन की झल्लाहट-यंत्रणा, ऊब आदि का वर्णन है। यहाँ चूहे और काम लेने वाले आदमी में फ़र्क कर पाना कठिन है।

महानगरीय जीवन की यंत्रणा और खोखलेपन को उभारने वाला प्रमुख उपन्यास लक्ष्मीकांत वर्मा रचित 'टैरीकोटा' है। इसमें दिल्ली के जीवन को सच्चे प्रतीकों से उजागर किया गया है। इस उपन्यास की कथा का आरंभ हस्तिनापुर की खुदाई में प्राप्त कुछ मूर्त्तियों के संकेत और रोहित-मिति के संवादों से होता है। अपाहिज-सेनापित कंबोज, उनकी अंधी पत्नी, तीन पुत्रियाँ, पांडव सेनापति कैशिवेय, सामंत रोहिताश्व की मूर्तियाँ अपने संकेतों, प्रतीकों में आधुनिक व्यथा बोझिल आदमी की प्रतिकृतियां हैं। इस प्रकार यह कथा प्राचीन होकर भी एकदम आधुनिक बोध से जुड़ी है। महाभारत युद्धोत्तर काल के पात्रों से महानगरीय जीवन की विडंबनाओं तथा विसंगतियों को नई प्रयोग-कला से उभारा गया है।

इधर के उपन्यासों में एक नवीन प्रवृत्ति और उभरी है—**विदेशों में रहने वाले भारतीय परिवारों, व्यक्तियों के अकेलेपन, ऊब आदि का चित्रण।** अक्सर वहाँ बसे भारतीय परिवार विदेशी-परंपराओं में ढल नहीं पाते। विदेशी जीवन में घुल-मिल न पाने की स्थितियों से उत्पन्न व्यथा का चित्रण रंग-भेद, जाति-भेद के तनावों की तस्वीर इन उपन्यासों में उभारी जाती है। मगर अभी इस तरह के उपन्यासों में विदेशों शहरों की भीड़-भाड़, रीति-रिवाज़ों की फैशन, भ्रष्टचार की बारीक दृश्यावलियाँ नहीं मिल पाती है। हिंदी में इस ढंग के उपन्यास निर्मल वर्मा, कृष्ण बलदेव वैद, रामकुमार, उषा प्रियंवदा आदि ने पिछले दशकों में लिखे हैं।

समग्रत: में, इधर के कुछ वर्षों में हिंदी-उपन्यास साहित्य में देश और काल की चेतना प्रखरता से अभिव्यक्त हुई है। उपन्यास के भाषा शिल्प में भी एक खुलापन आया है। नए-नए औपन्यासिक प्रयोगों ने जीवन की विविधता को कलात्मक सजगता से वैचारिक स्तरों पर अभिव्यक्ति दी है।

अद्यतन निबंध

समसामयिक हिंदी-निबंध में वैचारिक खुलापन आने के साथ-साथ युग की **समस्याओं-जटिलताओं-चुनौतियों पर तार्किक बहस** केंद्रित विवेक-वयस्कता में

पर्याप्त वृद्धि हुई है। अनेक प्रकार की गद्य-विधाओं के विकास ने हिंदी-गद्य को जो प्रौढ़ता प्रदान की है, उसका पूरा लाभ इधर के वर्षों में समीक्षात्मक तथा ललित व्यक्तित्व व्यंजक निबंधों ने उठाया है। आज निबंध अधिक एकाग्र आत्मदान प्रेरित विधा के रूप में गतिशील है और निबंधकारों की वृत्तियाँ गहरी एकाग्रता से केंद्रित जान पड़ती हैं। आचार्य रामचंद्र शुक्ल और आचार्य हज़ारी प्रसाद द्विवेदी की निबंध परंपरा का विकास यहां अवरुद्ध न होकर नई चिंतन पद्धतियों और अभिव्यक्ति की भंगिमाओं में प्रस्फुटित होती है। अज्ञेय, विद्यानिवास मिश्र, कुबरेनाथ राय, निर्मल वर्मा, रमेशचंद्र शाह, शरद जोशी, जानकीवल्लभ शास्त्री, रामेश्वर शुक्ल अंचल, नेमिचंद्र जैन, विष्णु प्रभाकर, जगदीश चतुर्वेदी, डॉ० देवराज, डॉ० नामवर सिंह, विवेकीराय आदि ने हिंदी-गद्य की निबन्ध परंपरा को न केवल आगे बढ़ाया है, बल्कि उसमें कुछ ऐसे विशिष्ट प्रयोग किए हैं, जो हिंदी-निबंध की शक्ति एवं संभावनाओं के प्रति आश्वस्त करते हैं। निबंध की रचनावृत्ति रोमांटिक भावावेग के बोध से बाहर निकलकर गैर-रोमांटिक बौद्धिक रुझानों की ओर झुकती प्रतीत होती है। ललित-निबंधों ने सर्जनात्मकता के लुभावने स्पर्श से नया आलोक पाया है। निबंधकार अपने युग और अपने निजी व्यक्तित्व का यहाँ प्रत्यक्ष रूप से सामना करता है और व्यक्तित्व की यह समृद्धि और शक्ति निबंधों की रचनात्मकता में उपयुक्त तत्व सिद्ध हुई है। रेखाचित्र, संस्मरण, आत्मकथा आदि सभी निबंध की नई शैली में मथकर नये रूपों-छवियों में आ रहे हैं। स्थिति यहाँ तक आ गई है कि अब निबंधों को भावनात्मक-वैचारिक निबंधों में वर्गीकृत करने वाला पुराना साँचा अपर्याप्त हो गया है। आज जटिल राजनीतिक परिस्थिति पर भी व्यंग्य-शैली में वैचारिक गहनता से निबंध लिखा जा रहा है और सांस्कृतिक विषयों पर निहायत अगंभीर ढंग से ललित-निबंध भी। आज ऐसा कोई विषय नहीं, जो निबंध की व्यापक परिधि के अंतर्गत समाहित न हो पाता हो।

इस कालखंड में अज्ञेय जी के निबंधों ने पाठकों का ध्यान सर्वाधिक आकृष्ट किया है। अज्ञेय जी के समीक्षात्मक-निबंध साहित्य के सवालों को साहित्य में उगाकर ही नहीं काट देते। उनके लिए ये सवाल मानव-संस्कृति से जुड़े महत्त्वपूर्ण सवाल हैं और इन सवालों के लिए रचनाकार अज्ञेय की साहित्य-दृष्टि बहुत गहरे तक जाती है। उनका साहित्य-चिंतन इतिहास, संस्कृति और परंपरा का एक और वाद्य यंत्र है। इसमें सिर्फ़ कला या साहित्य की एक तान नहीं है—साहित्य-विवेक और संस्कृति-मंथन इसकी एक गहन जटिल किंतु अनिवार्य प्रक्रिया है। यह प्रकिया अभी समाप्त नहीं हुई है। इसलिए इसमें से विचार संवेदना की नई ऐतिहासिक दृष्टि, मूल्य-दृष्टि का विकास आधुनिक दृष्टि के भीतर से पककर होता है। नए-

पुराने साहित्य, संस्कृति या किसी अन्य विषय को निबंधों में तथ्य से तत्व में बदल डालने की सृजनात्मक-वैचारिकता ने केंद्रीय स्थान बनाया है। इस चिंतन में आत्मान्वेषण और आत्मालोचन का आत्म-संघर्ष अपनी प्रबलता से झकझोरता है। अज्ञेय की चिंता जीवन के कुंठित और भ्रष्ट हो गए अर्थ को, खोए हुए अर्थ को फिर से रचने और परोसने की चिंता है। सामूहिक चेतना की मूलभूत वास्तविकताओं के साथ साझेदारी युग-यथार्थ के साथ बौद्धिक टकराहट, प्रयोग परंपरा और संप्रेषणीयता के रिश्तों को फिर से कायम करने की बेचैनी इन निबंधों में निरंतर कौंधती रहती है। 'आत्मपरक' (1983 ई०) के निबंध 'आत्मनेपद' और 'लिखी कागद कोरे' निबंध-संग्रहों के निबंधों को एक साथ लाते हैं।

दूसरे अज्ञेय जी के निबंध जयशंकर प्रसाद के निबंध संग्रह 'काव्य और कला तथा अन्य निबंध' की याद दिलाते हैं। प्रसाद की भाँति अज्ञेय के निबंधों की मूल चिंता भारतीय सांस्कृतिक बोध से निष्पन्न मूल्य-दृष्टि से जुड़ी रही है। प्रसाद जी संस्कृति बोध को निबंधों में चिंतन से हिला-डुलाकर पहचान करते हैं और अज्ञेय संस्कृति-बोध, साहित्य बोध को चिंता से कूट-फटक कर साफ़ करने के बाद परोसते हैं।

इधर आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के ऐतिहासिक सांस्कृतिक बोधपरक सृजनात्मक ललित विचार चेतना को **पं० विद्यानिवास मिश्र** के निबंधों ने आधुनिक विस्तार दिया है। आचार्य द्विवेदी के निबंधों की ललित-शैली का विद्यानिवास के निबंध सच्चे अर्थों में लालित्य बोधीय आलोक फैलाते हैं। इनमें लोक-संवेदना और लोक-हृदय की पकड़ बड़ी मर्मस्पर्शी है। मिश्र जी के निबंधो से एक ऐसे व्यक्ति का चित्र सामने आता है, जो भारतीय सारस्वत परंपरा को, उनके मूल्य बोध को बेहतरीन ढंग से व्यक्त करने में सर्वथा सक्षम है। इन ललित निबंधों के संवेगों की गंध प्राणों को जातीय स्मृति, देशाभिमान, संस्कृति का उज्ज्वल राग-रंग और ऐतिहासिक विवेक से तादांय कराती हुई चेतना में रच-पच जाती है। पश्चिमी संस्कृति का नकली अनुकरण और आज के मानव का खोखलापन मिश्र जी के निबंधों में दर्द बनकर उभरता है। शिक्षा, संस्कृति और साहित्य इन ललित-निबंधों के तीन नेत्र हैं—इन्हीं से हेरते हुए वे 'नया अर्थ' पाते हैं। मिश्र जी ने साफ़ कहा है—'वैदिक सूत्रों के गरिमामय उद्‌गम से लेकर-गीतों के महासागर तक जिस अविच्छिन प्रवाह की उपलब्धि होती है, उस भारतीय परंपरा का मैं स्नातक हूँ। इसी चिंतन धारा के प्रवाह से 'परंपरा बंधन नहीं', 'मेरे राम का मुकुट भीग रहा है', 'वसंत आ गया पर कोई उत्कंठा नहीं', 'कँटीले तारों के आर-पार', 'संचारिणी', 'कौन तू फुलवा बीनन हारी', 'अस्मिता के लिए', 'भ्रमरानंद के पत्र', 'अंगद की नियति', 'चितवन की

छाँव', 'कदम की फूली डाल', 'तुम चंदन हम पानी', 'आँगन का पंछी और बंजारा मन', 'मैंने सिल पहुँचाई', 'साहित्य की चेतना', 'महाभारत का काव्यार्थ', 'लागौ रंग हरी' तथा 'अग्निरथ' जैसे निबंध-संग्रहों की एक लंबी परंपरा है। 'अग्निरथ के व्यक्तिव्यंजक निबंध पूर्व निबंध-संग्रहों से अलग हैं।'

समीक्षात्मक निबंधों में अपनी प्रखर बौद्धिकता और विवेक वयस्क वैचारिकता के क्षेत्र के सबसे प्रबल निबंधकार हैं—**गजानन माधव मुक्तिबोध**। मुक्तिबोध ने 'नई कविता का आत्मसंघर्ष तथा अन्य निबंध', 'नए साहित्य का सौंदर्यशास्त्र', 'समीक्षा की समस्याएँ' तथा 'एक साहित्यिक की डायरी' नामक निबंध-संग्रहों से आधुनिक-सृजन-समीक्षा को नई दृष्टि से प्रतिमान दिए हैं। इधर 'मुक्तिबोध रचनावली' (सं. नेमिचंद्र जैन) के प्रकाशन से उनके सभी विचार पाठकों को उपलब्ध हो गए हैं।

नए साहित्य के सिद्धांतकारों-चिंतकों में विजयदेव नारायण साही की भूमिका उल्लेखनीय है। सन् 1960-61 के संयुक्तांक पाँच-छह में प्रकाशित उनका प्रथम निबंध 'लघुमानव के बहाने हिंदी कविता पर एक बहस' ने सभी प्रबुद्ध रचनाकारों-पाठकों-आलोचकों-मठाधीशों का ध्यान उनकी ओर आकृष्ट किया। साही जी ने परंपरा की नई व्याख्या करते हुए, अज्ञेय का संबंध-सूत्र प्रसाद से स्थापित किया। उनका कहना है कि ''यदि परंपरा हमेशा परिवर्तन और वैपरीत्य की दिशाओं में फूटती हुई चलती है, तो अज्ञेय के आगे के इतिहासकार को प्रसाद की 'परंपरा' में ही दिखलाई पड़ेंगे।' उनका चर्चा के केंद्र में रहने वाला दूसरा निबंध है 'शमशेर की काव्यानुभूति की बनावट'। वैसे साही ने 'राजनीति और साहित्य', 'साहित्य में गतिरोध', 'साहित्यकार और उसका परिवेश', 'आजीविका और आश्रय', 'नितांत समसामयिकता का नैतिक दायित्व' (1, 2) 'हिंदी के सृजनात्मक लेखन में अंग्रेज़ी शब्दों का प्रयोग', हिंदी गीत-परंपरा का नया उत्थान', 'पाश्चात्य प्रभावों के संदर्भ में वर्तमान काव्यभाषा की समस्याएँ', 'साहित्यिक अश्लीलता का प्रश्न', 'विदेशी सहायता और देश पर उसका प्रभाव', 'साहित्य क्यों', 'गोदान', 'इतिहास और परंपरा', 'पुनर्मूल्याँकन किस आधार पर', 'धर्म सापेक्ष्य और धर्म निरपेक्ष तत्वों की तलाश', हिंदी-साहित्य और उसके आस-पास', 'राजनीति में साहित्यकार', 'सांस्कृतिक परिवर्तन में पश्चिमवाद की कसौटी', 'जायसी' और 'भाषा का अवमूल्यन' आदि वैचारिक आधुनिक और प्रखर विश्लेषण क्षमता से हिंदी-निबंध को नई विचार-भूमि पर ला खड़ा कर देते हैं।

इधर के वर्षों में कथाकार **निर्मल वर्मा** ने हिंदी-निबंध को नया रूप-रंग दिया है। इन निबंधों में उनकी सृजनात्मक बौद्धिक यात्राओं का एक दिलचस्प संसार है। इस संसार से निर्मल वर्मा समकालीन कला- संस्कृति-साहित्य, भाषा दर्शन आदि के

छाँव', 'कदम की फूली डाल', 'तुम चंदन हम पानी', 'आँगन का पंछी और बंजारा मन', 'मैंने सिल पहुँचाई', 'साहित्य की चेतना', 'महाभारत का काव्यार्थ', 'लागौ रंग हरी' तथा 'अग्निरथ' जैसे निबंध-संग्रहों की एक लंबी परंपरा है। 'अग्निरथ के व्यक्तिव्यंजक निबंध पूर्व निबंध-संग्रहों से अलग हैं।'

समीक्षात्मक निबंधों में अपनी प्रखर बौद्धिकता और विवेक वयस्क वैचारिकता के क्षेत्र के सबसे प्रबल निबंधकार हैं—**गजानन माधव मुक्तिबोध**। मुक्तिबोध ने 'नई कविता का आत्मसंघर्ष तथा अन्य निबंध', 'नए साहित्य का सौंदर्यशास्त्र', 'समीक्षा की समस्याएँ' तथा 'एक साहित्यिक की डायरी' नामक निबंध-संग्रहों से आधुनिक-सृजन-समीक्षा को नई दृष्टि से प्रतिमान दिए हैं। इधर 'मुक्तिबोध रचनावली' (सं. नेमिचंद्र जैन) के प्रकाशन से उनके सभी विचार पाठकों को उपलब्ध हो गए हैं।

नए साहित्य के सिद्धांतकारों-चिंतकों में विजयदेव नारायण साही की भूमिका उल्लेखनीय है। सन् 1960-61 के संयुक्तांक पाँच-छह में प्रकाशित उनका प्रथम निबंध 'लघुमानव के बहाने हिंदी कविता पर एक बहस' ने सभी प्रबुद्ध रचनाकारों-पाठकों-आलोचकों-मठाधीशों का ध्यान उनकी ओर आकृष्ट किया। साही जी ने परंपरा की नई व्याख्या करते हुए, अज्ञेय का संबंध-सूत्र प्रसाद से स्थापित किया। उनका कहना है कि "यदि परंपरा हमेशा परिवर्तन और वैपरीत्य की दिशाओं में फूटती हुई चलती है, तो अज्ञेय के आगे के इतिहासकार को प्रसाद की 'परंपरा' में ही दिखलाई पड़ेंगे।' उनका चर्चा के केंद्र में रहने वाला दूसरा निबंध है 'शमशेर की काव्यानुभूति की बनावट'। वैसे साही ने 'राजनीति और साहित्य', 'साहित्य में गतिरोध', 'साहित्यकार और उसका परिवेश', 'आजीविका और आश्रय', 'नितांत समसामयिकता का नैतिक दायित्व' (1, 2) 'हिंदी के सृजनात्मक लेखन में अंग्रेज़ी शब्दों का प्रयोग', हिंदी गीत-परंपरा का नया उत्थान', 'पाश्चात्य प्रभावों के संदर्भ में वर्तमान काव्यभाषा की समस्याएँ', 'साहित्यिक अश्लीलता का प्रश्न', 'विदेशी सहायता और देश पर उसका प्रभाव', 'साहित्य क्यों', 'गोदान', 'इतिहास और परंपरा', 'पुनर्मूल्याँकन किस आधार पर', 'धर्म सापेक्ष्य और धर्म निरपेक्ष तत्वों की तलाश', हिंदी-साहित्य और उसके आस-पास', 'राजनीति में साहित्यकार', 'सांस्कृतिक परिवर्तन में पश्चिमवाद की कसौटी', 'जायसी' और 'भाषा का अवमूल्यन' आदि वैचारिक आधुनिक और प्रखर विश्लेषण क्षमता से हिंदी-निबंध को नई विचार-भूमि पर ला खड़ा कर देते हैं।

इधर के वर्षों में कथाकार **निर्मल वर्मा** ने हिंदी-निबंध को नया रूप-रंग दिया है। इन निबंधों में उनकी सृजनात्मक बौद्धिक यात्राओं का एक दिलचस्प संसार है। इस संसार से निर्मल वर्मा समकालीन कला, संस्कृति-साहित्य, भाषा दर्शन आदि के

प्रश्न उठाकर पूरी शक्ति से जूझते हैं। चीज़ों के आर-पार झाँकने वाले पारदर्शिता निर्मल के निबंधकार का सबसे बड़ा गुण है। उनके दो विशिष्ट निबंध-संग्रह हैं – 'शब्द और स्मृति' तथा 'कला का जोखिम'। सभी निबंधों में निर्मल वर्मा की बुनियादी चिंता यही है कि ''एक संपूर्ण समाज में सृजनात्मक कल्पना की भूमिका का पुनराविष्कार कैसे किया जाए।'' ऐसे ही विचार अज्ञेय जी अपने निबंधों में उठाते हैं। अत: निर्मल और अज्ञेय के चिंतन में निकटता के अंत:सूत्र काफ़ी मिलते हैं। निर्मल के मन में जहाँ तक 'स्मृति' का प्रश्न है वहाँ 'जिसकी सामूहिकता के घेरे में हर कलाकार दूसरों से जुड़ा है।' निर्मल मानते हैं कि भारतीय चरित्र का निर्माण दो पाटों के मध्य हुआ–व्यावहारिक स्तर पर इतिहास का स्वीकार और चिंतन स्तर पर उसके दबाव की उपेक्षा से। 'संस्कृति, समय और भारतीय उपन्यास' निबंध में एक नई बहस उठी है–''उपन्यास की अर्थवत्ता यथार्थ में नहीं, उसे समेटने की प्रक्रिया में, उसके संघटन की अंदरुनी चालक शक्ति में निहित है।'' निर्मल के 'कला का जोखिम' निबंध-संग्रह में दिनोदिन पराधीन होती सभ्यता में कला की स्वयात्तता का प्रश्न ही कला का जोखिम है एवं यही मूल प्रश्न 'रचनात्मक क्रांति की मूल चिंता का विषय' है। निर्मल वर्मा 'कला, मिथक और यथार्थ', 'परंपरा और इतिहास बोध', 'रचना की ज़रूरत', 'साहित्य में प्रासंगिकता का प्रश्न', 'रेणु : समग्र मानवीय दृष्टि', 'अज्ञेय : आधुनिक बोध की पीड़ा', 'हमारे समय का नायक', 'सुलगती टहनी' आदि यही प्रश्न बार-बार उठाते हैं–हमारे युग का विशिष्ट अभिशाप यह है कि जहाँ कला एक तरफ़ मनुष्य के कार्य-कलाप से विगलित हो गयी है वहाँ दूसरी तरफ़ वह स्वायत्त सत्ता भी नहीं बन सकी है, जो स्वयं मनुष्य की खंडित अवस्था को अपनी स्वतंत्र गरिमा से अनुप्राणित कर सके।''

निर्मल वर्मा से अलग विचार-दृष्टि अपनाते हुए इस काल-खंड में नेमिचंद्र जैन की निबंध-यात्रा का विकास हुआ है। उनके 'अधूरे साक्षात्कार', 'रंगदर्शन', 'बदलते परिप्रेक्ष्य' तथा 'जनांतिक ' के समीक्षात्मक निबंधों ने एक अलग पहचान बनाई है। डॉ० नामवर सिंह के वैचारिक सैद्धांतिक निबंध 'कविता के नए प्रतिमान' इधर काफ़ी चर्चा का केंद्र रहे हैं। इन निबंधों ने बड़ी ज़ोर का धमाका किया है, जिनसे पुराने प्रतिमानों की चूलें हिल गई हैं। सृजनात्मक गद्य का मोहक नमूना इनकी पुस्तक 'दूसरी परंपरा की खोज' में मिलता है। वैचारिक गद्य कितना सृजनात्मक और ललित हो सकता है–यह प्रमाण नामवर सिंह ने इन निबंधों में कलात्मक ढंग से दिया है। मार्क्सवादी निबंधकार रमेश कुंतल मेघ ने 'क्योंकि समय एक शब्द ', अथातो सौंदर्य जिज्ञासा', 'साक्षी है सौंदर्य प्राश्निक जैसी पुस्तकों में समीक्षात्मक निबंध की स्तरीयता को ज्ञान-संग्रह से बढ़ाया है।'

डॉ० रामविलास शर्मा की निबंध-शैली हिंदी-गद्य में स्वच्छता, प्रखरता और वैचारिक संपन्नता के लिए वरदान सिद्ध हुई है। उनके सभी महत्त्वपूर्ण निबंधों को एक साथ सामने लाने वाले 'विराम चिह्न', 'मार्क्सवाद और प्रगतिशील साहित्य', 'परंपरा का मूल्याँकन', 'मानव सभ्यता का विकास', 'भाषा युगबोध और कविता', कथा-विवेचना और गद्य-शिल्प', 'भारत में अंग्रेज़ी राज और मार्क्सवाद' (भाग 1—2) 'मार्क्स और पिछड़े हुए समाज' जैसे संग्रह प्रकाशित हुए हैं। 'विराम-चिह्न' की भूमिका में उन्होंने लिखा है, ''आपसदारी में कह दूँ कि मेरे निबंधों का यह सबसे अच्छा संग्रह है। यह बात दूसरी है कि मेरा कोई भी निबंध-संग्रह अच्छा न बन पड़ा हो, किंतु उनमें—अंधों में काने राजा के समान ही सही—यह 'विराम-चिह्न' सर्वोपरिक है।''

हिंदी-निबंध में व्यंग्य का विकास ज़ोरों से प्रगति कर रहा है। इस क्षेत्र में **कुबेरनाथ राय, विवेकीराय, शरद जोशी, रवींद्र कालिया** आदि ने हिंदी-निबंध की एक समर्थ व्यंग्य-शैली विकसित की है। सामाजिक-राजनीतिक, आर्थिक, नैतिक, साहित्यिक-सांस्कृतिक सभी क्षेत्रों पर इन व्यंग्यकारों का ध्यान है, हालाँकि ज्यादातर व्यंग्य राजनीतिक व्यंग्य के रूप में ही उभरे हैं। कुबेरनाथ राय 'निषाद बाँसुरी' का संसार हटाकर यहाँ रवींद्र कालिया, रवींद्र त्यागी, ठाकुर प्रसाद सिंह तथा शरद जोशी आ जाते हैं। विवेकी राय ने 'बबूल', 'फिर वैतलवा डाल पर', 'जुलूस रुका है', 'गँवई गाँव की गंध में' ललित निबंधों के भीतर से व्यंग्य उत्पन्न किया है। कुबरेनाथ राय 'दृष्टि अभिसार' में तीखा व्यंग्य करते हैं—पर वह उतना पैना और अर्थगर्भित नहीं है, जितना शरद जोशी का व्यंग्य। रवींद्र त्यागी के निबंध-संग्रह 'शोकसभा', 'देवदार के पेड़', 'अतिथि कक्ष' में आज की ज़िंदगी की विडंबनाओं को व्यंजनाधर्मी कला से उजागर किया है। शरद जोशी ने 'तिलस्म', 'जीप पर सवार हल्लियाँ' तथा 'यथासंभव' (1985) में हिंदी-गद्य की सृजनात्मक के व्यंग्य का संग बरसाया है।

नए निबंधकारों में विशिष्ट नाम उभरा है—रमेशचंद्र शाह। शाह के निबंध-संग्रहों में 'समानांतर', 'वागर्थ', 'शैतान के बहाने' आदि का नाम उल्लेखनीय है। निबंधों में इतिहास परंपरा और संस्कृति की चिंता अज्ञेय जी की भांति शाह को मथती रहती है। 'साहित्य में आज का गतिरोध', 'समकालीन रचना में स्वतंत्रता का अर्थ' आदि उनके ऐसे निबंध हैं, जो अपनी वैचारिक घनता और ऐतिहासिक-बोध की स्पष्टता के लिए याद किए जाएँगे।

हिंदी साहित्य के प्रतिष्ठित निबंधकारों में डॉ० नगेंद्र, डॉ० देवराज, महादेवी वर्मा, विजयेंद्र स्नातक, केशव वर्मा, धर्मवीर भारती, सर्वेश्वर, रामेश्वर शुक्ल,

'अंचल' बराबर सक्रिय रहे हैं। इन निबंधकारों की चिंतनात्मक प्रौढ़ता ने हिंदी-निबंध की दिशा को भटकने से बचाया है। प्रसिद्ध कथाकार और आत्मकथा लेखक विष्णु प्रभाकर ने 'हम जिनके ऋणी हैं' नामक निबंध-संग्रह में हमारे राष्ट्रीय नेताओं पर ललित निबंध लिखे हैं। जानकीवल्लभ शास्त्री ने 'मन की बात' तथा 'जो न बिक सकी' निबंध-संग्रहों में क्लासिकल संवेदना का उदात्त-रूप सामने रखा है। इधर 'माखनलाल चतुर्वेदी रचनावली', 'रांगेय राघव ग्रंथावली', 'राहुल सांकृत्यायन के श्रेष्ठ निबंध' तथा गुलेरी और पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी के श्रेष्ठ निबंधों ने भी हिंदी-निबंध की समृद्धि में योगदान किया है।

युवा निबंधकारों में प्रभाकर श्रोत्रिय, चंद्रकांत वांदिवडेकर, नंदकिशोर आचार्य, बनवारी, कृष्णदत्त पालीवाल, प्रदीप मांडव, कर्ण सिंह चौहान, चंचल चौहान, विजयमोहन सिंह, ज्ञानरंजन जैसे बहुत-से महत्त्वपूर्ण निबंधकार इस दौर में उभरे हैं। कृष्णदत्त पालीवाल ने 'नया सृजन नयाबोध' के समीक्षात्मक निबंधों से अलग इधर ललित-निबंधों की एक ताजी शैली विकसित की है। इस तरह से ललित निबंधों में 'देसी ताले विदेशी कुंजी', 'धर्म, संस्कृति और नवजागरण', 'हमारी मान्यताओं के सांस्कृतिक उत्स', 'परंपरा में ही हैं नवजागरण की जड़ें', नए चिंतन को अंकुरित करते हैं। इस दौर के नए निबंधकार सांस्कृतिक-सामाजिक विषयों पर निबंध ज़्यादा लिखते हैं और इन निबंधों में भारतीय लोक-परंपराओं और मान्यताओं पर ध्यान केंद्रित किया जाता है।

समग्रत: राजनीतिक-सांस्कृतिक विषयों पर चिंतन की ताज़गी से निबंध लिखना इन नए निबंधों की विशिष्ट प्रवृत्ति है। हास्य, व्यंग्य, विनोद की दिशा में भी शरद जोशी, रवींद्र कालिया जैसे निबंधकार विशेष योगदान दे रहे हैं। हिंदी काव्य-भाषा के रूप में तथा राष्ट्रभाषा के रूप में—जैसे विषयों पर भी अनगिनत निबंध लिखे गए हैं और लिखे जा रहे हैं। हिंदी में 'आलोचना', 'जनसत्ता', ''नवभारत टाइम्स', 'भाषा', 'साक्षात्कार', 'पूर्वग्रह', 'दस्तावेज़' आदि पत्र-पत्रिकाओं के माध्यम से नया निबंध लगातार समृद्ध हो रहा है। सबसे बड़ी बात यह है कि समीक्षात्मक निबंधों के साथ-साथ इधर के दशकों में व्यक्तितत्व-रंजक, व्यक्ति-व्यंजक ललित निबंधों का बड़ा प्रीतिकार विस्तार हुआ है। अत: हिंदी-गद्य की सृजनात्मक सम्भावनाओं की दिशा में इन ललित निबंधों ने महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है।

अद्यतन आलोचना

साठोत्तरी हिंदी-आलोचना का जन्म रचना-कर्म की भाँति ही मोहभंग की स्थितियों से हुआ। साथ ही आधुनिक विचारधाराओं, साहित्य और कला के आंदोलनों,

घटनाओं, सिद्धांतों, संघातों, समस्याओं ने बुनियादी तौर पर रचना और आलोचना दोनों में परिवर्तन किए। फ्रॉयड, युंग, एडलर, एजरा पाउंड, टी.एस. इलियट, एफ. आर. लीविस, सार्त्र आदि विचारकों से हिंदी के लेखक का संपर्क बढ़ा। मार्क्स और लूकाच उसकी चेतना में नए बोध से जागृत हुए। अस्तित्ववाद, मानववाद, क्युबिज्म, प्रभाववाद, यथार्थवाद, अतियथार्थवाद, न्यू क्रिटिसिज़्म, नव्यअरस्तूवादी–सिद्धांतों और आलोचना-पद्धतियों के परिचय ने हिंदी आलोचना में एक नया बौद्धिक परिबेश तैयार किया। परिणामतः पुराने आलोचकों की तुलना में नया आलोचक और अधिक जागृत, चौकन्ना और चतुर दृष्टिगत हुआ। पुरानी सैद्धांतिक मान्यताओं को विशेषकर संस्कृत-हिंदी काव्य-शास्त्र–नवीन सैंद्धांतिकता और व्यावहारिकता ने पछाड़कर नवीन मूल्य एवं मानदंडों को ग्रहण किया। प्रयोगवादी तथा नई कविता की अभ्यस्त लीकें भी नवीन सृजनात्मक और आलोचना में चुभने लगीं।

अज्ञेय जी ने साहसिक तार्किकता के साथ युग-बोध में परिवर्तन की प्रक्रिया को रेखांकित करते हुए बदलते हुए रागात्मक संबंधों की बात उठाई। यह बात स्वीकार कर ली गई कि बदलती चेतना ने पुराने संस्कारगत राग-संबंधों को भीतर से बदल दिया है। परिणामतः वस्तुओं को देखने की दृष्टि बदली है और नई वास्तविकता से साक्षात्कार नए राग-बोध से ही संभव है। जटिल होते हुए युग की जटिल संवेदनाओं ने सृजन कर्म को जटिल बना दिया। परिणामतः रचना की भावनात्मक-ज्ञानात्मक वैचारिक संश्लिष्टता, बौद्धिकता, आधुनिकता, ऐतिहासिकता का अनुभव ही अर्थ रचना को पकड़ना-समझना आलोचना में कठिन हो गया। पिछड़ती समझ के पाठक और आलोचक नए सृजन की नासमझ व्याख्याओं से ही चौपट हो गये। सृजन की मौलिकता और समझाने के लिए नए रचनाकारों ने सैद्धांतिक मान्यताओं और व्यावहारिक समीक्षाओं से नई आलोचना-भूमि तैयार की। इनमें अज्ञेय, मुक्तिबोध, रामविलास शर्मा, नेमिचंद्र जैन, धर्मवीर भारती, नलिन विलोचन शर्मा, गिरिजा कुमार माथुर, भारतभूषण अग्रवाल, रघुवीर सहाय, विजयदेव नारायण साही, केदारनाथ सिंह, मलयज, जगदीश गुप्त, लक्ष्मीकांत वर्मा, श्रीकांत वर्मा, कुंवरनारायण आदि रचनाकारों का चिंतन काफी उपयोगी सिद्ध हुआ। सच्चे अर्थों में इन्हीं रचनाकारों के नए चिंतन ने **सृजनात्मक-आलोचना** की शुरुआत की है! मूल्यवादी समीक्षा तथा नई समीक्षा की टकराहट का यह दौर नवीन समीक्षा-कर्म की संभावनाओं का दौर भी बनता गया।

मुक्तिबोध के क्रांतिकारी आलोचना-कर्म का विस्फोट सन् 1961 ई० में 'कामायनी : एक पुनर्विचार' के प्रकाशन से हुआ। मुक्तिबोध ने 'कामायनी' को इसलिए चुना, क्योंकि 'कामायनी' साहित्य के रसवादी-छायावादी-पुराणपंथियों के

हाथ में, नवीन प्रगति शक्तियों के विरुद्ध एक शस्त्र बन गई।'' साथ ही 'भाववादी आलोचकों ने प्रसाद जी से भी आगे बढ़कर 'कामायनी' का रहस्यवादी मनोवैज्ञानिक अर्थ लगाया और उसके उपयोगी तत्वों को प्रच्छन्न कर दिया।'' मुक्तिबोध ने 'कामायनी : एक पुनर्विचार' के द्वारा आचार्य रामचंद्र शुक्ल की आलोचना-धारा का नवसंस्कार-नवनिर्माण किया। शुक्ल जी की भाँति ही मुक्तिबोध ने आलोचना के रहस्यवादी-सौदर्यवादी, भाववादी, कलावादी, रूपवादी अध्यात्मवादी प्रतीकवादी-बिंबवादी, अस्तित्ववादी खतरों से जमकर लड़ाई लड़ी और इन घातक बीमारियों से हिंदी-समीक्षा को बचाने का भरपूर प्रयास किया। कला की व्यवितवादी प्रवृत्तियों के खिलाफ़ संघर्ष ने 'नई कविता का आत्मसंघर्ष और अन्य निबंध' तथा 'नए साहित्य का सौंदर्यशास्त्र' जैसे तगड़े चिंतन की समीक्षात्मक पुस्तकों को जन्म दिया। मुक्तिबोध ने सामंतवादी-साम्राज्यवादी-उपनिवेशवादी ताकतों के चरित्र को समझने के लिए 'कामायनी' पर मार्क्सवादी-मनोविश्लेषणवादी-समीक्षा के मिले-जुले प्रतिमान लागू किए। 'एक साहित्यिक की डायरी' (1964) में अपने चिंतन की भिन्नता को पुराने प्रगतिवादी आलोचकों की दृष्टि से अलगाया और पुराने प्रगतिवादी आलोचकों की संकीर्णतावादी-अलगाववादी दृष्टि की कमज़ोरियों पर प्रहार करते हुए उन्हें सलाह भी दी। नई कविता की शक्ति संभावनाओं की महत्त्व-प्रतिष्ठा करते हुए मुक्तिबोध ने कला और साहित्य की 'जड़ीभूत सौंद्रर्यभिरुचियों' का डटकर विरोध किया।

हिंदी-आलोचना के इस दौर में सर्वाधिक चर्चा का केंद्र नामवर सिंह की पुस्तक 'कविता के नए प्रतिमान' रही है। कई दृष्टियों से यह पिछले दो दशकों की हिंदी कविता संबंधी आलोचना की बहुत विचारोत्तेजक पुस्तक है। इसमें बदले हुए काव्य-बोध और मूल्य-बोध को भारी बहसों-तर्कों से परिभाषित करने का प्रयास किया गया है। कविता की नई कसौटियों को पाने के लिए पूरी पुस्तक विवाद-शैली में लिखी गई है, हालाँकि इस पुस्तक के विचारों पर मुक्तिबोध तथा विजयदेव नारायण साही के विचारों की भारी धमक है। नई कविता की प्रकृति और संभावनाओं को नए प्रतिमानों के साथ समझाने का यह एक अच्छा प्रयास है। नामवर सिंह की 'दूसरी परंपरा की खोज' आचार्य हज़ारी प्रसाद द्विवेदी की साहित्य-दृष्टि को समझाने का गंभीर चिंतन है। हिंदी गद्य की सृजनात्मकता और आलोचना के लालित्य में यह अपने ही ढंग की सृजनात्मक आलोचना का नमूना है।

शुद्ध आलोचक न होते हुए भी इन दशकों में अज्ञेय जी ने हिंदी आलोचना को काफ़ी समृद्ध किया है। इस दृष्टि से 'आत्मनेपद', 'हिंदी साहित्य : एक आधुनिक परिदृश्य', 'आलवाल', लिखि कागद कोरे', 'जोग लिखी', 'संवत्सर', 'अद्यतन', 'आत्मपरक', सर्जना और संदर्भ', 'स्मृति लेखा', 'केंद्र और परिधि' आदि पुस्तकों का

योगदान स्मरणीय है। 'चौथा सप्तक' की भूमिका 'पुष्करिणी' की भूमिका का आलोचनात्मक योगदान भी महत्त्वपूर्ण है। कहना न होगा कि अज्ञेय जी ने नयी कविता को प्रतिष्ठित करने के साथ ही उसके मूल्यांकन के प्रतिमानों का निरूपण किया है। ये नए प्रतिमान कवियों का पुनर्मूल्याँकन करने में भी काफ़ी मदद करते हैं।

नई कविता और नई सर्जना के सबसे प्रबल सिद्धांतकार हैं—विजयदेव नारायण साही। साही ने 'लघुमानव के बहाने हिंदी-कविता पर एक बहस' तथा 'शमशेर की काव्यानुभूति की बनावट' शीर्षक दो निबंधों से ही हिंदी आलोचना में अपना विशिष्ट स्थान बना लिया है। शमशेर की 'काव्यानुभूति की बनावट' में उन्होंने नई सर्जना के बदलाव को तत्त्व-दृष्टि से पकड़ते हुए कहा, 'नई कविता की बहसों में यह मान्यता अंतर्भूत रही है कि न सिर्फ कविता का ऊपरी कलेवर बदला है या नए बिंबों या प्रतीकों या शब्दावली की तलाश हुई है, बल्कि गहरे स्तर पर काव्यानुभूति की बनावट में ही परिवर्तन आ गया है। चेतना के जो तत्त्व काव्यानुभूति के आवश्यक अंग दिखते थे, उनमें से कुछ अनुपयोगी या असार्थक दिखने लगे कुछ अन्य, जो पहले आवश्यक या विरोधी लगते थे, काव्यानुभूति के केंद्र में आ गए और कुल मिलाकर काव्यानुभूति और जीवन की काव्येतर अनुभूतियों में जो रिश्ता दिखता था, वह रिश्ता भी बदल गया।'' नए साहित्य के साथ साही का ध्यान मध्यकाल की हिंदी-कविता और जायसी पर गया। जायसी पर अनुसंधान करते हुए उन्होंने इतने नये निर्णय दिए कि आचार्य शुक्ल के बाद फिर से जायसी का पुनराविष्कार ही कर डाला। आचार्य शुक्ल की अनेक मान्यताओं का खंडन करते हुए उनकी पुस्तक 'जायसी' (1983) सामने आई। यह पुस्तक आचार्य शुक्ल के जायसी संबंधी मूल्यांकन को आगे बढ़ाने वाली है। सूफी-सांप्रदायिक-ढाँचे में जायसी का मूल्यांकन हो रहा था, पर शुक्ल जी ने उसे तोड़ने की ज़रूरत नहीं समझी। साथ ही जायसी के 'पद्मावत' को पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध में बाँटकर शुक्ल जी ने समग्रता में कृति के अर्थ का अन्वेषण नहीं किया। वे उसके रूपक-तत्व में ही लिपटकर रह गए। साही ने कहा कि जायसी सूफी संप्रदायवाद के कवि नहीं हैं – वे मूलतः कवि हैं और एक विशिष्ट अर्थ में हिंदी के पहले विधिवत कवि हैं। साही की दृष्टि में जायसी का व्यक्तित्व और कवि-स्वभाव एक बौद्धिक कवि का हैं—सूफी संत या बैरागी बाबा का नहीं। कारण, जायसी भौतिकवादियों में अध्यात्मवादी दिखते हैं और अध्यात्मवादियों में भौतिकवादी। ''जायसी अपने समाज और उसमें प्रचलित सत्ता-संघर्ष को देख रहे थे। उनकी विशेषता यह थी कि उन्होंने इस समूचे परिदृश्य को नई पूर्वाग्रहहीन आँखों से देखा और उन्होंने इस विराट ट्रेजेडी और साथ ही इस अभिमान की व्यर्थता को

देखा, जो समाज को मथ रही थी।'' नई समीक्षा (न्यू क्रिटिसिज़्म) के सिद्धांत सूत्रों में किया गया यह वैचारिक मंथन समसामयिक हिंदी आलोचना में बेजोड़ है। साही ने 'इतिहास और परंपरा', 'गोदान', 'राजनीति और साहित्य', 'जनवादी साहित्य', 'साहित्य क्यों', 'धर्म सापेक्ष और धर्म निरपेक्ष तत्वों की तलाश हिंदी-साहित्य और उसके आस-पास' आदि समीक्षात्मक निबंधों से भी इस काल की हिंदी-आलोचना को नई दृष्टि दी है।

नवलेखन, नई कविता और समसामायिक कविता के विशिष्ट आलोचकों में रामस्वरूप चतुर्वेदी, लक्ष्मीकांत वर्मा, शमशेर बहादुर सिंह, जगदीश गुप्त, मलयज, धर्मवीर भारती, गिरिजा कुमार माथुर आदि का नाम उभरकर सामने आया है। रामस्वरूप चतुर्वेदी ने 'मध्ययुगीन हिंदी काव्य-भाषा' पर भाषावादी आलोचना की दृष्टि से गहन-गंभीर कार्य किया है। किंतु वे 'नवलेखन' (1960), 'भाषा और संवेदना' (1964), 'अज्ञेय : आधुनिक रचना की समस्या', 'कामायनी : पुनर्मूल्यांकन'आदि आलोचनात्मक पुस्तकों से नए साहित्य में अपनी अलग पहचान बनाते हैं। उन्होंने काव्य-भाषा की सृजनशीलता को अपनी आलोचना का केंद्रीय विषय बनाते हुए लिखा, ''आज की कविता को जाँचने के लिए, जो अब सचमुच 'प्रास के रजत पाश' से मुक्त हो चुकी है, अलंकारों की उपयोगिता अस्वीकार कर चुकी है और छंदों की पायलें उतार चुकी है, काव्य-भाषा का प्रतिमान ही शेष रह गया, क्योंकि कविता के संघटन में भाषा-प्रयोग की मूल और केंद्रीय स्थिति है।'' लक्ष्मीकांत वर्मा ने आलोचना कर्म में नई कविता की ऊर्जा को पहचान दी। इस दृष्टि से 'नई कविता के प्रतिमान' और 'नई प्रतिमान पुराने निकष।' (1966) की खूब चर्चा रही है। धर्मवीर भारती ने 'साहित्य और मानव मूल्य' तथा 'पश्यंती' में नई कविता की मूल्य-दृष्टि पर विचार किया है। गिरिजा कुमार माथुर ने 'नई कविता सीमाएँ और संभावनाएँ' डॉ० जगदीश गुप्त ने 'नई कविता : शक्ति और सीमा', डॉ० रघुवंश ने 'साहित्य का नया परिप्रेक्ष्य', डॉ० जगदीश कुमार ने 'नयी कविता की चेतना', 'नई कविता विलायती संदर्भ', 'शमशेर का काव्यालोक', कृष्णदत्त पालीवाल ने 'भवानी प्रसाद मिश्र का काव्य-संसार', 'सर्वेश्वर और उनकी कविता', डॉ० प्रभाकर श्रोत्रिय ने 'संवाद', 'रचना एक यातना है', नंदकिशोर आचार्य ने 'अज्ञेय की काव्य-तितीर्षा', डॉ० हरदयाल ने आधुनिक कविता का शिल्प', डॉ० नरेंद्र मोहन ने 'लंबी कविताओं का रचना-विधान' आदि आलोचनात्मक पुस्तकों से नई कविता का मूल्यांकन-विवेचन किया है। इस दौर में डॉ० केदारनाथ सिंह ने 'आधुनिक हिंदी कविता में बिंब-विधान', मलयज ने 'कविता से साक्षात्कार' दूधनाथ सिंह ने 'निराला : आत्महत्या

आस्था' जैसी आलोचनात्मक पुस्तकों से नई समीक्षा को प्रतिष्ठा दी है। विश्वनाथ प्रसाद तिवारी ने 'समकालीन हिंदी कविता' परमानंद श्रीवास्तव ने 'समकालीन कविता का व्याकरण' और अशोक वाजपेयी ने 'फिलहाल' के द्वारा कवियों और कृतियों की संवेदना, काव्य-भाषा तथा अभिव्यंजना के अन्य उपकरणों को विश्लेषित करने में 'क्लोज रीडिंग' पद्धति को ग्रहण किया है। कुल मिलाकर नई कविता के इन आलोचकों ने हिंदी आलोचना को नयी चिंतनात्मक अवधारणाओं से आगे बढ़ाया है।

रमेशचंद्र शाह का आलोचना-कर्म इतिहास-चिंतन, परंपरा और संस्कृति का भरा-पूरा संसार है। शाह ने संस्कृति मंथन की जटिल प्रक्रिया में से गुज़रकर अपना साहित्य-विवेक अर्जित किया है। 'छायावाद की प्रासंगिकता' से स्पष्ट है कि शाह की समीक्षा-दृष्टि सृजनात्मक आलोचना की ओर प्रवृत्त है। भूल से इसे प्रभावाभिव्यंजक समीक्षा नहीं मान लेना चाहिए क्योंकि शाह के पास अपने ढंग का मूल्य-विवेक है, जो अज्ञेय और देवराज के संस्कृति-चिंतन से समानता रखता है।

मार्क्सवादी-समीक्षा के प्रतिनिधि आलोचकों में आज दो नाम हैं—रमेश कुंतल मेघ और नेमिचंद्र जैन। आरंभ में रमेश कुंतल की जटिल शब्दावली में उलझाव रहा, किंतु यह अब धीरे-धीरे-समाप्त हो गया है और उनमें एक नई चमक पैदा हुई है। उनकी प्रतिनिधि आलोचनात्मक कृतियों में 'आधुनिकता-बोध और आधुनिकीकरण', 'मध्ययुगीन रस-दर्शन', 'अथातो सौंदर्य जिज्ञासा', 'क्योंकि समय एक शब्द है' और 'साक्षी है सौंदर्य प्राश्निक'। संस्कृत-हिंदी काव्यशास्त्र के सैद्धांतिक-चिंतन को डॉ० मेघ ने मार्क्सवादी विचारधारा की धार से चमकाया है।

नेमिचंद्र जैन ने वैचारिक दृढ़ता से नवीन कृतियों पर विचार किया है। उन्होंने अधूरे साक्षात्कार', 'रंगदर्शन', 'बदलते परिप्रेक्ष्य' तथा 'जनांतिक' में कविता-कहानी-नाटक-उपन्यास-आलोचना सभी पर समग्रता से विचार किया है। उन्होंने सर्जनात्मक-राजनीति का उपयोग मुक्तिबोध में पाकर जहाँ प्रसन्नता जाहिर की है, वहाँ अज्ञेय के सृजन की आलोचना कड़े शब्दों में की। कहना न होगा कि समकालीन सर्जना के पूरे दौर को नेमिचंद्र जैन ने अपने चिंतन से समझा-समझाया है।

इधर हिंदी में **शैली-वैज्ञानिक आलोचना** का तेज़ी से विकास-प्रसार हुआ। हालाँकि यह आलोचना मूल्य-दृष्टि के अभाव में समुचित रूप से समाहत नहीं है। क्योंकि मूल्यांकन आलोचना का अनिवार्य कर्तव्य-कर्म है और इसके अभाव में वह ठौर-ठिकाने की नहीं रह जाती। वस्तुतः शैली विज्ञान भाषा की ही एक शाखा है जिसके माध्यम से साहित्य की सृजनात्मक कृतियों का भाषावादी वस्तुनिष्ट अध्ययन किया जाता है। ठीक से देखा जाए तो शैलीविज्ञान की अधिकांश प्रविधियों का समावेश

भारतीय काव्यशास्त्र में शुरू से ही रहा है। पर अपनी विशिष्ट भाषा वैज्ञानिकता के कारण शैली-विज्ञान इधर एक आलोचना की वैज्ञानिक प्रणाली के रूप में प्रतिष्ठित हो गया है। कथा-साहित्य के लिए इसके सिद्धांत अपर्याप्त पड़ जाते हैं। फिर काव्य-भाषा के विश्लेषण की प्रविधि-प्रक्रिया इतनी पेचीदा है कि हर कोई इसे नहीं सराह पाता। ऐसी स्थिति में यह थोड़े से विद्वानों की बौद्धिक जुगाली रह जाती है। हिंदी में शैली-विज्ञान पर सबसे अच्छा कार्य डॉ० रवींद्र नाथ श्रीवास्तव ने किया है। उनकी दो पुस्तकें काफ़ी चर्चित हैं—'शैली-विज्ञान की भूमिका' तथा 'संरचनात्मक शैली-विज्ञान।' शैली-विज्ञान को पं० विद्यानिवास मिश्र ने 'रीति-विज्ञान' नाम दिया है। उनकी पुस्तक का ही नाम है—रीति-विज्ञान। डॉ० नगेंद्र ने 'शैली-विज्ञान', सुरेश कुमार ने 'शैली-विज्ञान', डॉ० सत्यदेव चौधरी ने 'शैलीविज्ञान और भारतीय काव्यशास्त्र' नामक पुस्तकों में इस विषय पर अच्छा प्रकाश डाला है।

समसामयिक हिंदी आलोचना का एक महत्त्वपूर्ण पहलू नाटक की समीक्षा के विकास से जुड़ा है। छठे दशक के अंत में संगीत-नाटक अकादमी के अंतर्गत 'नेशनल स्कूल ऑफ ड्रामा एंड एशियन थियेटर' की स्थापना से रंगकर्मियों को नया क्षेत्र मिला। इब्राहिम अल्काजी के आने से हिंदी रंगमंच को नया जीवन मिला और इन्हीं के प्रयासों से हिंदी नाटकों में एक नया रंगमंच-युग आरंभ हुआ। रंगमंच की तकनीकों का विकास और अच्छे नाटककारों का उदय, नए अभिनेताओं का रंगमंच की ओर आकृष्ट होना, जैसे महत्त्वपूर्ण कार्य चल पड़े। इसी स्थिति के बीच से मोहन राकेश जैसे कुशल रंगकर्मी और नाटककार का उदय हुआ।

सन् 1950 ई० के बाद नाट्य-रचना की दृष्टि में मूलभूत परिवर्तन आ गया। अब इस बात की प्रबल प्रवृत्ति का जन्म हुआ कि नाटक रंगमंच के लिए ही लिखे जाने चाहिए एवं रंगमंच की प्रयोगधर्मी कसौटी से ही उन्हें परखा जाना चाहिए। परिणामतः अब नाट्य-रचना लोकनाट्य परंपराओं, स्कूल-कॉलेजों के शौकिया मंचों से निकलकर हिंदी के नए रंगमंच पर आ गई। आज के समर्थ नाट्य समीक्षक नेमिचंद्र जैन ने 'कृति' में 'पार्श्व और प्रेक्ष्य' शीर्षक स्तंभ के अंतर्गत नाट्य-समीक्षाएँ करना शुरू किया था और बाद में 'नटरंग' जैसी नाट्य केंद्रित समीक्षा का आरंभ ही कर दिया। वे 'दिनमान' में अब नियमित नाट्य समीक्षा करते हैं। अतः हिंदी नाट्य समीक्षा को विकसित करने वालों में नेमिचंद्र जैन का नाम अग्रणी है। उन्होंने 'रंगदर्शन' नामक पुस्तक में नाट्य समीक्षा का सैद्धांतिक व्यावहारिक रूप स्पष्ट किया। साथ ही 'हिंदी नाटक और रंगमंच' पुस्तक का संपादन दायित्व भी उठाया है। इधर 'जनांतिक' में प्रकाशित उनके कुछ नाट्य लेख समसामयिक रंग-चतना के सार्थक संकेत देते हैं।

डॉ० लाल ने 'पारसी थियेटर' तथा 'नाटक और रंगमंच' नामक पुस्तकों से रंगालोचन की नई भूमि तैयार कर दी। दिन-प्रतिदिन खेले जाने वाले नाटकों की नाट्य-समीक्षाएँ नियमित ढंग से निकलने लगीं और हिंदी की सभी प्रतिष्ठित लघु पत्र-पत्रिकाओं ने नाट्य-समीक्षा देना अपना गौरव समझा। जाहिर है कि अब हिंदी समीक्षा ने नाटक के 'दृश्य काव्य' पक्ष को कलात्मकता से विकसित किया है और नाटक से रंगमंच का सही रिश्ता कायम हो गया है। भारतीय तथा विदेशी भाषाओं के सैकड़ों अनूदित नाटक हिंदी रंगमंच पर सफलता से प्रस्तुत किए जाने लगे हैं। इस प्रकार नाट्य समीक्षा का हिंदी में स्वतंत्र विकास हो रहा है।

समग्रत: में, समसामयिक हिंदी-आलोचना का विकास तेज़ी से हो रहा है। नए और पुराने आलोचक इस क्षेत्र में बड़े उत्साह से सक्रिय दृष्टिगत हो रहे हैं। हालाँकि बहुत-से नए संमीक्षक समसामयिक सृजन पर ही लेखनी उठाते हैं। अपने साहित्य की समृद्ध परंपरा का ज्ञान उनमें नहीं खनकता। इसलिए अपने पुराने साहित्य के पुनर्मूल्यांकन से वे बचते-से दृष्टिगत होते हैं। परंपरा की गहरी और सार्थक पकड़ की कमी ने इधर की समीक्षा को धक्का दिया है। फिर भी स्थिति बहुत निराशाजनक नहीं है। कुल मिलाकर देखा जाए तो आज हिंदी-आलोचना सैद्धांतिक और व्यावहारिक दृष्टि से काफ़ी समृद्ध है तथा नए चिंतन को आत्मसात करते हुए हिंदी-समीक्षा प्रगति पथ पर निरंतर अग्रसर है।

●●●